लाला लाजपतराय कृत

आर्यसमाज

aryasamajjamnagar.org

॥ ओ३म् ॥

आर्यसमाज

(भारत के नवजागरण आन्दोलन में प्रमुख प्रगतिशील धार्मिक संस्था का तथ्यपूर्ण विवेचन)

मूल लेखक

लाला लाजपतराय

aryasamajjammu.org

अनुवादक तथा सम्पादक

प्रो० (डॉ०) भवानीलाल भारतीय

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

ISBN : 978-81-7077-084-8

© सर्वाधिकार प्रकाशकाधीन

aryasamajjamnagar.org

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क दिल्ली-110006
दूरभाष: 23977216, 65360255
E-mail : ajayarya16@gmail.com
Website: www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 87वाँ वर्ष (1925-2012)

संस्करण : 2012

मूल्य : ₹ 100.00

मुद्रक : गोयल एंटरप्राईज़िस, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में

लालाजी ने 'दि आर्यसमाज' नामक यह अंग्रेजी ग्रन्थ उस समय लिखा था जब इस भाषा में आर्यसमाज जैसी युगान्तरकारी धार्मिक संस्था का परिचय देनेवाली एक भी पुस्तक उपलब्ध नहीं थी। यद्यपि महर्षि दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के दो अंग्रेजी अनुवाद (मास्टर दुर्गाप्रसाद तथा डॉ० चिरंजीव भारद्वाज द्वारा अनूदित) तब तक प्रकाशित हो चुके थे, किन्तु आर्यसमाज की गतिविधियों, प्रवृत्तियों तथा विचारधारा का गम्भीर विवेचन करनेवाली कोई पुस्तक उस समय उपलब्ध नहीं थी। स्वयं लाला लाजपतराय तो अपनी युवावस्था से ही आर्यसमाज से जुड़े रहे तथा उन्होंने उन्मुक्त भाव से यह स्वीकार किया था कि देश की जो यत्किञ्चित् सेवा वे कर पाए हैं, उसका श्रेय आर्यसमाज एवं उसके संस्थापक ऋषि दयानन्द को ही है जिनसे प्रेरणा पाकर वे समाज तथा स्वराष्ट्र के लिए कुछ कर सके।

आर्यसमाज की विचारधारा को हिन्दी से भिन्न भाषाओं में प्रस्तुत किये जाने के गम्भीर प्रयास कम हुए हैं। अंग्रेजी में लिखनेवाले आर्यसमाजी लेखकों की संख्या भी बहुत अधिक नहीं है। लालाजी के समकालीन और मित्र पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने वैदिक विचारों को प्रभावशाली ढंग से अंग्रेजी में प्रस्तुत किया था। यदि उन्हें कुछ अधिक आयु मिलती तो सम्भवतः वे इस ओर कुछ अधिक कर पाते। स्वामी श्रद्धानन्द तथा आचार्य रामदेव का अंग्रेजी-लेखन भी सामयिक तथा प्रभावशाली था। पं० चमूपति, पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा स्वामी सत्यप्रकाश ने भी ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज के दार्शनिक पक्ष को अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया है किन्तु, इसे पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। आर्यसमाज के विषय में ईसाई प्रचारकों ने भी बहुत-कुछ लिखा है। पादरी जे० एन० फर्कुहर ने अपनी पुस्तक Modern Religious Movements in India में ऋषि दयानन्द तथा आर्यसमाज पर विस्तार से लिखा है। मिश्नरी की दृष्टि से लिखा गया यह विवरण यत्र-तत्र अतिरंजना एवं पूर्वाग्रह का शिकार हो गया है, तथापि इससे सुधार-आन्दोलनों के विद्यार्थी को बहुत-कुछ तथ्यात्मक जानकारी मिलती है। भारत-भक्त सी०एफ० एण्ड्रूज़ ने अपनी पुस्तक Indian Renaissance में आर्यसमाज का जो परिचय दिया है वह अधिक तटस्थता से प्रस्तुत किया गया है, यद्यपि यह पुस्तक भी

aryasamajjamnagar.org

ईसाई प्रचारकों के लिए एक पाठ्यपुस्तक की दृष्टि से ही लिखी गई थी। एण्ड्रूज़ ने तो आगे चलकर पादरी का बाना छोड़ दिया और सच्चे भारत-भक्त बन गए।

अंग्रेजी में आर्यसमाज का सांगोपांग विवेचन प्रस्तुत करने का विचार लेकर ही लालाजी ने इस पुस्तक की रचना की थी। यद्यपि इसका प्रथम प्रकाशन सन् १९१५ में हुआ था, किन्तु इसकी विवेचन-शैली तथा तथ्यात्मकता वैसी ही ताज़गी-भरी है। यह अवश्य है कि नव्वे वर्ष पूर्व दिये गए अनेक आँकड़े और विवरण आज पुराने पड़ गए हैं। तब से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी के इन वर्षों तक की अवधि में आर्यसमाज-आन्दोलन ने जो उतार-चढ़ाव देखे हैं, उसके लिए तो अन्य विवेचन की अपेक्षा रहेगी ही, तथापि लालाजी का यह ग्रन्थ भी कालजयी (Classical) साहित्य की श्रेणी में आ गया है। १९६७ में स्व० प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने इसका सम्पादन कर इसे परिष्कृत किया था। हमारा यह अनुवाद मुख्यतः प्रिंसिपल शर्मा के संस्करण पर ही आधारित है। लाला लाजपतराय की इस कृति में उनकी आत्मा की आवाज़ सुनाई देती है, क्योंकि उनके ही शब्दों में यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जाय कि 'आर्यसमाज के निर्माण में मैंने भी अपनी स्वल्प भूमिका निभाई है' तो मैं इस पुस्तक के अध्ययन की संस्तुति उन लोगों से करूँगा जो संक्षेप में आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक से परिचित होना चाहते हैं तथा उसकी विगतकालीन प्रवृत्तियों का विहगावलोकन करना चाहते हैं। आशा है नर-केसरी लालाजी का यह अमर ग्रन्थ पाठकों में स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के प्रति प्रेम जगाने में समर्थ होगा।

aryasamajmuzaffarnagar.org

दीपावली २०५७ वि०

'रत्नाकर', नन्दनवन, जोधपुर

भवानीलाल भारतीय

विषय-क्रम

१.	इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में	३
२.	ग्रन्थकार—लाला लाजपतराय (अनुवादक की ओर से)	७-१७
३.	मूल पुस्तक की भूमिका (सिडनी वेब)	१८-२४
४.	प्राक्कथन (लेखक की ओर से)	२५-३१
५.	अध्याय-१. संस्थापक का आरम्भिक जीवन	३२-५७
६.	अध्याय-२. सत्य के लिए संघर्ष	५८-७५
७.	अध्याय-३. आर्यसमाज की स्थापना तथा स्वामी दयानन्द का निधन	७६-८४
८.	अध्याय-४. स्वामी दयानन्द के उपदेश	८५-१०३
९.	अध्याय-५. दयानन्द कृत वेदभाष्य	१०४-१०९
१०.	अध्याय-६. धार्मिक शिक्षाएँ	११०-१३५
११.	अध्याय-७. धार्मिक आदर्श और लक्ष्य	१३६-१५२
१२.	अध्याय-८. सामाजिक आदर्श तथा लक्ष्य	१५३-१६०
१३.	अध्याय-९. आर्यसमाज का शुद्धि-कार्य	१६१-१७०
१४.	अध्याय-१०. आर्यसमाज के लोकहितकारी कार्य	१७१-१७७
१५.	अध्याय-११. आर्यसमाज का शिक्षा-कार्य	१७८-१९८
१६.	अध्याय-१२. आर्यसमाज का संगठन	१९९-२०२
१७.	अध्याय-१३. आर्यसमाज और राजनीति	२०३-२१९
१८.	अध्याय-१४. उपसंहार : निष्कर्ष	२२०-२३२

aryasamajjamnagar.org

नये प्रकाशन

1 पण्डित भगवद्दत्तजी रिसर्च स्कॉलर

लेखक : प्रा राजेन्द्र 'जिज्ञासु'

प्रस्तुत पुस्तक में पण्डितजी के जीवन की अनेक महत्वपूर्ण घटनाओं व प्रेरक प्रसंगों को पढ़कर पाठक आनन्दित हो जाएंगे। हुतात्मा भगतसिंह के लिए पण्डित जी ने क्यों झूठ बोला? अंग्रेज सरकार ने जब पण्डितजी की बोली लगाई तो पण्डितजी ने कैसे प्रलोभन में न आये? विश्व इतिहास सम्मेलन में पण्डितजी ने कैसे धूम मचाई? ये हृदयस्पर्शी प्रसंग पढ़कर आप झूम उठेंगे।

2 महर्षि दयानन्द के शब्दों में आर्यसमाज के दस नियमों की व्याख्या, लेखक : ब्र.नन्दकिशोर

महर्षि दयानन्द सरस्वती रचित आर्यसमाज के दस नियमों पर महर्षि के शब्दों में ही व्याख्यान श्री ब्र. नन्दकिशोर जी द्वारा संकलित किया गया है। ऐसा अपूर्व व्याख्यान अब तक किसी भी विद्वान् द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया। कई स्थलों की व्याख्या पढ़कर निश्चित ही पाठक मुग्ध हो जाएगें, प्रत्येक अक्षर में सर्वत्र ऋषि ही प्रतिबिम्बित हो रहे हैं।

aryasamajjamnagar.org

3 वेदों की अध्यात्मधारा, लेखक : प्रो. भवानीलाल भारतीय

वैदिक अध्यात्म शास्त्र की एक झांकी इस ग्रन्थ में पाठकों को मिलेगी। वैदिक अध्यात्मधारा में स्नान कर जिज्ञासु जन परम तत्व 'परमात्मा' की एक झलक देखने में समर्थ होंगे, इसी उद्देश्य से यह ग्रन्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत किया जा रहा है।

4 वैदिक गणपति, लेखक : मदन रहेजा

बहुत कम लोग ही गणपति के सच्चे स्वरूप को जानते हैं। विद्वान् लेखक श्री मदन रहेजा ने इस पुस्तक के माध्यम से 'गणपति का वास्तविक स्वरूप', 'गणपति की पूजा पद्धति' तथा उनसे सम्बन्धित अनेक रहस्यों का वैदिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सरल भाषा व सुन्दर शैली में वर्णन किया है।

ग्रन्थकार—लाला लाजपतराय

(अनुवादक की ओर से)

सुप्रसिद्ध देशभक्त तथा भारत की आज़ादी के आन्दोलन के प्रखर नेता लाला लाजपतराय का नाम देशवासियों में स्फूर्ति तथा प्रेरणा का संचार करता है। उन्होंने वैश्य-परिवार में जन्म लेकर क्षत्रियोचित गुण पाए थे। स्वदेश, स्वधर्म तथा स्वसंस्कृति के लिए उनमें जो प्रबल प्रेम तथा आदर था, उसी के कारण वे स्वयं को राष्ट्र के लिए समर्पित कर अपना जीवन दे सके। भारत को स्वाधीनता दिलानेवाले महापुरुषों में उनका त्याग, बलिदान तथा देशभक्ति अद्वितीय और अनुपम थी। उनके बहुविध क्रियाकलाप में साहित्य-लेखन एक महत्त्वपूर्ण आयाम है। वे उर्दू तथा अंग्रेजी के समर्थ रचनाकार थे।

लाला जी का जन्म २८ जनवरी १८६५ को अपने ननिहाल के गाँव ढुंढिके (ज़िला फरीदकोट, पंजाब) में हुआ था। उनके पिता लाला राधाकृष्ण लुधियाना जिले के जगरांव कस्बे के निवासी अग्रवाल वैश्य थे। लाला राधाकृष्ण व्यवसाय से अध्यापक थे। वे उर्दू-फारसी के अच्छे जानकार थे तथा इस्लाम के मन्तव्यों में उनकी गहरी आस्था थी। उनकी यह निष्ठा इतनी अधिक बढ़ गई थी कि वे मुसलमानी धार्मिक अनुष्ठानों का भी नियमित रूप से पालन करते थे। नमाज़ पढ़ना और रमज़ान के महीने में रोज़ा रखना उनकी जीवनचर्या का अभिन्न अंग था। तथापि वे सच्चे धर्म-जिज्ञासु थे। कालान्तर में वे अद्वैतवादी विचारधारा से अत्यन्त प्रभावित रहे और अपने पुत्र लाला लाजपतराय के आर्यसमाजी बन जाने पर उन्होंने वेद के दार्शनिक सिद्धांत त्रैतवाद (ईश्वर, जीव तथा प्रकृति का अनादित्व) को समझने में भी रुचि दिखाई। लाला जी की इस जिज्ञासु प्रवृत्ति का प्रभाव उनके पुत्र पर भी पड़ा था।

aryasamajjamnagar.org

लाजपतराय की शिक्षा पाँचवें वर्ष में आरम्भ हुई। १८८० में उन्होंने कलकत्ता तथा पंजाब विश्वविद्यालय से एण्ट्रेंस की परीक्षा एक ही वर्ष में पास की और आगे पढ़ने के लिए लाहौर आए। यहाँ वे गवर्नमेंट कॉलेज में प्रविष्ट हुए और १८८२ में एफ०ए० की परीक्षा तथा मुख्तारी (कानून) की परीक्षा साथ-साथ पास की। १८८२ में ही वे लाहौर रहते हुए आर्यसमाज के सम्पर्क में आए और उसके सदस्य बन गए। डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के प्रथम

प्राचार्य लाला (आगे चलकर महात्मा के नाम से प्रसिद्ध) हंसराज तथा प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० गुरुदत्त उनके सहपाठी थे, जिनके साथ उन्हें आगे चलकर आर्यसमाज का कार्य करना पड़ा। इनके द्वारा ही उन्हें महर्षि दयानन्द के विचारों का परिचय मिला था।

१८८२ के अन्तिम दिनों में वे पहली बार आर्यसमाज लाहौर के वार्षिक उत्सव में सम्मिलित हुए। इस मार्मिक प्रसंग का वर्णन स्वयं लाला जी ने अपनी आत्म-कथा में इस प्रकार किया है—"उस दिन स्वर्गीय लाला मदनसिंह बी०ए० (डी०ए०वी० कॉलेज के संस्थापकों में प्रमुख) का व्याख्यान था। उनको मुझसे बहुत प्रेम था। उन्होंने व्याख्यान देने से पहले समाज-मंदिर की छत पर मुझे अपना लिखा व्याख्यान सुनाया और मेरी सम्मति पूछी। मैंने उस व्याख्यान को बहुत पसन्द किया। जब मैं छत से नीचे उतरा तो लाला साईंदास जी (आर्यसमाज लाहौर के प्रथम मंत्री) ने मुझे पकड़ लिया और अलग ले जाकर कहने लगे कि हमने बहुत समय तक इन्तज़ार किया है कि तुम हमारे साथ मिल जाओ। मैं उस घड़ी को भूल नहीं सकता। वह मेरे से बातें करते थे, मेरे मुँह की ओर देखते थे तथा मेरी पीठ पर प्यार से हाथ फेरते थे। मैंने उनको जवाब दिया कि मैं तो उनके साथ हूँ। मेरा इतना कहना था कि उन्होंने फौरन समाज के सभासद बनने का प्रार्थनापत्र मँगवाया और मेरे सामने रख दिया। मैं दो-चार मिनट तक सोचता रहा, परन्तु उन्होंने कहा कि मैं तुम्हारे हस्ताक्षर लिए बिना तुम्हें जाने न दूँगा। मैंने फौरन हस्ताक्षर कर दिये। उस समय उनके चेहरे पर प्रसन्नता की जो झलक थी उसका वर्णन मैं नहीं कर सकता। ऐसा मालूम होता था कि उनको हिन्दुस्तान की बादशाहत मिल गई है। उन्होंने एकदम पं० गुरुदत्त को बुलाया और सारा हाल सुनाकर मुझे उनके हवाले कर दिया। वे भी बहुत खुश हुए। लाला मदनसिंह के व्याख्यान की समाप्ति पर लाला साईंदास ने मुझे और पं० गुरुदत्त को प्लेटफॉर्म पर खड़ा किया। हम दोनों से व्याख्यान दिलवाए। लोग बहुत खुश हुए और खूब तालियाँ बजाईं। इन तालियों ने मेरे दिल पर जादू का-सा असर किया। मैं प्रसन्नता और सफलता की मस्ती में झूमता हुआ अपने घर को लौटा[१]।"

aryasamajjammnagar.org

१. लाला लाजपतराय की आत्म-कथानवयुग-ग्रन्थमाला लाहौर से प्रकाशित, १९३२।

यह है लाला जी के आर्यसमाज में प्रवेश की कथा। लाला साईंदास आर्यसमाज के प्रति इतने अधिक समर्पित थे कि वे होनहार नवयुवकों को इस संस्था में प्रविष्ट करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। स्वामी श्रद्धानन्द (तत्कालीन लाला मुन्शीराम) को आर्यसमाज में लाने का श्रेय भी उन्हें ही है। ३० अक्टूबर १८८३ को जब अजमेर में ऋषि दयानन्द का देहान्त हो गया तो ९ नवम्बर १८८३ को लाहौर आर्यसमाज की ओर से एक शोकसभा का आयोजन किया गया। इस सभा के अन्त में यह निश्चय हुआ कि स्वामी जी की स्मृति में एक ऐसे महाविद्यालय की स्थापना की जाए, जिसमें वैदिक साहित्य, संस्कृत तथा हिन्दी की उच्च शिक्षा के साथ-साथ अंग्रेजी और पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान में भी छात्रों को दक्षता प्राप्त कराई जाए। १८८६ में जब इस शिक्षण-संस्था की स्थापना हुई तो आर्यसमाज के अन्य नेताओं के साथ लाला लाजपतराय का भी इसके संचालन में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा तथा वे कालान्तर में डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के महान् स्तम्भ बने।

वकालत के क्षेत्र में

aryasamajjamnagar.org

लाला लाजपतराय ने एक मुख्तार (छोटा वकील) के रूप में अपने मूल निवास-स्थान जगराँव में ही वकालत आरम्भ कर दी थी, किंतु यह कस्बा बहुत छोटा था, जहाँ उनके कार्य के बढ़ने की अधिक सम्भावना नहीं थी, अतः वे रोहतक चले गए। उन दिनों पंजाब प्रदेश में वर्तमान हरियाणा, हिमाचल तथा आज के पाकिस्तानी पंजाब का भी समावेश था। रोहतक रहते हुए ही उन्होंने १८८५ में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। १८८६ में वे हिसार आ गए। एक सफल वकील के रूप में १८९२ तक वे यहीं रहे और इसी वर्ष में वे लाहौर आए। तब से लाहौर ही उनकी सार्वजनिक गतिविधियों का केन्द्र बन गया। लाला जी ने यों तो समाज-सेवा का कार्य हिसार में रहते हुए ही आरम्भ कर दिया था, जहाँ उन्होंने लाला चंदूलाल, पं० लखपतराय और लाला चूड़ामणि जैसे आर्यसमाजी कार्यकर्ताओं के साथ सामाजिक हित की योजनाओं के क्रियान्वयन में योगदान किया, किन्तु लाहौर आने पर वे आर्यसमाज के अतिरिक्त राजनैतिक आन्दोलन के साथ भी जुड़ गए। १८८८ में वे प्रथम बार कांग्रेस के इलाहाबाद अधिवेशन में सम्मिलित हुए, जिसकी अध्यक्षता मि० जार्ज यूल ने की थी। १९०६ में वे पं० गोपाल कृष्ण गोखले के साथ कांग्रेस के एक

शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में इंग्लैण्ड गए। यहाँ से वे अमेरिका चले गए। उन्होंने एकाधिक बार विदेश-यात्राएँ कीं और वहाँ रहकर पश्चिमी देशों के समक्ष भारत की राजनैतिक परिस्थिति की वास्तविकता से वहाँ के लोगों को परिचित कराया तथा उन्हें स्वाधीनता-आन्दोलन की जानकारी दी।

लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों— लोकमान्य तिलक तथा विपिनचन्द्र पाल के साथ मिलकर कांग्रेस में उग्र विचारों का प्रवेश कराया। १८८५ में अपनी स्थापना से लेकर लगभग बीस वर्षों तक कांग्रेस ने एक राजभक्त संस्था का चरित्र बनाए रखा था। इसके नेतागण वर्ष में एक बार बड़े दिन की छुट्टियों में देश के किसी नगर में एकत्रित होते और विनम्रतापूर्वक शासन के सूत्रधारों (अंग्रेजों) से सरकारी उच्च सेवाओं में भारतीयों को अधिकाधिक संख्या में प्रविष्ट करने की याचना करते। वे कभी-कभी औपनिवेशिक स्वराज्य की बात भी करते थे। उन दिनों कांग्रेस के अधिवेशनों की समाप्ति 'गॉड सेव दि किंग' के गान के साथ होती थी। १९०५ में जब बनारस में सम्पन्न हुए कांग्रेस के अधिवेशन में ब्रिटिश युवराज के भारत-आगमन पर उनका स्वागत करने का प्रस्ताव आया तो लाला जी ने उसका डटकर विरोध किया। यों समझना चाहिए कि उस भाषण से ही कांग्रेस में गरम दल की नींव पड़ गई। कांग्रेस के मञ्च से यह अपनी किस्म का पहला तेजस्वी भाषण हुआ जिसमें देश की अस्मिता प्रकट हुई थी। इसे सुनकर अध्यक्ष पं० गोपाल कृष्ण गोखले के दोनों ओर बैठे कांग्रेस के वयोवृद्ध नेता और विशेषत: मुम्बई के प्रतिनिधि तो काँपने लगे। डर से उनके चेहरे पीले पड़ गए। १९०७ में जब पंजाब के किसानों में अपने अधिकारों को लेकर चेतना उत्पन्न हुई तो सरकार का क्रोध लाला जी तथा सरदार अजीतसिंह (शहीद भगतसिंह के चाचा) पर उमड़ पड़ा और इन दोनों देशभक्त नेताओं को देश से निर्वासित कर उन्हें पड़ोसी देश बर्मा के मांडले नगर में नज़रबंद कर दिया। देशवासियों द्वारा सरकार के इस दमनपूर्ण कार्य का प्रबल विरोध किया गया और विवश होकर सरकार को अपना यह आदेश वापस लेना पड़ा। लाला जी पुन: स्वदेश आए और देशवासियों ने उनका भावभीना स्वागत किया। लाला जी के राजनैतिक जीवन की कहानी अत्यन्त रोमाञ्चक तो है ही, भारतवासियों को स्वदेश-हित के लिए बलिदान तथा महान् त्याग करने की प्रेरणा भी देती है।

aryasamajjamnagar.org

जनसेवा के कार्य

लाला जी केवल राजनैतिक नेता और कार्यकर्ता ही नहीं थे। उन्होंने

जनसेवा का भी सच्चा पाठ पढ़ा था। जब १८९६ तथा १८९९ (इसे राजस्थान में छप्पन का अकाल कहते हैं, क्योंकि यह विक्रम का १९५६वाँ वर्ष था) में उत्तर भारत में भयंकर दुष्काल पड़ा तो लाला जी ने अपने साथी लाला हंसराज के सहयोग से अकाल-पीड़ित लोगों को सहायता पहुँचाई। जिन अनाथ बच्चों को ईसाई पादरी अपनाने के लिए तैयार थे और अन्ततः जो उनका धर्म-परिवर्तन करने के इरादे रखते थे, उन्हें इन मिश्नरियों के चंगुल से बचाकर फिरोज़पुर तथा आगरा के आर्य अनाथालयों में भेजा। १९०५ में कांगड़ा (हिमाचल प्रदेश) में भयंकर भूकम्प आया। उस समय भी लाला जी सेवा-कार्य में जुट गए और डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के छात्रों के साथ भूकम्प-पीड़ितों को राहत प्रदान की। १९०७-०८ में उड़ीसा, मध्यप्रदेश तथा संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तरप्रदेश) में भी भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा और लाला जी को पीड़ितों की सहायता के लिए आगे आना पड़ा।

पुनः राजनैतिक आन्दोलन में

१९०७ के सूरत के प्रसिद्ध कांग्रेस-अधिवेशन में लाला लाजपतराय ने अपने सहयोगियों के द्वारा राजनीति में गरम दल की विचारधारा का सूत्रपात कर दिया था और जनता को यह विश्वास दिलाने में सफल हो गए थे कि केवल प्रस्ताव पास करने और गिड़गिड़ाने से स्वतन्त्रता मिलनेवाली नहीं है। हम यह देख चुके हैं कि जन-भावना को समझकर अंग्रेजों को उनके देश-निर्वासन को रद्द करना पड़ा था। वे स्वदेश आए और पुनः स्वाधीनता के संघर्ष में जुट गए। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४—१९१८) के दौरान वे एक प्रतिनिधि-मण्डल के सदस्य के रूप में पुनः इंग्लैण्ड गए और देश की आजादी के लिए प्रबल जनमत तैयार किया। उसके पश्चात् वे अमेरिका चले गए और स्वाधीनता-प्रेमी अमेरिकावासियों के समक्ष भारत की स्वाधीनता का पक्ष प्रबलता से प्रस्तुत किया। यहाँ उन्होंने इण्डियन होमरूल लीग की स्थापना की तथा कुछ ग्रन्थ भी लिखे। २० फरवरी १९२० को जब वे स्वदेश लौटे तो अमृतसर में जालियाँवाला बाग काण्ड हो चुका था और सारा राष्ट्र असन्तोष तथा क्षोभ की ज्वाला में जल रहा था। इसी बीच महात्मा गाँधी ने असहयोग-आन्दोलन आरम्भ किया तो लाला जी पूर्ण तत्परता के साथ संघर्ष में जुट गए। १९२० में ही वे कलकत्ता में आयोजित कांग्रेस के विशेष अधिवेशन के अध्यक्ष बने। उन दिनों सरकारी

शिक्षण-संस्थाओं के बहिष्कार, शराब के विरुद्ध आन्दोलन, चरखा और खादी का प्रचार जैसे कार्यक्रमों को कांग्रेस ने अपने हाथ में ले रखा था, जिसके कारण जनता में एक नई चेतना का प्रादुर्भाव हो चला था। इसी समय लाला जी को कारावास का दण्ड मिला, किन्तु खराब स्वास्थ्य के कारण वे जल्द ही रिहा कर दिये गए।

१९२४ में लाला जी कांग्रेस के अन्तर्गत ही बनी स्वराज्य पार्टी में शामिल हो गए और केन्द्रीय धारा सभा (सैण्ट्रल असेम्बली) के सदस्य चुन लिये गए। जब उनका पं० मोतीलाल नेहरू से कतिपय राजनैतिक प्रश्नों पर मतभेद हो गया तो उन्होंने नेशनलिस्ट पार्टी का यठन किया और पुनः असेम्बली में पहुँच गए। अन्य विचारशील नेताओं की भाँति लाला जी भी कांग्रेस में दिन-प्रतिदिन बढ़ने वाली मुस्लिम तुष्टीकरण की नीति से अप्रसन्नता अनुभव करते थे, इसलिये स्वामी श्रद्धानन्द तथा पं० मदनमोहन मालवीय के सहयोग से उन्होंने हिन्दू महासभा के कार्य को आगे बढ़ाया। १९२५ में उन्हें हिंदू महासभा के कलकत्ता अधिवेशन का अध्यक्ष भी बनाया गया। ज्ञातव्य है कि उन दिनों हिंदू महासभा का कोई स्पष्ट राजनैतिक कार्यक्रम नहीं था और वह मुख्य रूप से हिन्दू संगठन, अछूतोद्धार, शुद्धि जैसे सामाजिक कार्यक्रमों में ही दिलचस्पी लेती थी। इसी कारण कांग्रेस से उसका थोड़ा भी विरोध नहीं था। यद्यपि संकीर्ण दृष्टि के अनेक राजनैतिक कर्मी लाला जी के हिन्दू महासभा में रुचि लेने से नाराज भी हुए, किन्तु उन्होंने इसकी कभी परवाह नहीं की और वे अपने कर्तव्यपालन में ही लगे रहे।

aryasamajjamnagar.org

जीवन-संध्या

१९२८ में जब अंग्रेजों द्वारा नियुक्त साइमन कमीशन भारत आया तो देश के नेताओं ने उसका बहिष्कार करने का निर्णय लिया। ३० अक्टूबर १९२८ को कमीशन लाहौर पहुँचा तो जनता के प्रबल प्रतिरोध को देखते हुए सरकार ने धारा १४४ लगा दी। लाला जी के नेतृत्व में नगर के हजारों लोग कमीशन के सदस्यों को काले झण्डे दिखाने के लिए रेलवे स्टेशन पहुँचे और 'साइमन वापस जाओ' के नारों से आकश गुँजा दिया। इस पर पुलिस को लाठी-चार्ज का आदेश मिला। उसी समय अंग्रेज सार्जेंट साण्डर्स ने लाला जी की छाती पर लाठी का प्रहार किया जिससे उन्हें सख्त चोट पहुँची। उसी सायं लाहौर की

एक विशाल जनसभा में एकत्रित जनता को सम्बोधित करते हुए नर-केसरी लाला जी ने गर्जना करते हुए कहा—**मेरे शरीर पर पड़ी लाठी की प्रत्येक चोट अंग्रेजी साम्राज्य के कफ़न की कील का काम करेगी।** इस दारुण प्रहार से आहत लाला जी ने अठारह दिन तक विषम ज्वर की पीड़ा भोगकर १७ नवम्बर १९२८ को परलोक के लिए प्रस्थान किया।

बहुआयामी व्यक्तित्व

लाला लाजपतराय का व्यक्तित्व बहु-आयामी था। वे एक साथ ही उत्कृष्ट वक्ता, श्रेष्ठ लेखक, सार्वजनिक कार्यकर्ता, सेवाभावी समाज-सेवक, राजनैतिक नेता, शिक्षा-शास्त्री, चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक थे। आर्यसमाज से ही उन्होंने देश-सेवा का पाठ पढ़ा था और स्वामी दयानन्द से उन्होंने समर्पण तथा सेवा का आदर्श ग्रहण किया था। उनके शब्दों में "**आर्यसमाज मेरी माता तथा स्वामी दयानन्द मेरे धर्म-पिता हैं। मैंने देशसेवा का पाठ आर्यसमाज से ही पढ़ा है।**" लालाजी के बलिदान के पश्चात् देशबन्धु चित्तरञ्जनदास की पत्नी श्रीमती बसन्ती देवी ने एक वक्तव्य प्रसारित कर कहा था कि क्या देश में कोई ऐसा क्रांतिकारी युवक नहीं है जो भारत-केसरी लाला जी की मौत का बदला ले सके? जब यह बात सरदार भगतसिंह तक पहुँची तो उसने लालाजी पर लाठियों का प्रहार करनेवाले साण्डर्स को मारकर उस अमर देशभक्त की मौत का बदला ले लिया। लाला लाजपतराय देश के स्वाधीनता-संग्राम के महान् सेनानी थे। देशवासी उनके त्याग और बलिदान को सदा स्मरण रखेंगे।

aryasamajjammagar.org

लाला लाजपतराय—लेखक और साहित्यकार के रूप में

लाला जी का अध्ययन विशाल था। धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर उनका स्पष्ट चिन्तन था। उनका लेखन विशद, विविध विषयों से सम्पृक्त व बहु-आयामी था, जिसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

जीवनी लेखन—स्वदेशी और अन्यदेशीय महापुरुषों के जीवनचरित-लेखन का उनका कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इटली के विख्यात देशभक्त मैज़िनी और गैरीबाल्डी का जीवनी-लेखन तो विदेशी शासकों की दृष्टि में इतना आपत्तिजनक समझा गया कि इन दोनों पुस्तकों की ज़ब्ती के आदेश प्रसारित किये गए। उनके द्वारा निम्न जीवनचरित लिखे गए—

(१) लाइफ एण्ड वर्क ऑफ पं० गुरुदत्त विद्यार्थी, एम० ए०

इस ग्रन्थ का प्रकाशन १८९१ में पं० गुरुदत्त के निधन के एक वर्ष

पश्चात् हुआ। यह लाला जी की प्रथम कृति है जिसे उन्होंने अपने मित्र तथा सहपाठी पं० गुरुदत्त के संस्मरणों के आधार पर लिखा था। उस समय लाला जी हिसार में वकालत करते थे। विरजानन्द प्रेस लाहौर से प्रकाशित यह ग्रन्थ अब प्राय: दुर्लभ हो चुका है। उसका उर्दू-संस्करण १८९२ में छपा था। इन पंक्तियों के लेखक ने उसे हिन्दी में अनूदित किया है।

(२) महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम :

स्वामी दयानन्द का यह उर्दू-जीवनचरित लाला जी ने १८९८ में लिखा। इसका हिन्दी-अनुवाद गोपालदास देवगण शर्मा ने किया जो १८९८ में ही 'दुनिया के महापुरुषों की जीवन-ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत छपा। इसका द्वितीय संस्करण १९१२ में लाहौर से प्रकाशित हुआ। २०२४ वि० में सार्वदेशिक पत्र ने इसे अपने विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया। अब यह पुन: सम्पादित होकर छप चुका है।

(३) योगिराज महात्मा श्रीकृष्ण का जीवनचरित :

उर्दू में इसका प्रकाशन १९०० में लाहौर से हुआ। इसका हिन्दी-अनुवाद मास्टर हरिद्वारीसिंह बेदिल (गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर में अध्यापक) ने किया, जिसे पं० शंकरदत्त शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद से प्रकाशित किया।

aryasamajjamnagar.org

(४) शिवाजी महाराज का जीवनचरित :

१८९६ में उर्दू में प्रकाशित।

(५) महात्मा ग्वीसेप मैज़िनी का जीवनचरित :

यह मूलत: उर्दू में लिखा गया था। इसे भी अंग्रेजों ने प्रतिबन्धित कर दिया था। देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा १९६७ में पुन: प्रकाशित हुआ।

(७) सम्राट् अशोक :

मूल ग्रन्थ उर्दू में था। इसका हिन्दी-अनुवाद चौधरी एण्ड सन्स, बनारस ने १९३३ में प्रकाशित किया।

अन्य ग्रन्थ

(१) दि आर्यसमाज :

आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों तथा उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द

के जीवन एवं कृतित्व का विश्लेषण करनेवाला यह अंग्रेजी ग्रन्थ १९१४ में लिखा गया था। उस समय लाला जी लंदन में थे। सुप्रसिद्ध प्रकाशक लांगमैन्स ग्रीन एण्ड कम्पनी ने इसे १९१५ में प्रथम बार लन्दन से ही प्रकाशित किया। इसका एक भारतीय संस्करण प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने सम्पादित किया, जिसमें उपयुक्त संशोधन व परिवर्धन भी किया गया था। ओरियेण्ट लांगमैंस, नई दिल्ली ने इसे १९६७ में प्रकाशित किया। इन पंक्तियों के लेखक ने इसका हिन्दी-अनुवाद किया जिसके दो संस्करण क्रमशः १९८२ तथा १९९४ में अजमेर तथा दिल्ली से प्रकाशित हुए। दिल्ली के ही विभिन्न प्रकाशकों ने हाल ही में इसके मूल अंग्रेजी संस्करण प्रकाशित किये हैं। तरक्क़िए उर्दू बोर्ड, दिल्ली ने इसका उर्दू-अनुवाद किशोर सुलतान से करवाकर प्रकाशित किया है।

(२) दि मैसेज ऑफ भगवद्गीता :

इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से १९०८ में प्रकाशित।

(३) अनहैप्पी इण्डिया :

मिस केथराइन मेयो नामक एक चालाक अमरीकी महिला पत्रकार ने भारत को बदनाम करने तथा उसे स्वराज्य के लिए आयोग्य सिद्ध करने की दृष्टि से ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों की प्रेरणा पाकर 'मदर इण्डिया' नामक एक पुस्तक लिखी जो भारतीय चरित्र को अत्यन्त विकृत, दूषित तथा घृणोत्पादक शैली में प्रस्तुत करती थी। महात्मा याँधी ने पढ़कर इसे 'गंदी नाली के निरीक्षक की रिपोर्ट' कहा था। लाला जी ने इस पूर्वाग्रहयुक्त पुस्तक का सटीक और मुँह-तोड़ उत्तर १९२८ में 'अनहैप्पी इण्डिया' लिखकर दिया। 'दुःखी भारत' शीर्षक से इसका हिन्दी-अनुवाद इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद ने ही प्रकाशित किया था।

aryasamajjamnagar.org

लाला जी ने आर्थिक, राजनैतिक तथा शिक्षा आदि विषयों पर अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे थे। इनका यथोपलब्ध विवरण इस प्रकार है—

(1) England's Debt to India
B.W. Huebsch, New York से १९१७ में प्रकाशित।

(2) The Evolution of Japan
आर० चटर्जी, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से १९१९ में प्रकाशित।

(3) Ideals of Non Co-operation and other Essays.
जी०ए० नटेसन, मद्रास से १९२४ में प्रकाशित।

(4) India's Will to Freedom : Writings and Speeches on the Present situation.
गणेशन एण्ड कम्पनी, मद्रास से १९२१ में प्रकाशित।

(5) The Problem of National Education in India.
१९२० में प्रकाशित। भारत सरकार के प्रकाशन विभाग के द्वारा १९६६ में पुनः प्रकाशित।

(6) The Political Future of India.
B.W. Huebsch, New York से १९१९ में प्रकाशित।

(7) Story of My Deportation.
पंजाबी प्रेस, लाहौर से १९०८ में प्रकाशित।

(8) Young India–An Interpretation and History of the National Movement.
B.W. Huebsch, New York से १९१६ में प्रकाशित। 'भारत लोकसेवक मण्डल' (Servants of the People's Society), लाहौर द्वारा १९२७ में लाहौर से प्रकाशित भारतीय संस्करण।

(9) Report of People's Famine Relief Movement 1908.
लाहौर से १९०९ में प्रकाशित।

(10) The Story of My Life – The People.
'लाहौर' का लाजपतराय विशेषांक (अप्रैल १३, १८ सन् १९२९)

यह लाला जी की आत्म-कथा है जिसका हिन्दी-अनुवाद पं० भीमसेन विद्यालंकार ने किया, जो १९३२ में नवयुग ग्रन्थमाला, लाहौर से प्रकाशित हुआ।

लाला जी की जन्म-शताब्दी (१९६५) के अवसर पर विजयचन्द्र जोशी ने 'लाला लाजपतराय-आटोबायोग्राफिकल राइटिंग्स' शीर्षक से उनकी आत्म-कथा का सम्पादन किया तथा दो खण्डों में लाला जी के लेखों तथा भाषणों का संग्रह भी प्रकाशित किया।

लाला जी सफल पत्रकार भी थे। उन्होंने उर्दू तथा पंजाबी में मातरम्' नामक पत्र निकाले। १९१८-२० में उन्होंने न्यूयार्क से 'यंग इण्डिया' नामक एक अंग्रेजी मासिक भी प्रकाशित किया।

देश की आर्थिक और वित्तीय स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए उन्होंने पंजाब नेशनल बैंक की स्थापना १८९४ में की। बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन उसके मुख्य सचिव रहे थे। लाला जी द्वारा स्थापित 'भारत लोकसेवक मण्डल' (Servants of the People's Society) ने देश के नवजागरण तथा सेवा का अभूतपूर्व कार्य किया है। प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन, भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री तथा पं० अलगूराय शास्त्री जैसे देशभक्तों ने लाला जी से प्रेरणा लेकर ही राष्ट्र-सेवा का पाठ पढ़ा था। ❑

aryasamajjamnagar.org

मूल पुस्तक की भूमिका

मैं समझता हूँ कि ग्रेट ब्रिटेन से प्रकाशित होने वाली यह प्रथम पुस्तक है जिसमें उस धार्मिक आन्दोलन का विवेचन किया गया है जो सम्भवत: भारत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं शक्तिशाली सिद्ध हो सकता है। इस आन्दोलन के स्वरूप की थोड़ी-सी झलक ही मैंने देखी है और मैं उससे बहुत अधिक प्रभावित हुआ हूँ। इसी दृष्टि से मैंने इस पुस्तक की भूमिका के रूप में कुछ शब्द लिखने की स्वेच्छापूर्वक स्वीकृति प्रदान की है।

अनेक सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी लोगों को विगत जनगणना से यह जान कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ था कि नवस्थापित आर्यसमाज, जिसे कि अनेक प्रेक्षकों ने हिन्दू धर्म का पवित्रतावादी सुधार आन्दोलन कहा था, के अनुयायियों की संख्या लगभग $2^1/_2$ लाख है। परन्तु आँकड़ों से भी अधिक महत्त्वपूर्ण अनुयायियों की दृढ़ आस्था है। आर्यसमाज के इन अनुयायियों में अधिकांशत: वे लोग हैं जिन्हें हम भिन्न-भिन्न वर्गों का कहते हैं, जिनमें से अनेक वे भी हैं जिनके हाथ में पंजाब के वर्तमान आद्यौगिक विकास के सूत्र रहे हैं तथा दलित वर्ग के लोगों को उन्नत बनाकर अपने भीतर समाविष्ट कर लेना इनकी एक उल्लेखनीय सफलता रही है। इस आधुनिक आन्दोलन का यदि हम लेखा-जोखा लें तो ज्ञात होता है कि पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त में तो सर्वत्र, तथा मध्य-प्रान्त, राजपूताना तथा बम्बई प्रान्त में बहुत-से छोटे सरकारी कर्मचारी, स्कूल-अध्यापक, स्थानीय वकील, डॉक्टर तथा अन्य सक्रिय नागरिक इसी संस्था के साथ जुड़े हुए हैं। एक ब्रिटिश अधिकारी ने मुझे बताया कि उसके मातहत काम करनेवालों में से नव्वे प्रतिशत आर्यसमाजी हैं। विशेषत: विगत दशाब्द में आर्यसमाजी भारत के अन्य भागों में गए हैं तथा इक्की-दुक्की संख्या में तो वे समस्त संसार में फैल गए हैं। निस्संदेह आर्यसमाज पंजाब प्रान्त में एक शक्तिशाली आध्यात्मिक आन्दोलन के रूप में उभरा है जिसमें उस सुधारवादी हलचल के तत्त्व भी सम्मिलित हैं जो सामाजिक बुराइयों का विरोध करते हैं तथा पौराणिक हिन्दू धर्म में समय-समय पर प्रविष्ट हुए अवांछनीय क्रियाकलापों की भी आलोचना करते हैं। इसे पुरोहितवाद के स्थान पर वैदिक शास्त्रों पर आधारित जीवनदर्शन की स्थापना का प्रयत्न कहना चाहिए जिसने जीवन को

aryasamajjamnagar.org

पवित्रतावादी स्वर प्रदान कर सरल बनाने की चेष्टा की है तथा जो स्वतन्त्र एवं प्रबुद्ध भारतीयों के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्नशील है। लाला लाजपतराय ने इसके संस्थापक के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हमें विश्वसनीय जानकारी प्रदान की है।

स्वामी दयानन्द काठियावाड़-निवासी गुजराती थे, जाति से ब्राह्मण थे और अंग्रेजी का एक अक्षर भी नहीं जानते थे। आगे चलकर वे साधु बने तथा एक भ्रमणशील संन्यासी के रूप में उन्होंने अत्यन्त कठोर तथा असत्य से समझौता न करनेवाले सुदृढ़ व्यक्तित्व का विकास किया। उन्हें यूरोपीय भाषाओं तथा संस्कृति की कोई जानकारी नहीं थी, किन्तु वे संस्कृत के प्रौढ़ पण्डित थे तथा प्रभावोत्पादक एवं स्पष्ट शैली में प्रथम मातृभाषा गुजराती तथा कालान्तर में हिन्दी में विचार व्यक्त करने की उनमें क्षमता थी। फ्रांस एवं जर्मनी के बीच हुए युद्ध के बाद वाले दशाब्द में दयानन्द ने उत्तरी एवं मध्यवर्ती भारत का व्यापक भ्रमण किया। उसी अवधि में जब अंग्रेजी चिन्तन वैज्ञानिक भौतिकवाद की विचारधारा को लेकर हर्षमग्न हो रहा था तथा सफल औद्योगिक क्रांति को देखकर पुलकित था, दयानन्द ने उच्चकोटि के एकेश्वरवाद का उपदेश दिया तथा जीवन के प्रत्येक विभाग के संचालन हेतु विस्तृत कर्मकाण्ड तथा सुनिश्चित नियमों का विधान करते हुए भी उसे आध्यात्मिक वैराग्य-भाव के साथ जोड़ दिया। जहाँ तक आचरण का सम्बन्ध है, जैसा कि श्री लाजपतराय हमें बताते हैं, उन्होंने वेदों की ओर लौटने को कहा, उन वेदों की ओर, जिनमें सम्पूर्ण ज्ञान तथा मेधा के मौलिक तत्त्व निहित हैं तथा जिनकी व्याख्या के लिए कालान्तर में लिखे गए भाष्यों-विवरणों की आवश्यकता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामी दयानन्द के उपदेशों के बारे में जो कुछ जानकारी हमें प्राप्त है—लाला लाजपतराय द्वारा सावधानी से तैयार की गई ग्रन्थ-सूची इस संदर्भ में हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सकती है, वह भी अभी तक अंग्रेज विद्वानों तथा अंग्रेजी के धार्मिक एवं आध्यात्मिक पत्रों की दृष्टि से ओझल ही रही है। १८८३ में स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् (जिसका कि भावना-प्रवण शैली में लालाजी ने वर्णन किया है)। वे सभी संगठन और दल जिन्हें स्वामीजी ने प्रभावित किया था तथा 'आर्यसमाज' कहकर सम्बोधित किया था, एकता के सूत्र में अधिकाधिक आबद्ध होते गए तथा लाला लाजपतराय द्वारा प्रस्तुत

aryasamajjalandhar.org

विवरण के अनुसार आर्यसमाज की इन इकाइयों ने धीरे-धीरे एक सुदृढ़ धार्मिक तथा सामाजिक आन्दोलन का रूप ग्रहण कर लिया है।

हम कह सकते हैं कि प्रत्येक नवीन धर्मान्दोलन में दो प्रमुख बातें होती हैं—संस्थापक का चुम्बकीय प्रभाव तथा अनुयायियों की प्रथम पीढ़ी द्वारा उसके उपदेशों को व्यवहार में लाना। आर्यसमाज में, जिसकी आयु अभी एक-तिहाई शताब्दी की ही है, हमें व्यक्तिगत आचरण-सम्बन्धी दो महान् गुणों का विकास स्पष्टत: दिखाई देता है—हिन्दू समाज के हित के लिए अपना बलिदान तथा शेष विश्व के प्रति आत्मविश्वास का भाव। जो भी व्यक्ति विगत दशक के पंजाब के बारे में कुछ भी जानकारी रखता है, यह माने बिना तथा इस तथ्य से प्रभावित हुए बिना नहीं रहेगा कि उन लाखों आर्यसमाजियों के जीवन में कितनी पवित्रता तथा सौम्यता है, तथा उनके उद्देश्यों में कितनी उदात्तता है। एक ओर जो अपनी संस्था की सेवा के प्रसंग में सर्वोत्तम कोटि के आत्मत्याग तथा निष्ठाभाव का प्रदर्शन करते हैं, जिसके लिए उन्होंने नाना यातनाओं को भी सहन किया है, तो दूसरी ओर यही लोग हैं जिन्होंने सभी प्रकार के सामाजिक कर्तव्यों का पालन—दलित वर्ग की शिक्षा, महामारी के अवसर पर सेवा-कार्य, दुर्भिक्षों में राहत कार्य—भी उतनी ही निष्ठा के साथ किया है। इस नैतिक उच्चता के साथ-साथ इन लोगों में अदम्य साहस तथा आक्रामक कोटि का विजिगीषा- भाव भी पाया जाता है जिसके बलबूते पर इन्होंने अपने-आप को जातिवाद तथा ब्राह्मण-प्रभुत्व से पृथक् कर लिया है, साथ ही ये लोग उस यूरोपीय प्रभुत्व से मुक्त हो गए हैं जो अवशिष्ट जगत् का गुरु बनने का दम भरता है। इतना और कह दें कि इसी प्रकार इन्होंने ब्रिटिश अफसरशाही के प्रभाव से भी अपने को मुक्त रखा है।

aryasamajjamnagar.org

हिन्दू जाति को पुनरुज्जीवित करना जिस आर्यसमाज का ध्येय रहा है, उसके नाना प्रमुख कारणों में से स्वदेशी शिक्षा-पद्धति का विकास भी एक प्रमुख कारण है। इसके परिणामस्वरूप लाहौर में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज की स्थापना हुई जिसकी शाखाओं के रूप में विभिन्न स्तरों के विद्यालय स्थापित हुए, किन्तु डी०ए०वी० कॉलेज इस शृंखला का सबसे बड़ा सुविकसित सुमेरु है। अपने जीवन के सत्ताईसवें वर्ष में यह संस्था न केवल आर्यों की निष्ठा का, अपितु हिन्दू जाति की संगठनात्मक तथा प्रशासकीय क्षमता का भी उत्तम

स्मारक है। आर्यसमाजों के प्रतिनिधि ही पूर्ण रूप से इसका संचालन करते हैं तथा केवल हिन्दू एवं मुसलमान ही इसके शिक्षक हैं। इसके प्रथम आचार्य[१] तथा वास्तविक मानसिक स्तर के संस्थापक ने बिना किसी पारिश्रमिक या पुरस्कार के अपना सम्पूर्ण जीवन संस्था की सेवा हेतु अर्पित कर दिया था। इसके अन्य उच्चकोटि के प्रशिक्षित अध्यापक भी मात्र जीविकायापन जितना वेतन लेकर ही अध्यापन-कार्य करते हैं। इस कॉलेज के संचालन में लाला लाजपतराय का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु वे इस संस्था का वैसा विवरण प्रस्तुत नहीं करते जिससे कि हमें इस महत्त्वपूर्ण शिक्षण-संस्था की गुरुता, योग्यता तथा महत्ता का अनुमान हो सके, जिसके विद्यार्थी प्रतिवर्ष राजकीय विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त उपाधियों को अन्य कॉलेजों की तुलना में कहीं अधिकता से ग्रहण करते हैं।

दयानन्द के अनुयायियों में से कुछ, जो अधिक उद्योगी तथा पुरुषार्थी हैं, यह धारणा रखते हैं कि इस सर्वोच्च दृष्टि से सफल कॉलेज में भी एक न्यूनता है। उनके अनुसार, कॉलेज के व्यवस्थापकों ने सभी श्रेणियों के हिन्दू युवकों को आकृष्ट कर उन्हें सफल लौकिक जीवन के लिए आवश्यक शिक्षा देने की चेष्टा तो की, परन्तु उन्हें त्यागमय, अनुशासन-प्रधान जीवन के नियम सिखाने, व्यापक धार्मिक कर्तव्य कर्मों को करने तथा उस संस्कृत विद्या पर अपना ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा नहीं दी, जो दयानन्द के अनुसार एक नवीन तथा शक्तिशाली हिन्दू धर्म को जन्म देने के लिए आवश्यक थी। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हरिद्वार के निकट, कालान्तर में उस अत्यन्त महत्त्वशाली गुरुकुल संस्था की स्थापना हुई जो सम्भवतः संसार में शिक्षाक्षेत्र में किया गया सर्वाधिक आकर्षक प्रयोग है तथा जिसका रोचक विवरण श्री लाजपतराय ने प्रस्तुत किया है। विगत बीस वर्षों से यहाँ, उत्तरी गंगा के सुन्दर परिदृश्यों के बीच, हिमाच्छादित हिमालय की चोटियों की दृष्टि-सीमा में आनेवाला एक नवीन प्रकार का वैराग्यभाव-प्रधान शिक्षा-केन्द्र विकसित हो रहा है। इसके संचालन में इसके आचार्य[२], जो स्वयं महनीय व्यक्तित्व के धनी हैं, तथा अन्य अध्यापकों ने

aryasamajjammagar.org

---

१. महात्मा हंसराज; २. महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द)

अपनी सेवाएँ अर्पित कर रखी हैं। यद्यपि प्राय: ये सभी अध्यापक गृहस्थ हैं, किन्तु इन्होंने स्वेच्छा से आज्ञाकारिता तथा दरिद्रता का जीवन चुना है। यहाँ छात्रों को सात वर्ष की आयु में प्रविष्ट कराया जाता है तथा उन्हें पच्चीस वर्ष तक रहना पड़ता है। उन्हें शिक्षा-शुल्क के रूप में कुछ नहीं देना पड़ता, केवल भोजन-व्यय हेतु स्वल्प राशि देनी होती है। इन्हें न तो अपने घर जाने की अनुमति होती है और न माता-पिताओं से मिलने की ही। किसी स्त्री को देखने अथवा उसके द्वारा देखे जाने की भी उन्हें आज्ञा नहीं होती (कभी-कभी छात्रों की माताएँ अवश्य उनसे मिलने समय-समय पर आ सकती हैं)। ये विद्यार्थी अपने निष्ठावान् अध्यापकों के निकट-सम्पर्क तथा निरीक्षण में रात-दिन रहते हैं। इस प्रकार गुरु के संरक्षण में व्यतीत होनेवाले दीर्घकालीन जीवन का इन छात्रों के वैयक्तिक आचार पर क्या प्रभाव पड़ता है, यूरोपीय छात्रों के लिए यह आश्चर्यजनक किन्तु धैर्यपूर्वक देखने की वस्तु है। शिक्षण के प्रथम सात वर्षों में छात्रों का समग्र ध्यान संस्कृत तथा वेदों पर केन्द्रित रहता है। साथ ही उन्हें दैनिक धार्मिक कर्मकाण्डों का नियमित रूप से आचरण करते हुए कठोर शारीरिक व्यायामों का भी प्रशिक्षण लेना होता है। चौदह वर्ष की आयु में उन्हें यूरोपीय सभ्यता के विभिन्न साहित्यों तथा विज्ञानों का परिचय मिलता है। तदुपरान्त अपने अध्ययन के घण्टों में वे अंग्रेजी भाषा, प्रयोगशाला के कार्य तथा पश्चिमी संस्कृति का अध्ययन अपनी मातृभाषा के माध्यम से ही करते हैं। मैंने गुरुकुल के पुस्तकालय में अंग्रेजी ग्रन्थों का अच्छा संग्रह देखा, विशेषत: यहाँ दर्शन एवं अर्थशास्त्र के ग्रन्थ अनेक राजकीय विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध कॉलेजों की तुलना में अधिक संख्या में विद्यमान हैं। पच्चीस वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने पर यह मान लिया जाता है कि अब छात्र भारतवर्ष की सेवा करने में पूर्णतया सक्षम हैं। अत: वे बाह्य जगत् में जाकर अपनी रुचि के अनुकूल व्यवसाय चुन लेते हैं। प्राय: यह भी प्रयत्न रहता है कि उनका विवाह ऐसी कन्याओं से कर दिया जाय (परन्तु २५ वर्ष के पूर्व नहीं) जिन्होंने कन्या-गुरुकुलों में उनके ही समान कठोर किंतु परिपूर्ण शिक्षा प्राप्त की है तथा वे विवाह-योग्य उस पूर्ण अवस्था को प्राप्त कर चुकी हैं, जिस पर स्वामी दयानन्द

aryasamajjammagar.org

ने जोर दिया था। सम्भवतः भारतीय दृष्टि से एक सर्वाधिक विलक्षण बात जो इन गुरुकुलों में पाई जाती है, वह है जातिबंधनों की सर्वथा उपेक्षा तथा समाप्ति का भाव, जो आर्यसमाज का एक प्रमुख लक्षण है। गुरुकुल में जिन तीन सौ छात्रों का निवास है, उनमें सर्वोच्च से लेकर निम्नतम जातियों तक के सदस्य छात्र भी हैं। वे सब एक-सा जीवन जीते हैं।

जैसा कि लाला लाजपतराय ने संकेत किया है, लाहौर का दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज तथा हरिद्वार-स्थित गुरुकुल—प्रमुख शिक्षण-संस्थान, आर्यसमाज के शिक्षा-क्षेत्र में किये गए कार्य का अंश-मात्र ही हैं। उत्तर भारत के प्रान्तों में सर्वत्र आर्यसमाज की शाखाएँ प्रत्येक प्रकार के शैक्षिक कार्यों में संलग्न हैं; उच्च से उच्च शिक्षा से लेकर निम्न जातियों तथा उन जरायम-पेशा जातियों के बच्चों के लिए जिन्हें कि पौराणिक हिन्दू स्पर्श करने में भी संकोच करते हैं, विशेष प्रकार के विद्यालयों का संचालन करती हैं।

मेरे स्मृति-पथ में बड़ौदा राज्य के किसी गाँव में स्थित लकड़ी के एक मकान का चित्र उभरता है। यहाँ एक ब्राह्मण अपनी पत्नी तथा बच्चों एवं एक अन्य ब्राह्मण सहायक के साथ रहता था। दोनों ही व्यक्ति उच्च बौद्धिक क्षमता के धनी तथा सामाजिक स्थिति वाले थे। ये लोग लगभग २०-२२ ऐसे बच्चों को लेकर रह रहे थे जो सर्वाधिक निम्न तथा घृणास्पद जातियों के थे। इन बच्चों का न केवल बिना कुछ शुल्क लिये ही भरण पोषण-किया जाता था, तथा उन्हें शारीरिक एवं बौद्धिक दृष्टि से प्रशिक्षित किया जाता था, अपितु उन्हें वैदिक संस्कारों से दीक्षित भी किया जाता था। उन्हें यज्ञोपवीत संस्कार से संस्कारित किया गया था जो कि शताब्दियों तक केवल द्विजातियों के लिए ही ग्रहणीय माना जाता रहा। यह उस शैक्षिक कार्य का एक नमूना-मात्र है और यह शैक्षिक कार्य भी आर्यसमाज द्वारा उत्तर भारत में की जाने वाली समाज-सेवा का एक लघु अंश-मात्र है। इसे देखकर एक औसत कल्पनाविहीन तथा प्रायः अध्यात्मभाव-शून्य ब्रिटिश अधिकारी चक्कर में पड़ जाता है, क्योंकि वह यह नहीं समझ पाता कि आखिर ये आर्यसमाजी चाहते क्या हैं?

इस आन्दोलन तथा समाज-सेवा के कार्य में लाला लाजपतराय ने एक

लम्बे समय से नेता की भूमिका निभाई है। इसी आर्यसमाज के इतिहास, उसके लक्ष्य तथा उपलब्धियों को सदा प्रवृद्धमान् अंग्रेजी-पठित जनता के समक्ष उपस्थित कर लालाजी ने हम सबकी तथा आर्यसमाज की भी सेवा की है।

४१ ग्रोसवेनर रोड, वेस्ट मिन्स्टर, लन्दन—सिडनी वेब[१]

नवम्बर, १९१४

aryasamajjamnagar.org

[१] सिडनी वेब इंग्लैण्ड के तत्कालीन समाजवादी "फेबियन" आन्दोलन के प्रसिद्ध नेता तथा विचारक थे।

प्राक्कथन

१९०७ ई० में सर्वप्रथम आर्यसमाज ने भारत के बाहर के लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया। उस समय से अब तक शायद ही कोई पुस्तक अंग्रेजी भाषा में प्रकाशित हुई हो जिसमें भारत के आन्दोलनों तथा भारतीय जीवन की समस्याओं का उल्लेख तो हुआ हो, किन्तु जिसमें आर्यसमाज की चर्चा न हुई हो। इंग्लैण्ड के उदार दलीय तथा मजदूर नेताओं ने इस संस्था की चर्चा, प्रशंसा एवं सहानुभूति के सम्मिलित भावों से की है, जबकि कुछ अनुदार दलीय साम्राज्यवादियों ने इसे ब्रिटिश-विरोधी बताया है। ईसाई प्रचारकों ने भी आर्यसमाज का उल्लेख या तो स्वस्थ आलोचक के रूप में किया है अथवा घृणा एवं द्वेष के भाव से किया है। १९०७ से पूर्व अंग्रेजी भाषा में आर्यसमाज के सिद्धांतों का निरूपण करनेवाली पुस्तकें अत्यन्त न्यून थीं। स्व० पं० गुरुदत्त की कुछ लघु पुस्तिकाओं तथा बावा छज्जूसिंह के कुछ ग्रन्थों को छोड़कर शायद ही कोई ऐसी पुस्तक थी जो आर्यसमाज का अध्ययन करनेवाले ग़ैर-भारतीय विद्यार्थी को दी जा सके।[१] आर्यसमाज के संस्थापक ने अपने ग्रंथ संस्कृत अथवा हिन्दी में ही लिखे थे। उनके अनुयायियों द्वारा जो साहित्य लिखा गया उसका अधिकांश संस्कृत, हिन्दी अथवा उर्दू में ही था। यह सत्य है कि १९०७ ई० से पूर्व 'सत्यार्थ प्रकाश' के दो अंग्रेजी अनुवाद—एक मास्टर दुर्गाप्रसाद कृत तथा दूसरा पं० चिरंजीव भारद्वाज कृत थे, परन्तु दोनों में ही यथार्थता का अभाव था, अतः विद्यार्थियों के लिए वे सर्वथा अनुपयुक्त थे।[२]

aryasamajjammagar.org

वस्तुतः भारतीय विचारों तथा भारतीय भावनाओं को किसी विदेशी भाषा का जामा पहनाना नितान्त कठिन कार्य है। इस कार्य में साधारण सफलता अर्जित करने के लिए भी दोनों भाषाओं का उच्च कोटि का ज्ञान अपेक्षित है, तथापि कभी-कभी भारतीय शब्दावली का अंग्रेजी में अनुवाद करना प्रायः असम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत के 'धर्म' को ही लें। अंग्रेजी भाषा में कोई ऐसा शब्द नहीं है जो इसका ठीक-ठीक अर्थ एक भारतवासी को बता

---

१. कालान्तर में आर्यसमाज का अंग्रेजी में उत्कृष्ट साहित्य प्रकाशित हुआ है। (अनुवादक)

२. पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय ने सत्यार्थप्रकाश का सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद किया है। (अनुवादक)

सके। इन परिस्थितियों में हिन्दी ग्रंथों के अंग्रेजी-अनुवाद की उपयोगिता संशयात्मक हो जाती है।

इतना होने पर भी अंग्रेजी के आर्यसमाज-विषयक साहित्य की माँग निरन्तर बढ़ रही है तथा मुझसे बहुधा कहा गया है कि इस माँग को पूरा करने के लिए मुझे कुछ करना चाहिए। मेरे जिन कृपालु मित्रों ने ऐसा परामर्श दिया, वे सम्भवत: यह नहीं जानते थे कि इस कार्य को करने की मेरी क्षमता तो उन महानुभावों से भी कम है जिन्होंने सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी-अनुवाद किया है। आर्यसमाज में अधिक योग्य व्यक्ति थे और हैं जो इस कार्य को पूर्ण तत्परता तथा संतोष के साथ कर सकें। दुर्भाग्यवश ऐसे लोगों में से कुछ काल के द्वारा हमसे छीन लिये गए हैं, कुछ अन्य यद्यपि इस कार्य को करने में पूर्णतया सक्षम हैं किन्तु वे अन्य कार्यों में व्यस्त हैं तथा इस कार्य के साथ पूर्ण न्याय करने की स्थिति में नहीं हैं। कुछ अन्य ऐसे भी हैं जिनके पास इस साहित्यिक कार्य के लिए न तो समय है और न करने का इरादा। आर्यसमाज का गुरुकुल-विभाग इस प्रसंग में कुछ उल्लेखनीय कार्य करने का इच्छुक है, परन्तु अभी तक कुछ भी उल्लेख-योग्य परिणाम नहीं निकला है। तथ्य यह है कि आर्यसमाजें अपने देशवासियों के लिए ही इतना कुछ करना चाहती हैं कि हमारी भाषा न जानने वाले विदेशियों के लाभार्थ कुछ करने के लिए उनके पास न तो समय है और न धन। वर्तमान में उनके हाथ वैसे भी व्यस्त हैं।

aryasamajjamnagar.org

अभी तक आर्यसमाजें अपने देशवासियों में ही सुधार-कार्य करने से संतुष्ट थीं। उन्हें बाह्य संसार का ध्यान अपनी ओर खींचने की कोई इच्छा भी नहीं थी। यदि विश्व-मंच पर उन्हें लाया गया है, तो यह बहुत-कुछ उनकी इच्छा के विपरीत ही हुआ है। परिस्थितियों ने ही उन्हें बाध्य किया है तथा वे विपत्तियों की पाठशाला में बैठकर एवं अनेक कटु अनुभवों के बाद यह सीख सके हैं कि कभी-कभी शान्त बैठकर, बिना किसी दिखावे के कार्य करना ग़लतफ़हमी तथा भ्रम का कारण बन जाता है। आज के विश्वजनीन आन्दोलनों के युग में कोई भी संगठन, चाहे उसके उद्देश्य एवं लक्ष्य कितने ही सीधे एवं सरल क्यों न हों, ग़लत रूप से पेश किये जाने अथवा अन्यथा समझा जाने का खतरा नहीं उठा सकता। आर्यसमाज जैसी संस्था जो अपने उद्देश्यों और लक्ष्यों के विचार से कतई भीरु नहीं है, उसके लिए तो ऐसा और भी कठिन है। जब

तक केवल भारत में ही आर्यसमाज पर आक्रमण किये जाते रहे, उसके लिए यह सम्भव था कि वह इन हमलों की उपेक्षा करता। जिन लोगों के बीच तथा जिनके लिए आर्यसमाज कार्य करता था, वे उसके महत्त्व को जानते थे तथा किसी भी सीमा तक की गई उसकी आलोचना तथा अज्ञानपूर्वक उसको अन्यथा रूप में प्रस्तुत किये जाने का प्रयत्न भी आर्यसमाज की हानि करने में असमर्थ रहे। आर्यसमाज ने विदेशियों की उपेक्षा की—न तो उन्हें अपने धर्म में लाने का प्रयत्न ही किया और न उनकी धारणाओं की ही चिन्ता की। वह सरकार अथवा उच्च कोटि की सुशिक्षित सभाओं द्वारा मान्यता प्राप्त करने के विचार के प्रति भी उदासीन ही रहा। परन्तु १९०७ ई० में जब आर्यसमाज ने यह समझा कि उसके स्वावलम्बन तथा अकेले रहने की प्रवृत्ति का ग़लत अर्थ लगाया जा रहा है तथा उसे बिना अपना पक्ष प्रस्तुत किये ही निन्दा का पात्र बनाया गया, तो उसने विरोध में अपनी आवाज उठाई तथा यूरोपियनों को अपनी संस्थाओं को देखने के लिए आमंत्रित किया, उनसे इन स्थानों पर ठहरने तथा वास्तविकता को स्वयं जानने के लिए अनुरोध किया। उस समय से, आर्यसमाज के कुछ मौन रहकर कार्य करनेवाले लोग सरकार, विचारशील संसार तथा भारत एवं इंग्लैण्ड के समाचारपत्रों के समक्ष अपना मामला पेश करने लगे हैं, यद्यपि ऐसा करने में उन्हें अपने रास्ते से थोड़ा हटना भी पड़ता है। अपनी सुरक्षा के लिए आर्यसमाज के कुछ अतिव्यस्त कार्यकर्ताओं को अंग्रेजी भाषा में इसके सिद्धांतों, शिक्षाओं, उद्देश्यों तथा कार्य के सम्बन्ध में लिखना पड़ा है। अभी हाल में आर्यसमाज के गुरुकुल-विभाग के नेता लाला मुन्शीराम ने आर्यसमाज तथा गुरुकुल के लक्ष्यों और उद्देश्यों को समझाते हुए अंग्रेजी में अनेक व्याख्यान तथा पुस्तिकाएँ प्रकाशित की हैं। ऐसा ही कार्य उनके कुछ साथियों ने भी किया है जिनमें प्रो० रामदेव तथा प्रो० बालकृष्ण के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्य जिन लोगों ने अंग्रेजी में इस विषय पर ग्रंथ लिखे हैं, उनमें राय ठाकुरदत्त तथा लाला रलाराम एवं डी०ए०वी० कॉलिज के प्रो० दीवानचन्द के नाम उल्लेखनीय हैं। तथापि एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता बड़ी तीव्रता से अनुभव की जा रही थी जिसमें आर्यसमाज के आन्दोलन के इतिहास तथा उसकी प्रवृत्तियों का पूर्ण परिचय दिया जाता, जिसका भारत तथा विदेशों में भी उपयोग हो सकता। एक समय यह आशा की गई थी कि लाला

aryasamajjamnagar.org

द्वारकादास एम०ए० इस आवश्यकता की पूर्ति करेंगे, क्योंकि उन्हें जितना अधिक पश्चिमी दर्शन का ज्ञान था, उतना ही हिन्दू-चिन्तन से भी वे परिचित थे, परन्तु अक्टूबर १९१२ ई० में उनकी मृत्यु हो जाने के कारण यह आशा अधूरी ही रही।

वर्तमान ग्रन्थ उसी आवश्यकता की पूर्ति का एक प्रयत्न है, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं। ग्रन्थ की न्यूनताओं से ग्रंथकार पूर्णतया परिचित है, क्योंकि न तो यह परिपूर्ण ज्ञान का ही दावा करता है और न शैली की श्रेष्ठता का ही। इस विषय पर उसके लेखन को महत्त्व दिया जाय, इसका सबसे बड़ा कारण यही है कि वह १८ वर्ष की आयु से ही इस आन्दोलन से सम्बन्धित रहा है। उसने अपने अवकाश के सर्वश्रेष्ठ भाग को आर्यसमाज हेतु अर्पित किया है, आर्यसमाज की अनेक कार्य-प्रवृत्तियों को संगठित किया है तथा वह यह भी स्वीकार करता है कि उसमें जो कुछ अच्छाइयाँ हैं, वे आर्यसमाज के प्रभाव से ही उत्पन्न हुई हैं। साथ ही यह भी कहना आवश्यक है कि ग्रन्थ-लेखक से सम्बन्ध रखने के कारण ही आर्यसमाज को एक गम्भीर राजनीतिक संकट में से गुजरना पड़ा है। अच्छा तो यह होता कि अधिक योग्य तथा उपयुक्त व्यक्ति इस कार्य में अपने समय तथा शक्ति को लगाता, किन्तु ऐसा न होने के कारण इन पंक्तियों के लेखक ने ही अपने आर्यसमाज के प्रति प्रेम तथा कर्तव्य-भाव की दृष्टि से ग्रन्थ-लेखन का यह कार्य किया है।

aryasamajjamnagar.org

इस ग्रन्थ के लिखने में लेखक का मौलिकता का दावा कतई नहीं है। यह तो एक संकलन जैसा कार्य ही है। यही कारण है कि पुस्तक में अनेक लम्बे उद्धरण आ गए हैं। पुस्तक का उद्देश्य तो आर्यसमाज के नेताओं के शब्दों में ही इस संस्था की स्थिति का बयान करना है, क्योंकि वे ही इसके सिद्धान्तों तथा विचारधारा के सर्वश्रेष्ठ प्रवक्ता एवं व्याख्याकार हैं।

स्वामी दयानन्द की जीवनी से सम्बन्धित अध्याय बावा छज्जूसिंह की पुस्तक The Life and Teachings of Swami Dayanand पर आधारित है जिन्होंने आर्यसमाज के अंग्रेजी मुख पत्र[१] का १५ या उससे अधिक वर्षों की अवधि तक सम्पादन किया था। इस पुस्तक को लिखने में अन्य सूत्रों के साथ-

---

१. आर्य पत्रिका, लाहौर

साथ बावा छज्जूसिंह ने १८९८ ई० में हिंदुस्तानी भाषा[१] में लिखी गई इस लेखक की स्वामी दयानन्द की जीवनी से भी सहायता ली थी। आर्यसमाज की शिक्षाओं तथा सिद्धांतों के सम्बंध में उक्त पुस्तक के अतिरिक्त निम्न पुस्तकों से भी सहायता ली गई है- 1. A Hand book of the Arya Samaj, संयुक्त प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा के ट्रैक्ट विभाग द्वारा प्रकाशित, 2. Teachings of the Arya Samaj, बावा छज्जूसिंह कृत, 3. आर्यसमाज के दोनों विभागों के नेता लाला हंसराज तथा लाला मुंशीराम के प्रकाशित व्याख्यान। प्राय: जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये गए हैं उनका उल्लेख पाद-टिप्पणियों में कर दिया गया है। सौभाग्यवश, स्वामी दयानन्द और बनारस के पण्डितों के बीच नवम्बर १८६९ ई० में हुए काशी-शास्त्रार्थ का वह विवरण जो The Christian Intelligencer, १८७० ई० में छपा था उसे मूल रूप से यहाँ उद्धृत किया गया है। बावा छज्जूसिंह द्वारा यह विवरण १८९८ ई० में प्रकाशित मेरी पुस्तक से लेकर पुन: अंग्रेजी में अनूदित किया गया है। इस मूल्यवान् उद्धरण के लिए मैं चर्च मिश्नरी सोसाइटी लंदन के पुस्तकालयाध्यक्ष श्री पोर्टर का कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे वह पुस्तक प्रदान की जिसमें यह लेख छपा था।

aryasamajjamnagar.org

आर्यसमाज द्वारा नियंत्रित और संचालित विभिन्न संस्थाओं का विवरण देने में मैंने उन-उन संस्थाओं के व्यवस्थापकों द्वारा प्रकाशित अधिकृत रिपोर्टों का उपयोग किया है; उदाहरणार्थ—गुरुकुल काँगड़ी का विवरण इस संस्था की रिपोर्ट पर आधारित है। आर्यसमाज के दो विद्यालयों—दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर तथा गुरुकुल काँगड़ी को लेकर मेरी स्थिति विचित्र-सी है। प्रथम संस्था से मैं एक पिता के तुल्य प्रेम करता हूँ और दूसरी संस्था से मेरा प्रेम प्रेमी का-सा है। तथापि, इन दोनों प्रकार की शिक्षा-प्रणालियों से मेरी पूर्ण सहमति नहीं है; मेरा दोनों संस्थाओं से मतभेद भी है। अत: मैंने यही उचित समझा कि दोनों संस्थाओं का विवरण उनके संस्थापकों के ही शब्दों में दे दिया जाय। परिणामत: मुझे लम्बे-लम्बे उद्धरण देने पड़े, यद्यपि सम्भव यह भी था कि इनका सार-संक्षेप स्वल्प स्थान में दिया जाता। आर्यसमाज की राजनीति का विवरण देने तथा उनके आलोचकों की स्थिति को प्रस्तुत करने में मैंने

---

१. यह जीवनी लालाजी द्वारा उर्दू में लिखी गई थी। (अनु०)

पर्याप्त सावधानी बरती है तथा ऐसा करते समय प्रायः मूल उद्धरण ही दिये गए हैं। इन अपवादों के अतिरिक्त पुस्तक में अभिव्यक्त मत का सम्पूर्ण दायित्व मुझ पर ही है।

यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जाय कि आर्यसमाज के निर्माण में मैंने भी अपनी स्वल्प-सी भूमिका निभाई है तो मुझे यह कहने के लिए क्षमा करें कि मैं इस पुस्तक के अध्ययन की संस्तुति उन लोगों से करूँगा जो संक्षेप में आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक से परिचित होना तथा उसकी विगतकालीन प्रवृत्तियों का विहगावलोकन करना चाहते हैं। इस पुस्तक का प्रचार भारत में तथा उसके बाहर भी होना अभीष्ट है, क्योंकि इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर पुस्तक की अधिकांश सामग्री लिखी गई है। कुछ बातें तो अत्यन्त विस्तार के साथ केवल ग़ैर-भारतीयों के लिए ही प्रस्तुत की गई हैं जिन्हें मात्र भारतवासियों के उपयोग हेतु लिखी जाने वाली पुस्तक से सहज ही हटाया जा सकता था। इसी प्रकार अनेक बातें मात्र भारतीयों की जानकारी के लिए ही हैं, जिनका अन्यों के लिए विशेष उपयोग नहीं है। पुस्तक की रचना के सम्बन्ध में एक अन्य बात भी मैं यहाँ कहना चाहता हूँ। इस पुस्तक की मानसिक तैयारी, रूपरेखा का निर्माण तथा लेखनकार्य लगभग आठ सप्ताह में लंदन में ही समाप्त किया गया, उस स्थान पर जो कि आर्यसमाज की इन प्रवृत्तियों से बहुत दूर है जिनका कि उल्लेख पुस्तक में हुआ है; यही कारण है कि इस पुस्तक के प्रणयन में आर्यसमाज के नेताओं का बहुमूल्य परामर्श भी प्राप्त नहीं किया जा सका। मेरा सतत प्रयत्न सारी समस्याओं का निर्वैयक्तिक तथा पूर्वाग्रह-रहित मूल्यांकन करने का रहा है, परन्तु मैं नहीं समझता कि ऐसा करने में मैं किसी सीमा तक सफल रहा हूँ। कारण स्पष्ट है—जो व्यक्ति जिस प्रसंग में जितना अधिक लिप्त हो, उससे यह अपेक्षा करना कठिन होगा कि वह उतना ही निर्लिप्त होकर उस प्रसंग की आलोचना कर सके। विषयवस्तु की दृष्टि से यह ग्रंथ अपने ढंग का प्रथम ही है तथा आगामी संस्करणों में इसे परिमार्जित किया जा सकता है, यदि उन लोगों का प्रशंसा-भाजन बन सके जिनके लिए यह रचा गया है।

aryasamajjamnagar.org

पुस्तक में दिये गए वेदमन्त्र लाला गोकुलचन्द की पुस्तक Message of the Vedas तथा बावा छज्जूसिंह की पुस्तक The Teachings of the Arya Samaj से लिये गए हैं। मैंने इन मन्त्रों का अनुवाद वही किया है जिसे

मैंने सही समझा है, यद्यपि मैं मानता हूँ कि वेदानुवाद करने के अपेक्षित गुणों का मुझमें अभाव है। यह अनुवाद पाश्चात्य विद्वानों द्वारा किये गए अनुवाद के बहुत निकट है।

मैं उन लेखकों के प्रति अपना आभार व्यक्त करता हूँ जिनके ग्रन्थों को मैंने बहुश: उद्धृत किया है तथा उन मासिक तथा अन्य पत्रों के सम्पादकों का भी आभारी हूँ, जिनका मैंने प्रयोग किया है। इसके साथ-साथ मैं प्रो० सिडनी वेब, L.L.D. का भी अतिशय कृतज्ञ हूँ जिन्होंने पुस्तक की पाण्डुलिपि पढ़ कर भूमिका लिखने का कष्ट किया। मैं श्री वेब तथा उनकी पत्नी का ऋणी हूँ उस उत्साह-दर्शन के लिए, जिसने मुझे ग्रंथ लिखने के लिए प्रेरित किया। इसी दम्पती ने मुझे आर्यसमाज के हित की दृष्टि से इस पुस्तक को लिखने की प्रेरणा दी। मैं अपने इन मित्र को भी धन्यवाद अर्पित करता हूँ। श्री डब्लू० एफ० वेस्ट ब्रुक ने पुस्तक की पाण्डुलिपि को पढ़कर अनेक मूल्यवान् सुझाव दिये हैं, उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

aryasamajjamnagar.org

लंदन

अक्टूबर १३, १९१४

लाजपतराय

संस्थापक का आरम्भिक जीवन

अग्निस्तु विश्रवस्तमं तुविब्रह्माणमुत्तमम्।
अतूर्तं श्रावयत् पतिं पुत्रं ददाति दाशुषे॥

—ऋ० ५/२५/५

१. जन्म तथा माता-पिता

गुजरात काठियावाड़ के अन्तर्गत मौरवी एक छोटा किन्तु समृद्ध नगर है। भारतीय प्रायद्वीप के उत्तर-पश्चिमी समुद्र-तट से किञ्चित् दूर बसा हुआ यह नगर ब्रिटिश भारत के बम्बई प्रान्त के अन्तर्गत काठियावाड़ एजेन्सी की एक देशी रियासत की राजधानी भी है। स्वामी दयानन्द का परिवार इसी राज्य से सम्बन्धित था और उनके पिता मौरवी-शासन में प्रतिष्ठा एवं दायित्वपूर्ण पद पर अधिष्ठित थे। उनका कुटुम्ब जमींदारों का था तथा इस परिवार के लोग लेन-देन का व्यवसाय भी करते थे। वे ब्राह्मणों के सर्वश्रेष्ठ वंश के अन्तर्गत आते थे तथा वैदिक विद्या के अध्येता होने के कारण अत्यधिक प्रतिष्ठित थे।

aryasamajjamnagar.org

दयानन्द के पिता एक कट्टर तपस्वी ब्राह्मण के रूप में माने जाते थे, जो अपने धार्मिक विश्वासों और अनुष्ठानों में पूर्णतया पुराणपंथी थे तथा किसी भी प्रकार का समझौता करने के विरुद्ध थे। कर्मकाण्ड के आचरण तथा धार्मिक कृत्यों के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ कट्टरता की सीमा तक पहुँच चुकी थीं, जहाँ से उन्हें हटाना किसी के लिए शक्य नहीं था, क्योंकि वे शास्त्रीय विधानों को उसी रीति से पालन करने के पक्षपाती थे जिस रूप में उनका विधान धर्मग्रन्थों में हुआ है तथा जो परम्परा से प्रचलित हैं। वे दृढ़ विश्वासी, सुदृढ़ संकल्पवान् तथा स्वभाव से उग्र थे। परन्तु इसके विपरीत दयानन्द की माता मृदुता, कोमलता तथा सज्जनता की साक्षात् प्रतिमा थीं। सर्वथा अशिक्षित तथा अपठित होने के कारण उन्हें भारतीय नारी का प्रतिरूप इस अर्थ में तो कहा जा सकता है कि उन्होंने लिखना-पढ़ना नहीं सीखा था, किन्तु एक अच्छी माता तथा चतुर गृहिणी के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। वे उदार हृदययुक्त, कृपालु महिला थीं जिन्हें व्यापक सहानुभूति तथा परोपकारपूर्ण मनोवृत्ति के सद्गुण

प्राप्त थे। हमें यह तो ज्ञात नहीं कि यह दम्पती किस प्रकार अपना जीवनयापन कर रहा था, तथा उनके पारस्परिक सम्बन्ध किस तरह के थे, परन्तु यह भी मानने का कोई कारण नहीं है कि वे किसी भी प्रकार से अपने गृहस्थ-संचालन में अक्षम थे, क्योंकि भारत में इस प्रकार के विवाह-सम्बन्ध, जो प्रायः बाल्यकाल में माता-पिता द्वारा सम्पन्न कर दिये जाते हैं, अनिवार्यतः असफल ही हों—ऐसी बात नहीं है। विभिन्न गुणों और प्रकृतियों के पति-पत्नी भी ऐसी परिस्थिति में एक-दूसरे के पूरक होकर रहते हैं। इस प्रकार स्वामी दयानन्द को अपने पिता से दृढ़ संकल्प-शक्ति तथा माता से उदार स्वभाव विरासत रूप में प्राप्त करने का द्विविध लाभ मिला। दयानन्द का जन्म १८२४ ई० (१८८१ वि०) में स्वपितृगृह में हुआ।

२. शिक्षा और बोधोदय

स्वामी दयानन्द की आत्मकथा के आधार पर यह ज्ञात होता है कि इनकी शिक्षा का आरम्भ पाँच वर्ष की आयु में ही हो गया था। आठवें वर्ष में उनका यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न हुआ। द्विजन्मा हिन्दू बालकों के लिए यज्ञोपवीत एक प्रकार का स्वधर्म-प्रवेश ही है। इस समय से उसका ब्रह्मचर्य-काल आरम्भ होता है। ब्राह्मण बालक के लिए उपनयन संस्कार की उपयुक्त आयु आठ वर्ष तथा अन्यों के लिए बारह वर्ष मानी गई है। ब्राह्मण बालक का वर्णमाला-अध्ययन पाँच वर्ष की आयु में ही प्रारम्भ हो जाता है और उसे या तो उसी समय यज्ञोपवीत धारण कराया जा सकता है, अथवा कुछ समय पश्चात्, किंतु अनिवार्यतः आठ वर्ष की आयु तक तो यज्ञोपवीत हो ही जाना चाहिए। उपवीत होकर वह शास्त्राभ्यासी छात्र का जीवन औपचारिक रूप से प्रारम्भ करता है तथा स्वयं द्विज बनकर उसके प्रतीक-रूपी यज्ञोपवीत को धारण करने तथा वेद का अध्ययन करने का अधिकार प्राप्त करता है। यह संस्कार उस छात्र को अपने विद्यार्थी-जीवन में ब्रह्मचर्य-धारण, पवित्रता तथा अकिंचन जीवन-यापन करने का आदेश प्रदान करता है। छात्र-जीवन की यह अवधि सामान्यतया पच्चीस वर्ष की होती है, परन्तु कभी-कभी अपवाद रूप में इसे अड़तालीस वर्ष तक बढ़ाया जा सकता है। उपवीत होने पर छात्र एक प्रकार से दैनिक प्रार्थना-पूजा, नैत्यिक वेदपाठ, दैनन्दिन होम, गुरु-सेवा तथा मन, वचन एवं कर्म से सर्वथा पवित्र रहने एवं अपने जीवन को तपस्या की सीमा तक पहुँचानेवाली सादगी

aryasamajjammagar.org

के साथ बिताने के लिए प्रतिबद्ध हो जाता है। हिन्दुओं की अन्य बातों की भाँति यज्ञोपवीत-संस्था ने भी आज अपनी आत्मा को खो दिया है और वर्तमान में यह न्यूनाधिक रूप में एक औपचारिकता ही रह गई है, जो पुरातन काल के अवशेष तथा प्राचीन धारणाओं की स्मृति-रूप में सुरक्षित है। तथापि इस संस्कार ने अपने चारों ओर पवित्रता की एक ऐसी धारणा को संचित कर रखा है, जिसके कारण यह एक हिन्दू और विशेष रूप से सर्वोच्च वर्ण के ब्राह्मण बालक के लिए चिरस्थायी घटना बन जाती है। यज्ञोपवीत संस्कार को एक धार्मिक क्रिया के रूप में सम्पन्न किया जाता है जिसमें बालक के माता-पिता की साधन-सम्पन्नता की भी विशिष्ट भूमिका रहती है। यह अवसर महान् आनन्द एवं उल्लास का होता है तथा प्रभूत मात्रा में दानादि देने का भी।

स्मृति-ग्रन्थों के आदेशानुसार यज्ञोपवीत सम्पन्न होने पर बालक को माता-पिता के गृह का त्याग कर गुरु-गृह में प्रवेश करना पड़ता है, जहाँ उसे शिक्षा समाप्त होने तक रहना होता है। विद्या के मन्दिर से उसका पुनरागमन तब होता है जब वह स्नातक बन जाता है और इस प्रकार गृहस्थ में प्रविष्ट होने का अधिकार प्राप्त कर लेता है।

शिक्षित ब्राह्मण-परिवारों में सुपठित पिता ही अपने पुत्र को विद्या का दान करता है और इस प्रकार शास्त्राज्ञा का पालन हो जाता है, परन्तु अन्यत्र भी इस नियम को किसी न किसी रूप में पाला ही जाता है। हम यह जानने में असमर्थ हैं कि बालक मूलशंकर (दयानन्द का वास्तविक नाम) के अध्ययन-प्रसंग में क्या हुआ था, परन्तु जैसा कि दयानन्द तथा उनके पिता के पारस्परिक सम्बन्धों का हमें ज्ञान है, तथा यह भी कि पिता कितने कट्टर एवं पुराणपन्थी थे, हमारे पास यह मान लेने के कारण हैं कि पिता ने ही अध्यापक की भूमिका स्वीकार कर ली थी और इस प्रकार उसने पिता एवं गुरु के द्विविध अधिकार को स्वयं ही अपने हाथों में ले लिया था। यह परिस्थिति जॉन स्टुअर्ट मिल की परिस्थितियों के तुल्य थी। परन्तु दयानन्द जन्मना विद्रोही था, अतः उसे पिता के उन अधिकारों के विरोध में विद्रोह करने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ जो पुत्र पर सभी प्रकार के आदेशों और अनुज्ञाओं को थोपने के लिए स्वीकार किये गए थे, भले ही इन बातों का सम्बन्ध उनके पुत्र और शिष्य की आत्मिक अनुभूतियों से ही क्यों न हो! दयानन्द के पिता हिन्दू देवश्रेणी में सर्वप्रधान

त्रिदेवों में से एक—भगवान् शिव के श्रद्धालु उपासक थे। भारत के विभिन्न भागों में शिव विविध रूपों में पूजे जाते हैं—कहीं पर सृष्टि-प्रतिपालक के प्रतीक-रूप में और अन्यत्र विनाशक देवता के रूप में।

अन्य अनुष्ठानों के साथ-साथ हिन्दू पूजा-पद्धति में वर्ष में पवित्र समझे जाने वाले विभिन्न दिनों में व्रत भी रखे जाते हैं। शिवरात्रि भी एक ऐसा ही पवित्र पर्व है, जब प्रत्येक श्रद्धालु शिवभक्त से यह आशा की जाती है कि वह लगभग ३६ घण्टों अथवा उससे भी अधिक समय तक उपवास रखेगा। इसी पुराण-पद्धति के अनुसार जब दयानन्द के पिता ने उसे व्रत रखने के लिए कहा, तब उनकी आयु चौदह वर्ष की थी। माता ने यद्यपि इस विचार को पसन्द नहीं किया, परन्तु जब स्वयं दयानन्द ने ही अपने पिता के आदेश का पालन करने की इच्छा व्यक्त की, तो माता को भी सहमत होना पड़ा।

शिवरात्रि का व्रत

यह किसने सोचा था कि दयानन्द के पिता का अपने चौदह-वर्षीय पुत्र को शिवरात्रि का व्रत रखकर धार्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का यह आग्रह, दयानन्द के मन-मस्तिष्क में एक विराट् परिवर्तन ले आएगा, जो उसे अपने युग का मूर्तिपूजा का कट्टर एवं सफल विरोधी बना देगा! दयानन्द के जीवन-लेखक के शब्दों में ज्यों ही उस भविष्यसूचक रात्रि का आगमन हुआ, पिता और पुत्र ग्राम के बहिः -भाग में स्थित मंदिर में गए तथा पिता ने पुत्र को पूजा-विषयक सभी नियम समझा दिये। शिवाराधना के नियमों में एक यह भी है कि भक्त को आराध्य की मूर्ति के समक्ष प्रार्थना करते हुए रात्रि व्यतीत करनी चाहिए, अन्यथा उपवास का कोई फल नहीं मिलता। शिवार्चन का आरम्भ मंत्रोच्चारण से हुआ जिसमें सभी भक्तों ने भाग लिया। उपस्थित भक्त-मण्डली ने अत्यन्त निष्ठा एवं उत्साह के साथ पूजा के उन कार्यक्रमों में भाग लिया जो प्रायः गहरे (किन्तु अन्ध) धार्मिक विश्वासों से उत्पन्न होते हैं। रात्रि के द्वितीय प्रहर में भक्तों के इस उत्साह में न्यूनता आई, फिर भी उन्होंने यथा-तथा पूजा के शास्त्रीय नियमों का पालन किया। परन्तु ज्यों ही अर्द्ध रात्रि व्यतीत हुई, भक्तों ने यह अनुभव किया कि प्रकृति के नियमों का उल्लंघन अंधविश्वास के बल पर नहीं किया जा सकता। दयानन्द के पिता ने निद्रादेवी की शरण सर्वप्रथम ली, और पुजारी ने भी उनका अनुकरण किया। किन्तु चौदह-वर्षीय

aryasamajjammagar.org

बालक ने निद्रा के समक्ष आत्मसमर्पित न होने का दृढ़ निश्चय कर रखा था। उसने तो शास्त्राज्ञा का पालन कर ब्रतोपवासजन्य फल को प्राप्त करने का संकल्प ले रखा था। उसने निद्रा देवी को दूर रखने के वे सभी उपाय किये जहाँ उसके पिता असफल हो चुके थे। उसकी यह परिश्रम-साध्य सफलता निश्चय ही फलदायिनी सिद्ध हुई—परन्तु उस रूप में नहीं, जिसकी कल्पना मूलशंकर के पिता ने की थी।

जब यह बालक निद्रा से संघर्ष करता हुआ प्रार्थना के वाक्यों का अस्फुट उच्चारण कर ही रहा था कि उसके समक्ष एक ऐसी नितान्त साधारण तथा नगण्य घटना घट गई जिसने उसकी भावी जीवनधारा को ही बदल दिया। शिव-प्रतिमा पर एक चूहा चढ़ आया और यह जानकर कि यह मूर्ति उसका कुछ भी अहित नहीं कर सकती, भक्तों द्वारा देवता के प्रति श्रद्धावश समर्पित नैवेद्य को खाने लगा। इस विचित्र घटना ने बालक को ईमानदारी के साथ सोचने के लिए मजबूर कर दिया। उसे तो यह बताया गया था कि देवता सर्वशक्तिमान् तथा सर्वव्यापक है, यह प्रतिमा उसकी सम्पूर्ण गरिमा की प्रतिनिधि है; इतना ही नहीं, अपितु प्रतिमा स्वयं ही ईश्वर है, तथा इस मूर्ति में मनुष्य को वरदान अथवा अभिशाप प्रदान करने की शक्ति भी निहित है। परन्तु उसने जो कुछ देखा, वह तो उपर्युक्त कथनों से सर्वथा विपरीत था। यह मूर्ति तो सर्वथा जड़ वस्तु है जो खुद इस धृष्ट चूहे से अपनी रक्षा करने में असमर्थ है। तब, यह तो ईश्वरार्चन का सही प्रकार नहीं है और न मूर्ति ही स्वयं शिव है जैसा कि पुरोहित-वर्ग ने बताया था।

aryasamajjamnagar.org

बालक को तार्किक मस्तिष्क प्राप्त था। यद्यपि अभी वह छोटा ही था, किन्तु उसमें वास्तविक एवं प्रबुद्ध संदेहवाद के कारण उत्पन्न विशिष्ट साहस भी था। इस नवीन विचार ने उस पर वज्रपात का काम किया और संदेह का अंकुर उत्पन्न हो जाने के कारण मूर्ति के प्रति अब और श्रद्धाभाव समर्पित करना उसके लिए अशक्य हो गए। उसके समक्ष दुविधा उत्पन्न हो गई। न तो वह सो सकता था और न पिता को जगाए बिना उनके समक्ष अपनी शंकाओं को प्रस्तुत कर समाधान प्राप्त करने से पूर्व वह घर ही जा सकता था। पुत्र द्वारा जगाए जाने पर पिता बड़े नाराज़ हुए। प्रथम तो उनकी निद्रा में व्याघात उत्पन्न हुआ था और दूसरे, पुत्र की इस प्रकार की इस धृष्टतापूर्ण शंका ने भी उन्हें क्रुद्ध बना दिया।

परन्तु दयानन्द को इस प्रकार चुप नहीं कराया जा सकता था। उसने अपने प्रश्न का उत्तर पाने का आग्रह किया, परन्तु उसे वही उत्तर मिला जो विचारवान् तथा चतुर मूर्तिपूजक प्रायः ऐसे प्रश्नों का दिया करते हैं। पिता ने कहा—मूर्ति ईश्वर का मानवीकृत रूप नहीं है; यह तो केवल पूजा के लिए उसके प्रतिनिधि-रूप में प्रयुक्त होती है। चूँकि देवता की पूजा प्रतिमा के माध्यम से ही की जाती है, इसलिए प्रतिमा-पूजन से देवता उसी भाँति प्रसन्न होता है मानो वह स्वयं ही मूर्ति में उपस्थित है और उस पूजा को ग्रहण कर रहा है। पिता ने यद्यपि बड़े अनुग्रह-भाव से प्रस्तुत शंका का समाधान तो किया, किन्तु साथ ही पुत्र द्वारा बार-बार प्रश्न पूछने और शंकाएँ उपस्थित करने के लिए उसकी भर्त्सना भी की। उन्हें पुत्र का यह आचरण पसन्द नहीं था। उन्हें तो बिना ननुनच किये आज्ञाकारिता का भाव पसन्द था। परन्तु पुत्र में इस प्रवृत्ति का सर्वथा अभाव था। पिता के समाधान ने पुत्र को संतुष्ट नहीं किया, इसलिये उसने चुपचाप घर जाने की आज्ञा माँगी। पिता ने अनिच्छा भाव से, यह जानते हुए कि वह जोर-जबरदस्ती से पुत्र को नहीं रोक सकता, उसे घर जाने की आज्ञा दे दी, परन्तु साथ ही उसे यह चेतावनी भी दी कि सूर्योदय से पूर्व वह अपना उपवास भंग न करे। किन्तु दयानन्द ने तो अपने मन में पूर्व से ही निर्णय ले लिया था। उसने मूर्तिपूजा तथा तद्विषयक कर्मकाण्डों से पूर्णतया स्वयं को विलग कर लिया। मूलशंकर घर चला गया, उपवास तोड़ दिया और निद्रामग्न हो गया।

aryasamajjamnagar.org

प्रातःकाल जब पिता घर लौटे और उन्होंने पुत्र को निद्रामग्न देखा तो बेहद नाराज़ हुए तथा माता के प्रति भी क्रोधभाव प्रकट किया। पुत्र के जगने पर उसकी तीव्र भर्त्सना की। दयानन्द ने पिता द्वारा की गई भर्त्सना का कुछ भी बुरा नहीं माना और अपने अध्ययन में लग गया। पिता की इच्छाओं की ओर कुछ ध्यान न देकर वह अपने मनोनुकूल कार्यों में ही लगा रहा। यह स्वाभाविक ही था कि इस घटना के बाद उसका अपने पिता के प्रति आचरण बदल-सा जाता, और अब उसे अपने एक चाचा की सदाशयता और सहानुभूति पर निर्भर होना पड़ा जो दयानन्द की भावनाओं को अधिक अच्छे रूप में समझते थे तथा उसकी मनोदशा के प्रति जिनकी अधिक सहानुभूति भी थी।

जन्मजात विद्रोही

हमने इस घटना का जो थोड़े विस्तार के साथ उल्लेख किया है, उसका

अभिप्राय स्वामी दयानन्द के विकसित मस्तिष्क के सम्बन्ध में पूर्वाभास कराना है, साथ ही यह भी बताना है कि दयानन्द की प्रकृति में मूलत: मूर्तिभंजक का रूप उपस्थित था। दयानन्द जो जन्मजात विद्रोही था तथा जिसने चौदह वर्ष की आयु में ही अपने पिता के अधिकार को जिस दृढ़ता के साथ चुनौती दी, जो सामान्यत: परिपक्व लोगों में नहीं मिलती, इसी व्यक्ति के लिए यह सम्भव था कि आनेवाले वर्षों में वह न तो समाज के अत्याचारों के समक्ष झुकेगा और न परम्परागत रीति-रिवाजों के सामने आत्मसमर्पण ही करेगा। इसी घटना से यह भी सिद्ध हुआ कि यही व्यक्ति भविष्य में धार्मिक पूर्वाग्रहों और अंधविश्वासों की उन शृंखलाओं को तोड़ डालेगा जिन्होंने उसके देशवासियों के मस्तिष्कों को बंदी बना रखा है तथा जिनके चरित्र-विकास में ये चीजें बाधक बनी हुई हैं। देश के समस्त आर्यसमाजी शिवरात्रि के पर्व को दयानन्द के बोधोदय की स्मृति के रूप में मनाते हैं तथा आर्यसमाजेतर व्यक्ति भी इस समारोह में गर्व तथा उल्लासपूर्वक भाग लेते हैं।

प्रारम्भिक शिक्षा

aryasamajjamnagar.org

अब हम दयानन्द के प्रारम्भिक वर्षों की ओर लौटें। वह जिस प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर रहा था, वह पश्चिम में इस शब्द द्वारा समझी जाने वाली धारणाओं के अधिक अनुकूल नहीं थी। दयानन्द के पिता सामवेदी ब्राह्मण थे, जो अपने वर्ग में सर्वोच्च समझे जाते हैं। दक्षिण और पश्चिम भारत के सर्वश्रेष्ठ ब्राह्मण इसी वेद के नाम से अभिहित होते हैं और पहचाने जाते हैं, जिसका अध्ययन उनके वंश में परम्परागत रूप में प्रचलित रहा है। वेद चार हैं जो प्राय: चार वर्णों से जोड़ दिये जाते हैं। इनमें सामवेद को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है जो वर्ण-चतुष्टय में प्रथम ब्राह्मण-वर्ण से सम्बन्धित है। यजुर्वेद का स्थान इसके बाद आता है और उसके पश्चात् ऋग्वेद का, अन्त में अथर्ववेद की गणना होती है। यों तो चारों वेदों के अध्ययन की परम्परा है, किन्तु जिस-जिस वेद का विशिष्ट अध्ययन पृथक्-पृथक् वंशों में प्रचलित है, उनका सम्मान भी उसी क्रम से होता है। मुस्लिम आधिपत्य के दिनों में जब कि क्षिप्र राजनीतिक परिवर्तनों के कारण समाज संकटग्रस्त था, वेदों को, इस आशंका के कारण कि कहीं वे लुप्त न हो जाएँ, कण्ठस्थ कर लेना ही बुद्धिमत्तापूर्ण समझा जाता था। दयानन्द का परिवार भी सामवेदी ब्राह्मणों का परिवार था, परन्तु हमें यह ज्ञात

नहीं हो सका कि दयानन्द की शिक्षा का प्रारम्भ यजुर्वेद से क्यों हुआ।[१] चौदह वर्ष की आयु से पूर्व ही उसने पूर्ण यजुर्वेद को कण्ठस्थ कर लिया था तथा अन्य वेदों के भी अनेक अंश उसे याद थे। साथ ही उसने संस्कृत व्याकरण के कुछ गौण ग्रन्थ भी पढ़े थे। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली से अप्रभावित रहनेवाले ब्राह्मण अपनी शिक्षा का आरम्भ वेदों के मूल पाठ से ही करते हैं तथा वे व्याकरण के नियमों को भी कण्ठस्थ कर लेते हैं। तदुपरान्त व्याकरण-नियमों की व्याख्या तथा उनका प्रयोग सिखाया जाता है, परन्तु अधिकांश छात्र अर्थज्ञान की चिंता किये बिना वेदों को मात्र रटकर अपनी स्मृति में सुरक्षित कर लेते हैं। पुनः संस्कृत-साहित्य का गद्य और पद्य भाग उन्हें पढ़ाया जाता है। इसके साथ तर्कशास्त्र, दर्शन, भाषाविज्ञान, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, विधि, कर्मकाण्ड तथा अलंकारशास्त्र आदि भी पढ़ाए जाते हैं।

जीवन-मरण का रहस्य

शिक्षा की इसी सुनिर्धारित पद्धति पर दयानन्द ने अपना अध्ययन जारी रखा तथा पर्याप्त प्रगति की। वह प्रतिभा-सम्पन्न, संकल्पवान् तथा परिश्रमी छात्र था। परन्तु एक सामान्य औसत विद्यार्थी से वह कुछ विशिष्ट था। वह ज्ञान का पिपासु था। वह प्रत्येक तथ्य की गहराई तक प्रविष्ट होना चाहता था। उसकी एक प्रिय बहिन की मृत्यु ने उसे मृत्यु का कारण ढूँढने के लिए प्रेरित किया। बहिन का वियोग इतना प्रगाढ़ था कि उसे मात्र आँसुओं से व्यक्त करना ही सम्भव नहीं था। इस शोकजनक घटना ने उसे जीवन के प्रतिद्वन्द्वी मृत्यु के सम्बन्ध में गूढ़ चिन्तन करने के लिए विवश किया—मृत्यु क्या है और इसे किस प्रकार जीता जा सकता है?

युवा जिज्ञासु ने अपना अध्ययन जारी रखा, साथ ही जीवन और मृत्यु की समस्या पर उसका चिन्तन भी निरन्तर चलता रहा। इसी बीच एक ऐसी घटना घटित हो गई जिसने जीवन-मरण के रहस्य का अवगाहन करने विषयक उसकी इच्छा को और भी बलवती बना दिया। जब दयानन्द उन्नीस वर्ष के थे, उनके एक प्रिय चाचा की उसी व्याधि से मृत्यु हो गई, जिसने बहिन को भी

---

१. इसका कारण दयानन्द के पिता का शैव मतावलम्बी होना है। शैवों में यजुर्वेद की विशेष मान्यता है क्योंकि इसमें रुद्र की आराधना के अनेक मंत्र हैं। (सम्पादक)

परलोकवासिनी बना दिया था। इसी चाचा ने दयानन्द को अपनी गोद में खिलाया था तथा बड़े होने पर यही उनका विश्वासभाजन भी बना था। उन्होंने विभिन्न कठिन परिस्थितियों में दयानन्द की नानाविध सहायता की थी। चाचा का रोग अत्यन्त भीषण था, जिसने चिकित्सा की चातुरी को भी कुण्ठित कर दिया। मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ यह मुमूर्षु व्यक्ति दयानन्द की ओर अत्यन्त वत्सलभाव से देख रहा था तथा उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो रहे थे। मनुष्यों में देवता के तुल्य, अपरिमित ज्ञान के भण्डार इस पुरुष के नेत्रों की ओर देखना भी जब दयानन्द के लिए शक्य नहीं रहा, वह अचानक रो पड़ा और रोते-रोते उसकी आँखें सूज गईं। अन्ततः चाचा के जीवन का भी पटाक्षेप हो गया और दयानन्द का घर एक बार और शोकजन्य विलाप से आपूरित हो गया।

विचलित मन से दयानन्द इतस्ततः भटक रहा है। प्रायः वह अपने मित्रों और विद्वान् पण्डितों से मृत्यु पर विजय-प्राप्ति के उपायों की जिज्ञासा करता है। उत्तर में दयानन्द को बताया गया कि योगाभ्यास के द्वारा ही मृत्यु को जीता जा सकता है। दयानन्द ने इस उत्तर पर विचार किया तथा इस निर्णय पर पहुँचा कि योग की शिक्षा प्राप्त करने के लिए गृहत्याग करना होगा। मोक्ष के आनन्द की तुलना में सांसारिक आकर्षण अस्थायी तथा महत्त्वहीन है। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र की भावना का अनुसरण करते हुए दयानन्द ने विचार किया—

aryasamajjamnagar.org

सम्भूतिञ्च विनाशं च यस्तद्वेदोभꣳ सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥

—यजुः० ४०। ११

दयानन्द के हृदय को जिन भावों ने अब आपूरित कर रखा था, उनसे माता-पिता की किञ्चिन्मात्र भी सहमति नहीं थी। वे अब चौकन्ने हो गए, विशेषतः माता को अधिक चिन्ता हुई और उसने अपने पुत्र को स्वोद्देश्य-पूर्ति से विरत करने की चेष्टाएँ आरम्भ कीं।

३. गृहत्याग

दयानन्द को वैराग्य की भावना से विरत करने के लिए जो उपाय माता को सार्थक और सुगम प्रतीत हुआ, वह मानव-जाति का अतिपरिचित उपाय था जिससे लोग अत्यन्त पुरातन काल से सुपरिचित हैं—वैराग्यभाव से निवृत्त करने हेतु व्यक्ति को मोहजाल में बाँधा जाय तथा संसार के प्रति उसमें आकर्षण

उत्पन्न कर दिया जाय ताकि वह गृहत्याग की बात को सर्वथा भुला दे। संसार के सभी युगों के माता-पिताओं ने अपने युवा पुत्रों को वैराग्य-प्रवृत्ति से पृथक् करने का सर्वोत्तम उपाय विवाह को ही माना है। बुद्ध के माता-पिता ने भी इसी उपाय का सहारा लिया था और नानक के पिता ने भी इसी का अनुसरण किया था। परन्तु ये दोनों महापुरुष दयानन्द की अपेक्षा कोमल वृत्ति के थे। वे अपने माता-पिताओं की इच्छा का प्रतिवाद नहीं कर सके, फलतः माता-पिता को अपनी इच्छा पूरी करने का अवसर मिल गया, यह दूसरी बात है कि अन्ततः वे असफल रहे और बुद्ध तथा नानक ने वैराग्य ग्रहण करने में सफलता प्राप्त कर ली। दयानन्द ने माता-पिता की विवाह-विषयक योजना पर आपत्ति की और विवाह करने से इन्कार कर दिया। इस समय वह उन्नीस-वर्षीय युवक था और उसके मित्रों के हस्तक्षेप के कारण विवाह-संस्कार एक वर्ष के लिए स्थगित कर दिया गया। यह अवधि भी समाप्त हो गई और माता-पिता ने विवाह के लिए पुनः आग्रह किया। थोड़े समय के लिए ऐसा लगा मानो दयानन्द ने उनकी माँग को स्वीकार कर लिया है, किन्तु अब उसने बनारस जाकर अपने अध्ययन को पूर्ण करने की इच्छा व्यक्त की।

aryasamajjamnagar.org

काशीमाहात्म्य

बनारस[1]—'पवित्र काशी' हिन्दुओं का रोम नगर है। यह उनके लिए ऑक्सफोर्ड के तुल्य विद्या-केंद्र भी है। भारत के सभी भागों से अध्ययन में रुचि रखनेवाले विद्यार्थी संस्कृत साहित्य, हिन्दू धर्मशास्त्र तथा हिन्दू दर्शन का अध्ययन करने के लिए काशी की ओर उन्मुख होते हैं। ब्रिटिश-पूर्व के दिनों में तो काशी के प्रति छात्रों का यह आकर्षण और भी तीव्र था, क्योंकि बनारस में अध्ययन किये बिना कोई हिन्दू न तो अपनी शिक्षा को पूर्ण मानता था और न अपने-आपको विद्वान् कहलाने का अधिकारी।

सामान्य परिस्थितियों में दयानन्द का प्रस्ताव उसके माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त कर लेता, क्योंकि बनारस में अध्ययन किये हुए विद्वान् को हिन्दू शास्त्रों के अधिकारी ज्ञाता का गौरव प्राप्त होता है तथा उसकी धर्म-विषयक सम्मति का आदर राजा एवं सामान्य व्यक्ति समान रूप से करते हैं। परन्तु दयानन्द के माता-पिता ने उसकी प्रार्थना को अस्वीकार कर दिया। वे अपने

---

१. अब इसे वाराणसी नाम से पुकारते हैं। (सं०)

पुत्र के मानसिक भावों को समझते थे तथा उससे सर्वथा हाथ धो बैठना नहीं चाहते थे। इसलिये एक मध्यममार्गी समझौते के रूप में यह निश्चय हुआ कि दयानन्द एक निकटवर्ती गाँव में जाकर वहाँ के एक विद्वान् पण्डित के सान्निध्य में रहते हुए अपने अध्ययन को जारी रखे। अध्ययन-प्रसंग में एक दिन दयानन्द ने अपने मनोभावों को गुरु के समक्ष प्रकट कर दिया और गुरु ने भी यह उचित समझा कि शिष्य के वैराग्यभाव की सूचना उसके माता-पिता को समय रहते दे दी जाय। सूचना प्राप्त होते ही दयानन्द को उस गाँव से बुला लिया गया तथा वैवाहिक बन्धन में बाँधकर, गृहस्थ में प्रविष्ट होने में उसकी टालमटोल की वृत्ति को सदा के लिए समाप्त करने का निश्चय किया गया।

परन्तु माता-पिता ने पुत्र की दृढ़ संकल्प-वृत्ति का अनुमान ठीक-ठीक प्रकार से नहीं किया था। विवाह की तिथि से लगभग एक सप्ताह पूर्व उसने गृह त्याग दिया। पिता ने पुत्र का पीछा किया, परन्तु पता लगाने में असमर्थ रहा। गृह त्यागने के तीन दिन के भीतर ही उसने अपने शरीर पर धारण किये हुए आभूषणों तथा अन्य द्रव्य का त्याग कर दिया। अब वह साधु बन गया। उसने अपना नाम परिवर्तित कर लिया, भगवा वस्त्र धारण कर लिये तथा एक ऐसे गुरु की तलाश आरम्भ की जो जीवन और मृत्यु का रहस्य सुलझाने हेतु उसे दीक्षित करे तथा मोक्ष-प्राप्ति का उपाय बता सके।

aryasamajjamnagar.org

कुछ समय व्यतीत होने के अनन्तर दयानन्द के पिता को अपने पुत्र का पता एक ऐसे परिचित व्यक्ति द्वारा लगा जिसने दयानन्द को साधु के नवीन वेश में देखा था। इस बार पिता को अधिक सफलता मिली और वह दयानन्द को पकड़ने में सफल भी हो गए। दयानन्द को रात्रि के समय एक कमरे में कैद कर दिया गया तथा दरवाजे पर पहरा बिठाया गया। परन्तु कैदी ने येन-केन प्रकारेण कारामुक्त होने का निश्चय कर लिया था, अत: वह उसी रात्रि कारागार से भाग खड़ा हुआ। प्रात:काल होने तक उसके और पिता के बीच का फासला कई मीलों का था। पिता से उसकी भेंट फिर कभी नहीं हुई।

अन्तिम विच्छेद

दयानन्द का अपने घर तथा उससे सम्बन्धित बातों से यह अन्तिम विच्छेद था। गृहत्याग ने उसे सांसारिक बंधनों से भी मुक्त कर दिया। उसे अपनी माता के प्रति एक प्रकार के शोक का भाव भी अनुभव होता था, क्योंकि

माता ने अपने पुत्र को असीम प्रेम दिया था, किन्तु उसे एक महद् उद्देश्य की पूर्ति करनी थी। इस उद्देश्य को उसने १९०३ वि० (१८४५-१८४६ ई०) में ही अपने मानस नेत्रों के समक्ष, चाहे अस्पष्ट रूप में ही, प्रत्यक्ष किया था। सम्पूर्ण भारत को अपना निवास बनाने के लिए उसने अपना घर छोड़ा था। उसने मानवता से सम्बन्ध जोड़ने तथा सत्य प्राप्ति के लिए ही अपने सगे-सम्बन्धियों का त्याग किया।

जहाँ तक हमें ज्ञात है, दयानन्द ने जो कदम उठाया, उसके लिए उसे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। यह वही कदम था जिसने उसे अपने देशवासियों, अपने राष्ट्र तथा अपने ईश्वर की सेवा करने में सक्षम बनाया। वह निर्णय उसी विचार की तर्कपूर्ण परिणति थी, जो उसने अपने पिता के प्रति विद्रोह करते समय सात वर्ष पूर्व से ही बना रखा था, जब कि पिता ने अन्तःप्रेरणा-जन्य विश्वासों से सम्बन्धित मामलों में भी पैतृक अधिकारों को तानाशाही ढंग से लागू करने का रवैया अपनाया था।

aryasamajjamnagar.org

४. ज्ञान एवं सत्य की खोज

१८४५ से १८६० ई० तक की १५ वर्ष की पूर्ण अवधि में दयानन्द उत्तर-दक्षिण-पूर्व-पश्चिम प्रायः सम्पूर्ण भारत में ज्ञान एवं सत्य के अन्वेषण में भ्रमण करता रहा। भ्रमण के दौरान उसने ज्ञान के उच्चतम तथा पवित्रतम सभी स्रोतों तक पहुँचने का प्रयत्न किया। उच्चतम योग्यता के विद्वानों, बुद्धिमानों तथा धार्मिक प्रवृत्तियों से परिपूर्ण साधुओं की तलाश में वह एक स्थान से दूसरे स्थान तक घूमता रहा। जब भी उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिला, जिससे वह कुछ भी ज्ञान प्राप्त कर सकता था, उसने उस व्यक्ति के चरणों में बैठकर ज्ञान प्राप्त करने में कोई संकोच नहीं किया। कुछ गुरुजनों के सान्निध्य में उसने दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया, अन्यों से वेद का पाठ पढ़ा। इसी देशाटन के समय उसने योगाभ्यास का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त किया। सम्भवतः भारत का कोई ऐसा हिन्दू धर्मस्थान नहीं रहा होगा, जहाँ वह नहीं पहुँच सका। जो स्थान विद्या के केन्द्रस्थल माने जाते थे, वहाँ वह एकाधिक बार गया। प्रख्यात गुरुओं तथा योग की उच्चतम सिद्धियों से सम्पन्न साधकों की तलाश में वह हिमालय, विंध्य तथा अरावली पर्वतमालाओं के भीतरी भागों में भी गया।

भारत की सर्वश्रेष्ठ नदियों—गंगा, यमुना तथा नर्मदा के पुलिन-प्रदेशों का उसने बार-बार भ्रमण किया और इन नदियों के स्रोतों के समीपवर्ती पर्वतों की सर्वोच्च चोटियों पर चढ़ने का प्रयत्न भी किया। हिन्दू धर्म की यह विशेषता रही है कि उसके सर्वोत्तम धार्मिक स्थल नैसर्गिक सौन्दर्य से परिपूर्ण स्थलों के समीप रहे हैं, जो दृश्यों की भव्यता तथा जल-स्रोतों की पवित्रता के कारण प्रसिद्ध हैं। इनमें से अधिकांश हिमालय की ऊँची तथा शानदार चोटियों पर हैं जहाँ मनुष्य का पहुँचना असम्भव है। इनमें से कुछ स्थानों पर वर्ष के निश्चित समय में ही—चार या पाँच महीनों में पहुँचना सम्भव होता है। भारत की भव्य नदियों के किनारे उन हिन्दू विद्वानों के निवास-स्थान हैं, जिन्हें महीनों तक पक्व भोजन प्राप्त करना कठिन होता है। दयानन्द ने इन सभी स्थानों का भ्रमण किया था तथा इनका एक-एक कोना उनके लिए अपने गाँव की गलियों की भाँति सुपरिचित हो गया था। उन्हें प्रकृति से अत्यधिक प्रेम था तथा नैसर्गिक सौन्दर्य का उन्होंने पान किया था।

योगाभ्यास

aryasamajjamnagar.org

इसी दिव्य सौन्दर्य से परिपूर्ण प्राकृतिक वातावरण में उसने योगाभ्यास किया। इस प्रकार प्रकृति के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहते हुए दयानन्द ने अपने ध्यान को ईश्वर की ओर केन्द्रित किया, परिपूर्ण आनन्द तथा सन्तोष के वातावरण में अधिकांश समय व्यतीत कर जीवन तथा मृत्यु की गम्भीर समस्याओं पर चिन्तन किया। यहाँ रहते हुए ही उन्होंने हिन्दू सन्तों में से सर्वश्रेष्ठ तथा सर्व प्रतिष्ठित पुरुषों से परिचय प्राप्त किया, जो अपनी इन्द्रियों को अपनी प्रज्ञा के तथा प्रज्ञा को अपनी आत्मा के वशवर्ती बनाकर ध्यान, धारणा तथा आत्मानुशासन का निर्बाध जीवन व्यतीत करते थे। कई दिनों तक मात्र आरण्यक फलों को खाकर उन्होंने जीवन धारण किया, महीनों तक वे केवल दूध पर रहे तथा वर्षों तक उन्होंने निरन्तर संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी भाषा का प्रयोग नहीं किया। दयानन्द ने प्रकृति के रहस्यों में भरपूर गोता लगाया तथा ज्ञान के सभी साधनों को जानने का प्रयत्न किया। जिस किसी से भी ज्ञान प्राप्त करने की सम्भावना उन्हें प्रतीत हुई, उसका उन्होंने स्वागत किया, चाहे यह ज्ञान पुस्तकों के माध्यम से, अथवा धार्मिक परिज्ञान या आध्यात्मिक अभ्यासों से प्राप्त होने वाला क्यों न रहा हो। वे उन सभी धार्मिक संगोष्ठियों में सम्मिलित हुए तथा उन

सभी शास्त्रार्थों एवं सम्वादों में उन्होंने भाग लिया जिनके लिए भारत का धार्मिक परिवेश तथा हिन्दू धर्म सुख्यात रहे हैं। प्रायः वे भ्रमण करते हुए विभिन्न नदियों के मूल स्रोतों तक चले जाते थे। इस प्रकार उन्होंने उत्तर में गंगा तथा दक्षिण में नर्मदा के स्रोतो का भ्रमण किया तथा इन यात्राओं में आनेवाले ख़तरों का सामना करते हुए अपने जीवन को कठिनाइयों तथा निर्जन वातावरण में एकाकी रहने के अनुकूल बनाया।

कठोर जीवन

यों तो हिमालय के पार्श्ववर्ती प्रदेशों में, विशेषतः नदियों के किनारों पर भ्रमण करना सदा ही ख़तरनाक होता है, किन्तु उन दिनों में, जबकि रेलों, सड़कों, विश्राम-गृहों आदि का नितान्त अभाव था, तथा पर्वतों के निचले भागों में भी यात्री को सुगमतया शरण मिलनी कठिन थी, इन दुर्गम स्थानों की यात्राओं के ख़तरों की कल्पना करना, वर्णन करने की अपेक्षा अधिक सरल है। परन्तु दयानन्द को इन बाधाओं से किञ्चित् भी निराशा नहीं हुई। अब वह सभ्य नागर समाज में रहने के ख़तरों तथा कठिनाइयों का सामना करने के लिए अपने-आपको तैयार कर रहा था।

aryasamajjamnagar.org

दयानन्द के जीवन के ये वर्ष उनके अनुशासन-काल तथा परीक्षण-काल के थे, जिसने उन्हें आनेवाले वर्षों के जीवन के अनुकूल बनाया, परन्तु इस भावी जीवन की उसने तब तक कोई कल्पना नहीं की थी।

संन्यास

गृहत्याग के कुछ समय बाद तक वह एक ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) के रूप में रहा। हिन्दू जीवन का यह प्रथम सोपान माना जाता है। किन्तु कुछ काल बाद उसने संन्यास आश्रम की विधिवत् दीक्षा ग्रहण कर ली। सर्वस्वीकृत शास्त्र-प्रमाणों के आधार पर हिन्दू जीवन का चतुर्विध विभाजन किया गया है। प्रथम ब्रह्मचर्य-काल, जिसमें विद्याध्ययन आवश्यक कर्तव्य होता है; द्वितीय गृहस्थ-काल, जिसमें दाम्पत्य जीवन व्यतीत करते हुए गृहस्थी का जीवन व्यतीत किया जाता है; तृतीय वानप्रस्थ—सक्रिय जीवन से विश्राम लेकर ध्यान तथा एकान्तवास; चतुर्थ संन्यास—सम्पूर्ण वैराग्य तथा सेवा के लिए समर्पित जीवन व्यतीत करना। चतुर्थ एवं अन्तिम आश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व एक व्यक्ति को

प्रथम तीनों आश्रमों के लिए वर्णित कर्तव्यों का भली-भाँति पालन करना आवश्यक होता है क्योंकि इस चतुर्थ आश्रम में प्रविष्ट होनेवाले व्यक्तियों को ही समाज की ओर से सर्वोच्च सम्मान प्राप्त होता है तथा इस आश्रम के सदस्यों के प्रति समाज तथा राज्य अपना निर्विवाद विश्वास व्यक्त करते हैं। प्रथम आश्रम से सीधे चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति शास्त्रों के अनुसार उस व्यक्ति को मिलती है जो असाधारण योग्यता-सम्पन्न तथा चरित्रवान् होते हैं। परन्तु चतुर्थाश्रम में वे सीधे प्रवेश तभी कर पाते हैं जब इसी आश्रम के एक या अधिक सदस्य उनमें इस सम्मान को ग्रहण करने की पात्रता अनुभव करें।

संन्यासी के अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति इस आश्रम में किसी अन्य को दीक्षित नहीं कर सकता और एतद्विषयक नियम इतने कठोर हैं कि आचारहीनता तथा अधःपतन के इस युग में भी दयानन्द को इस आश्रम में प्रविष्ट होने में अत्यन्त कठिनाई आई। संन्यास में प्रविष्ट करने के लिए उसे एकाधिक बार इन्कार कर दिया गया, परन्तु उसकी धैर्यशीला प्रकृति शीघ्र ही पुरस्कृत हुई जब कि गृह त्यागने के कुछ वर्ष पश्चात् संन्यासियों की सर्वोच्च मण्डली में उसे प्रवेश मिल गया। वस्तुतः यह इसीलिये सम्भव हो सका, क्योंकि जिस व्यक्ति ने दयानन्द को दीक्षा दी थी, उसने उसके चरित्र के विषय में इसी प्रकार की प्रशंसापूर्ण धारणा बना रखी थी।

aryasamajjamnagar.org

हिन्दू संन्यासी के लिए अपने लिए भोजन बनाना वर्जित है। उसे अपने पास धन तथा अन्य मूल्यवान् वस्तुएँ भी नहीं रखनी चाहिएँ। उसे आवश्यकता से अधिक वस्त्र भी अपने पास रखने की आज्ञा नहीं है। उसे अपने पास न तो किसी प्रकार का द्रव्य रखना चाहिए और न किसी भौतिक लाभ देनेवाले व्यवसाय में लगना चाहिए; इसके विपरीत उसे अपने-आपको अध्ययन, चिन्तन तथा सेवा में समर्पित कर देना चाहिए। संन्यासी के लिए अपने शरीर को सुसज्जित करना भी वर्जित है। उससे यह अपेक्षा रखी जाती है कि इन्द्रिय-दमन तथा अविरत आध्यात्मिक साधना के पथ पर वह चलता रहे। उसे स्वयं को दूसरों के लिए उपयोगी तो अवश्य बनाना चाहिए, परन्तु अपनी सेवाओं के बदले में किसी प्रकार के पुरस्कार या मुआवज़े की आशा नहीं रखनी चाहिए। संन्यासी की कोई जाति नहीं होती और जाति-विषयक सभी बंधनों से वह दूर

होता है। उसे मास नहीं खाना चाहिए, परन्तु शाकाहारी भोजन वह किसी भी व्यक्ति से स्वीकार कर सकता है, चाहे उसकी जाति, सम्प्रदाय या वर्ण कुछ भी क्यों न हो। उसे स्त्रियों की संगति में नहीं रहना चाहिए, परन्तु धार्मिक उपदेशक के रूप में वह स्त्रियों को धर्मोपदेश दे सकता है। एक ही स्थान पर लम्बी अवधि तक रहना उसके लिए उचित नहीं है और न उसे कहीं अपना घर बनाना है। भोजन, आवश्यक वस्त्र तथा जूतों के अतिरिक्त उसे अन्य कोई भेंट स्वीकार नहीं करनी चाहिए।

पच्चीस वर्ष की आयु प्राप्त करने के पूर्व दयानन्द ने इसी प्रकार के जीवन को स्वीकार कर लिया था और कोई भी व्यक्ति, यहाँ तक कि उसका कट्टर शत्रु (यद्यपि उसके कई शत्रु परवर्ती जीवन में बन गए थे) भी यह नहीं कह सकता था कि उसने संन्यास-जीवन-विषयक अपनी प्रतिज्ञाओं को झुठलाया हो। विरोधियों ने उसकी शिक्षाओं की कटुतम आलोचना की, उसके उद्देश्यों के प्रति शंका की तथा उसकी निंदा भी की, किन्तु उसके जीवन तथा चरित्र के सम्बन्ध में आज तक किसी को भी शंका करने का अवसर नहीं मिला। दयानन्द के जीवन के जिस अध्याय के सम्बन्ध में हम लिख रहे हैं, उस अवधि की प्रमुख विशेषताओं को निम्न तीन शीर्षकों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया जा सकता है।

१. ज्ञान के प्रति उसकी अदम्य प्यास

दयानन्द उस वर्ग का व्यक्ति नहीं था, जो ज्ञान को किसी अधिकार-स्रोत से प्रदान किये जाने पर आसानी से स्वीकार कर लेता। वह उस ज्ञान को कदापि स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था जिसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती, अथवा जिसे तथ्यात्मक ढंग से निरूपित नहीं किया जा सकता। इस अवधि में घटित एक घटना को उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जब वह गंगा की तलहटी में भ्रमण कर रहा था, उसने एक दिन नदी में तैरते एक शव को देखा। उस समय उसके पास हठयोग की कुछ ऐसी पुस्तकें थीं जो मानव के शरीर-विज्ञान से सम्बन्ध रखती थीं। शव को देखकर उसके मन में विचार आया कि उसे उन पुस्तकों में उल्लिखित बातों को प्रमाणित कर देखना चाहिए। वह एक ऐसे जंगल में था, जहाँ मनुष्य का कोई चिह्न तक दिखाई नहीं देता था, अत: उसे इस बात की भी आशंका नहीं थी कि उसके कार्य में बाधा

डालने के लिए कोई आ सकता है। उसने शव को जल-प्रवाह से खींचकर बाहर निकाला, उसे चीरा तथा यथावत् देखा। शरीर का भली-भाँति परीक्षण करने के उपरान्त उसने पाया कि जो बातें हठयोग के ग्रन्थों में उल्लिखित हैं, वे सभी मिथ्या हैं। परिणामस्वरूप उसने वे पुस्तकें शव के साथ ही नदी में प्रवाहित कर दीं।

२. अविचलित लक्ष्य तथा अनेक प्रलोभन

दयानन्द के सम्बन्ध में द्वितीय उल्लेखनीय बात यह है कि उसने अपने जीवन का जो आदर्श अपने सम्मुख रखा, उससे वह क्षणभर के लिए भी विचलित नहीं हुआ। भारत में ऐसे अनेक धार्मिक तीर्थ और मंदिर हैं जिनके अधिष्ठाता सम्पत्तिजन्य आनन्द और विलास का जीवन व्यतीत करते हैं। उन्हें दान के रूप में प्रभूत अचल सम्पत्ति प्राप्त होती है तथा इस सम्पत्ति का राजस्व भी प्रचुर मात्रा में उन्हें मिलता है। इसके अतिरिक्त अपने शिष्यों और भक्तों से निरन्तर भेंटें भी प्राप्त होती रहती हैं। दयानन्द एक सुन्दर नवयुवक थे, स्वस्थ एवं आकर्षक व्यक्तित्व वाले, प्रतिभासम्पन्न, सुपठित, चतुर तथा धार्मिक शास्त्रार्थ-विद्या में निपुण थे। अतः एकाधिक महन्तों ने उन्हें शिष्य बनाकर अपना उत्तराधिकारी बनाने का प्रस्ताव किया, परन्तु प्रत्येक बार दयानन्द ने ऐसे प्रस्तावों को यह कहकर ठुकरा दिया कि उनका उद्देश्य भिन्न है तथा वे धन और शक्ति प्राप्त करना नहीं चाहते।

aryasamajjamnagar.org

३. दयनीय स्थिति

इस अवधि में उन्हें अनेक साधु-संन्यासियों तथा पंडितों से मिलने का अवसर मिला। इनमें से अनेक अच्छे थे तो अनेक बुरे भी। कुछ उच्च प्रकृति के थे तो अनेक क्षुद्र। कुछ ने उसे आकृष्ट किया तो अन्यों के प्रति उसके हृदय में वितृष्णा भी उत्पन्न हुई। उसकी भेंट कुछ ऐसे व्यक्तियों से हुई जिनके प्रति उसके हृदय में सर्वोच्च सम्मान था तथा जिनके चरणों में वह अत्यधिक आदर तथा वास्तविक श्रद्धा के साथ बैठा, परन्तु अब तक उसे कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिला जो उसके आदर्शों के अनुरूप गुरु का स्थान लेता। जन्म से ही क्रान्तिकारी तथा विद्रोही होने के कारण वह धार्मिक सत्ताधारियों अथवा अन्ध परम्पराओं के गुलामों को अपने आदर्श के रूप में स्वीकार नहीं कर सकता था, और न ही वह केवल त्याग अथवा चिन्तन का जीवन स्वीकार करने का इच्छुक था।

अज्ञान, पक्षपात, अन्धविश्वास, पीड़ा एवं अत्याचार से घिरे वातावरण में रहकर उसे ऐसे जीवन की कामना नहीं थी जो निष्प्राण निरानन्द तथा अशान्त हो।

वह स्वतन्त्रता का उत्कट प्रेमी था। इस सुन्दर एवं दिव्य भूमि का भ्रमण करते हुए—उस भूमि का, जो उच्चतम विचारों तथा पवित्रतम आचारों की भूमि रही है, वेदों और उपनिषदों की भूमि, कपिल, कणाद और गौतम की भूमि, जिस भूमि ने पतञ्जलि और व्यास को उत्पन्न किया, जो युधिष्ठिर और राम की भूमि है, कुमारिल और शंकर की भूमि है, उसने पाया कि सभी कुछ उलट-पलट गया है। यहाँ तक कि आर्यों की पवित्र विद्याओं के अधिष्ठाता, उपनिषदों तथा दर्शनों के प्रणेताओं के प्रतिनिधि, मनु तथा याज्ञवल्क्य की सन्तान भी अज्ञान तथा अन्धविश्वास में डूब गई है। वह धर्म जो प्रत्येक मनुष्य को विचार तथा विवेकपूर्वक चिंतन करने की स्वतंत्रता देता था, जिसमें वैचारिक मतभेदों को न केवल सहन किया जाता था, किन्तु जिनका आदर भी किया जाता था, जहाँ प्रत्येक व्यक्ति को वेदों को स्वयं पढ़ने तथा समझने का अधिकार प्राप्त था, जहाँ यह सिखाया जाता था कि मनुष्य स्वयं की आत्मा का खुद स्वामी है, जो स्वयंकृत कर्मों और विचारों का परमात्मा के समक्ष सीधा उत्तरदायी है, तथा जहाँ मनुष्य को आध्यात्मिकता के नि:शेष स्रोत तथा विश्व-स्रष्टा परमात्मा से प्रत्यक्ष सम्पर्क बनाकर प्रेरणा ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त है, उसी भव्य धर्म को अंधविश्वासों से परिपूर्ण, आत्म-विनाशक पद्धति के रूप में परिवर्तित कर दिया गया था। जो लोग ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग में किसी मध्यस्थ की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते थे तथा जो सभी प्रकार के आध्यात्मिक एवं धार्मिक बंधनों से स्वतंत्र रहने में गौरव अनुभव करते थे, उन्होंने ३३ करोड़ देवताओं की सृष्टि कर ली थी और ब्राह्मण-कुल में जन्म लेनेवालों को अपना परित्राता समझ बैठे थे। दयानन्द ने अनुभव किया कि शाश्वत ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश से आलोकित इस देश में प्रत्येक वस्तु—भौतिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक—सभी कुछ अंधकार में निमज्जित हो चुकी है। ज्ञान और प्रकाश ने इस धरती को त्याग दिया है। यहाँ तक कि मनुष्यों में जो सर्वोत्कृष्ट, पवित्रतम तथा उच्चतम हैं, वे भी दुर्बल हो गए हैं। सम्भवत: इस देश के गौरव का सूर्य अस्त हो गया है और अब वह कभी उदित नहीं होगा। इस बात को अनुभव कर उसका हृदय रोने लगा कि एक समय जो देश शक्ति एवं प्रतिभा से परिपूर्ण था, जो मानसिक

aryasamajjamnagar.org

शक्ति से भरपूर था, वही आज इतना निस्तेज, छिछला तथा दुर्बल बन गया है। उसकी आत्मा को यह जानकर दुःख हुआ कि उसके देशवासियों ने विचार-सम्बन्धी मौलिकता को खो दिया है तथा विश्व के सर्वाधिक निर्भीक, बुद्धिजीवी पथप्रदर्शकों की सन्तान आज मानसिक बंधनों तथा आध्यात्मिक दिवालियापन से ग्रस्त होकर निष्क्रिय हो गई है। उसने देखा कि हिन्दू जाति के श्रेष्ठ लोगों ने अपने भीतर निर्जीव शान्ति के लिए एक रोगी तथा उपहासास्पद मानसिकता अपना ली है। अपने मनोविकारों एवं क्षुद्र वृत्तियों से संघर्ष कर उन्हें अपनी सफलता के लिए नियोजित करने की अपेक्षा केवल कायरतावश वे उनसे दूर भाग रहे हैं। दयानन्द अब अपनी विजय-यात्रा पर निकल चुका था, इसलिये उसे ऐसे मार्गदर्शक, मित्र तथा गुरु की आवश्यकता थी, जो अपनी शिक्षा एवं आचरण के द्वारा सही मार्ग का ज्ञान करा सके। वह अज्ञान, अंधविश्वास तथा भय के भावों पर विजय प्राप्त कर मृत्यु को जीतने की कामना रखता था, तथा अन्यों को भी इसी मार्ग पर चलाना चाहता था। वह उस प्रकृति का अनुकरण करना चाहता था जो सदा क्रियाशील, सदा जागरूक एवं सदा जयशील रहती है, जब कि उसी के कुछ दृश्य छिछली बुद्धि के लोगों में मृत्युतुल्य शांति तथा निष्क्रियता के भाव भर देते हैं। उसने हिमालय से बातें की थीं, जो अपनी सदाबहार बर्फानी चोटियों तथा बादलों से आच्छादित शिखरों के कारण भव्यता धारण किये हुए है। उसने गंगा तथा नर्मदा से संवाद किया था, वह मैदानों के उन जंगलों के भीतरी भागों में प्रविष्ट हुआ था, जो सर्वथा सघन तथा अगम्य हैं। वह हिमालय पर्वत पर पाए जाने वाले ऊँचे देवदारों की छाया में सोया था। उसने पुराकालीन कठोर पाषाण-शिलाओं का आलिंगन किया था तथा जल की तीव्र धाराओं का प्रेमपूर्ण स्पर्श भी किया था। युवावस्था के इन मित्रों तथा यायावरी की अवधि के इन साथियों ने उसे परामर्श दिया था कि वह विश्राम की शान्ति को न अपनाए तथा अकर्मण्यता के जीवन को भार-रूप में स्वीकार न करे। इन मित्रों ने उसे कर्मण्यता की ओर प्रेरित किया, इन्हीं साथियों ने उसमें कर्तव्यपालन तथा सेवा के प्रति अविचलित आस्था जगाई तथा इनके द्वारा दयानन्द की आत्मा में पवित्रता, उच्चता तथा शक्ति का भाव जागृत हुआ।

aryasamajjamnagar.org

अब आधार-भूमि भली-भाँति तैयार हो चुकी थी। बीज बोए जा चुके थे। अब तो एक सतर्क उद्यान-रक्षक द्वारा इस भूमि की उर्वरा शक्ति तथा बीजों

में निहित शक्ति को पहचानते हुए जल-सिंचन की आवश्यकता थी। कालान्तर में उसे वही व्यक्ति मिल गया, जिसकी चाहना थी। वह गुरु मार्ग-प्रदर्शक तथा दार्शनिक था जिसके द्वारा बोए गए बीजों को जल से सींचा जाना था।

४. विरजानन्द सरस्वती

स्वामी विरजानन्द सरस्वती, जिनके चरणों में बैठकर दयानन्द ने अपना विद्याध्ययन समाप्त किया, संन्यासियों के उसी वर्ग के थे,[१] जिसके अन्तर्गत स्वयं दयानन्द भी परिगणित थे। विपत्तियों की पाठशाला में उनका पालन-पोषण हुआ था। दयानन्द ने तो अपने घर का त्याग इसलिए किया था कि उसके माता-पिता उससे अत्यधिक प्यार करते थे तथा उसे उस दरिद्रतापूर्ण जीवन बिताने के संकल्प से विरत करना चाहते थे, जिसे उसने अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था, परन्तु जीवन के इस लक्ष्य को उसके माता-पिता तो मात्र मृगमरीचिका ही मानते थे। दयानन्द ने गृह का त्याग भी इक्कीस वर्ष की परिपक्व आयु में किया था, और उसका यह निष्क्रमण स्वेच्छा से था, जिससे उसके माता-पिता को अत्यधिक दुःख तथा निराशा हुई थी। इसके विपरीत, अभागा विरजानन्द तो मात्र ग्यारह वर्ष का ही था, जब परिस्थितियों के थपेड़ों से वह संसार में इधर-उधर भटकने के लिए विवश हुआ। उस समय ऐसा कोई नहीं था, जो उसकी देखरेख करता। उसके माता-पिता की मृत्यु हो चुकी थी और वह अनाथ था। भारत में नियमतः भाइयों का स्वभाव उदार होता है, परन्तु विरजानन्द के प्रसंग में उसकी भावज का क्रूर स्वभाव तथा तीखी ज़बान उस ग्यारह वर्ष के बालक के लिए अधिक कष्टदायक एवं वेदनापूर्ण बन गए। इस अनाथ अवस्था में उसके दुःख की मात्रा उसके पूर्ण रूप से अंधे होने से और बढ़ गई, क्योंकि चेचक के भयंकर प्रकोप के कारण उसकी आँखों की ज्योति पाँच वर्ष की आयु में ही नष्ट हो गई थी। अंधा होने पर भी विरजानन्द इतना साहसी था कि उसने अपनी भावज के अत्याचारों के समक्ष कभी झुकना नहीं सीखा। वेदनापूर्ण हृदय को लेकर अन्ततः उसने भाई का घर त्याग दिया। जब

---

१. गिरि, पुरी, भारती, सरस्वती, वन, पर्वत, अरण्य, सागर, तीर्थ तथा आश्रम—दशनामी संन्यासियों का यह वर्गीकरण शंकराचार्य ने प्रवर्तित किया, ऐसी मान्यता है दयानन्द 'सरस्वती' की। (सम्पादक)

से वह अंधा हो गया था, उसके माता-पिता उसकी विशेष देखरेख करने लगे थे तथा उनका अपने पुत्र के प्रति प्रेम भी बढ़ गया था। माता-पिता की मृत्यु ने उन बंधनों और संसर्गों को तोड़ दिया जिनके कारण घर इतना आकर्षक तथा मधुर लगता था। अब उसके पास जो कुछ बचा था वह थी उसकी आत्मा, उसका मन तथा स्वयं के परिश्रम से इन शक्तियों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग। भाई का घर छोड़ने के पश्चात् वह हरिद्वार पहुँचा—गंगा के किनारे, जो उत्तर भारत के सबसे सुन्दर स्थलों में एक है, जहाँ गंगा पर्वतों से निकलकर मैदानों में प्रसरित होती है। हिन्दुओं का यह सर्वाधिक पावन स्थान है जहाँ साधु, संन्यासी और विद्वान् प्रायः आते रहते हैं।

प्रकृति का आकर्षण

वस्तुतः गंगा प्रत्येक हिन्दू के लिए पूजा और प्रेम की पात्र है। सैकड़ों, हजारों हिन्दू प्रतिवर्ष गंगा के निकट पुण्यलाभ हेतु आते हैं। उनमें से एक बड़ी संख्या उन लोगों की होती है जो हजारों मील की यात्रा नंगे पाँव करते हैं तथा गंगा के हिमालय-स्थित मूल उद्गम-स्थान तक जाते हैं। गंगा के उद्गम-स्थल से लेकर बंगाल की खाड़ी तक की १५०० मील की लम्बी इस भूमि में नदी के किनारों पर अनेक मंदिर तथा पूजा-उपासना एवं अध्ययन के अनेक स्थान बने हुए हैं, परन्तु उद्गम-स्थान से लेकर हरिद्वार तक का भाग तो हिन्दुओं की दृष्टि में अत्यन्त पवित्र माना गया है। गंगा के अत्यधिक धार्मिक महत्त्व के कारण यह धारणा प्रचलित हो गई है कि जो व्यक्ति इस नदी के किनारे प्राण त्याग करेगा, वह सीधा स्वर्ग जाएगा। गंगा की पवित्रता के प्रति एक श्रद्धालु हिन्दू का यह अतिरंजनापूर्ण दृष्टिकोण उसके प्रकृतिप्रेम पर आधारित है, क्योंकि प्रकृति की भव्यता तथा सौन्दर्य उसके हृदय में उल्लासपूर्ण प्रेम तथा उसके रचयिता के प्रति असीम आदर का भाव उत्पन्न करते हैं। प्रेम तथा आदर का यह भाव उसे परमात्मा के प्रति ध्यान एवं मनन करने तथा उसके निकट जाने की प्रेरणा देता है। हिमालय के इस भाग को छोड़कर जहाँ से गंगा अपने उद्गम-स्थान से निकलकर समुद्र की ओर बढ़ती है, संसार में ऐसा अन्य कोई स्थल आपको कहाँ मिलेया जहाँ से आप प्रकृति का इतना निकट का एवं जीवित सम्पर्क प्राप्त कर सकें, जहाँ से आप प्रकृति की भव्यता, पवित्रता तथा

aryasamajjamnagar.org

विभिन्न रूपों में व्यक्त उसके सौन्दर्य को देख सकें। लेखक ने हिमालय के इस भाग को देखा है तथा गंगा के किनारे बहुत दूर तक उसने भ्रमण भी किया है। इस भ्रमण से पूर्व उसे इस बात के वास्तविक कारण का ज्ञान नहीं हुआ था कि सब नदियों से इसी गंगा नदी को हिन्दुओं ने अपने प्रेम और आदर का विशेष पात्र क्यों बनाया है।

गंगा का महत्त्व

गंगा का जल संसार में अपनी पवित्रता, मृदुता तथा लवणों के प्राचुर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। इसकी ताज़गी वर्षों तक ज्यों की त्यों रहती है। हिन्दू घरों में यह जल धार्मिक उत्सवों तथा लौकिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए प्रचुर मात्रा में सुरक्षित रखा जाता है। अपने देवताओं की सौगन्ध लेने की ही भाँति लोग गंगाजल की सौगन्ध लेते हैं। कोई भी हिन्दू गंगाजल अपने हाथ में लेकर मिथ्या भाषण करने का साहस नहीं कर सकता। अध्ययन और चिंतन को अपने जीवन का लक्ष्य बनानेवाले सैकड़ों विद्वान्, साधु, योगी और पण्डित गंगा के पुलिनों पर निवास करते हैं। संस्कृत के कतिपय सर्वश्रेष्ठ एवं गम्भीर विद्वानों ने गंगा के तटवर्ती स्थानों पर रहकर विद्याध्ययन किया है तथा उसी ज्ञान का अन्यों में नि:शुल्क वितरण भी किया है।

aryasamajjamnagar.org

हिन्दुओं में अध्यापन के लिए शुल्क लेने की प्रथा नहीं है। ज्ञानदान के लिए शुल्क ग्रहण करना और उस ज्ञान के लिए, जो अध्यात्म से सम्बन्धित हो, गम्भीरतम कोटि का पाप माना गया है। ज्ञानदाता अपने ज्ञान को बेचता नहीं। ज्ञान का दाता और ग्रहीता ज्ञान के दान और ग्रहण को धार्मिक भावना के रूप में करते हैं तथा इसे पवित्र और सुखद कर्तव्य मानते हैं।

गंगा-तट

गुरु और शिष्य दोनों का भरण-पोषण धनी लोगों के निजी दान द्वारा होता है। विभिन्न तीर्थस्थलों पर अनेक अन्नक्षेत्र खुले हुए हैं जहाँ दिन में दो बार पक्व भोजन उन लोगों को दिया जाता है जो अध्ययन-अध्यापन के पवित्र कार्य में लगे हुए हैं। भोजन उन लोगों को भी मिलता है जो धार्मिक चिन्तन एवं ध्यान में लगे रहते हैं। दान का यह अनवरत स्रोत तब भी बन्द नहीं होता जबकि भारत के दूसरे भागों में लाखों लोग सूखे और अकाल से ग्रस्त होकर मरते रहते

हैं। इन अन्न-क्षेत्रों के साथ पर्याप्त मूल्य की अचल सम्पत्ति तथा स्थायी धर्मस्व निधियाँ जुड़ी रहती हैं। जब कभी इस सम्पत्ति के नष्ट होने का कोई अवसर आता है, अन्य दाता सामने आते हैं तथा दान-संस्था का यह रूप निरन्तर चलता रहता है।

पवित्र एवं धार्मिक साधु, संन्यासी तथा योगी लोग एकान्त स्थलों में निर्मित पर्ण कुटियों में निवास करते हैं, परन्तु छात्रों तथा तीर्थयात्रियों के निवास के लिए विशाल भवनों का निर्माण ईंट, पत्थर, चूने, गारे से किया जाता है। ये भवन धार्मिक प्रवृत्ति वाले दानदाताओं द्वारा निर्मित किये जाते हैं। यह प्रणाली अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है तथा बिना किसी बाधा के एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में प्रचलित रही है। इसी प्रणाली का यह प्रताप है कि आज भी दरिद्र किन्तु विद्यापिपासु छात्र, जो ज्ञानरूपी जलस्रोत का गम्भीर तथा प्रचुर रूप से पान करना चाहते हैं, इन स्थानों पर एकत्रित होकर शिक्षा प्राप्त करने तथा ज्ञान का आलोक प्राप्त करने में अपने जीवन का बहुलांश व्यतीत करते हैं। परन्तु इनमें से अनेक ऐसे भी होते हैं, जो आजीवन इन्हीं स्थानों पर रहते हैं और तब तक अन्यत्र नहीं जाते जब तक उन्हें यह विश्वास नहीं हो जाता कि वहाँ रह कर वे अध्ययन की अधिक उच्चतर सुविधाएँ उपलब्ध नहीं कर लेंगे। ऐसे अध्यापक और छात्र इन स्थानों पर सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देते हैं।

aryasamajjammagar.org

मथुरा

ऐसे ही स्थान पर विरजानन्द उस समय पहुँचे जब दुर्भाग्य ने उसे अपना घर छोड़ने के लिए विवश किया। कभी न लौटने के लिए ही उसने अपने घर से प्रस्थान किया था। कुछ ही वर्षों में उसने वह सब-कुछ सीख लिया जिसे हरिद्वार के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् सिखा सकते थे। वह एक मेधावी छात्र था, जिसे अद्भुत स्मरण-शक्ति मिली थी। अंधता ने उसकी स्मृति को और भी प्रखर बना दिया था। अपनी विद्वत्ता तथा चरित्र के कारण उसने जो आदर एवं सम्मान प्राप्त कर लिया था, उसी से प्रभावित होकर एक सर्वोच्च योग्यता तथा अपूर्व संयम रखनेवाले संन्यासी ने, अन्धे होने के बावजूद विरजानन्द को संन्यास की दीक्षा देना स्वीकार कर लिया था। कालान्तर में विरजानन्द इसी प्रदेश की एक अन्य पवित्र नगरी मथुरा में चले गए जो भगवान् कृष्ण के जन्मस्थान के कारण प्रसिद्ध है। यहीं दयानन्द की उनसे भेंट हुई।

विरजानन्द की विशिष्टता

यह दो सजातीय आत्माओं का मिलन था, एक ही श्रेणी के दो बंधुओं का समागम। विरजानन्द ने दयानन्द की शिक्षा को बढ़ाया। विरजानन्द के हृदय में मूर्तिपूजा के प्रति घृणा थी, इसी प्रकार अंधविश्वासों, प्रचलित हिन्दू जीवन में व्याप्त तुच्छताओं तथा अध्यापन की परम्परागत पद्धति के प्रति उनके मानस में प्रचण्ड अग्नि जल रही थी। उनमें एक सच्चे मूर्तिभंजक का-सा असहिष्णुता का भाव था। उनकी आत्मा में अतीत काल की महानता तथा पवित्रता के प्रति गौरव का भाव था। अनवरत परिश्रम तथा मन की निरन्तर एकाग्र वृत्ति के द्वारा उन्होंने संस्कृत भाषा और साहित्य तथा उनमें विद्यमान आध्यात्मिक कोष पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था जो भारत के उस प्रदेश में अन्यत्र दुर्लभ था। उनकी बुद्धि सर्वोच्च कोटि की थी तथा दृष्टि स्पष्ट थी। सार वस्तु से निस्सार को पृथक् करने की उनमें एक सहज शक्ति थी। अपने निरीक्षण तथा अध्ययन के क्षेत्र में आनेवाली प्रत्येक वस्तु की चीरफाड़ कर उसका विश्लेषण करने की शक्ति विद्यमान होने के कारण वे बड़ी सरलतापूर्वक प्रचलित हिन्दू विचारधारा तथा हिन्दूधर्म की दुर्बलताओं का निर्देश कर देते थे। वे यह सहज ही जान लेते थे कि भूल कहाँ पर है? इसके अतिरिक्त वे नैतिक दृष्टि से निर्भीक थे। वे जो सोचते थे उसे ही अभिव्यक्त करते थे, तथा वही बात कहते जिसमें उनका विश्वास था। प्रचलित देवताओं, पूजा के प्रचलित तरीक़ों तथा संस्कृत-अध्यापन की प्रचलित प्रणाली की उनकी आलोचना अत्यन्त तीखी तथा कठोरतापूर्ण होती थी। उनकी आलोचना से कोई बच नहीं सकता था और यही कारण था कि प्रचलित हिन्दू धर्मोपदेशकों तथा संरक्षकों के हृदय में उनके प्रति तीव्र घृणा थी। फिर भी विरजानन्द के चरित्र की इतनी प्रतिष्ठा थी, उनकी अध्यापन-शैली की इतनी प्रशंसा थी कि अंधे होने के उपरान्त भी अध्ययन हेतु एक बड़ी छात्र-मण्डली उन्हें सदा घेरे रहती थी। यह दूसरी बात है कि उनके स्वभाव की कठोरता के कारण बहुत कम विद्यार्थी पूर्ण अवधि तक उनके समीप रहकर सम्पूर्ण रूप से विद्यालाभ कर पाते थे। अकेले रहने में उन्हें कभी कोई कठिनाई भी नहीं हुई।

aryasamajjalnagar.org

यद्यपि धनी और शक्ति-सम्पन्न हिन्दू उन्हें पसन्द नहीं करते थे, किन्तु वे ही लोग उनकी आवश्यकताओं को पूरा करते थे और उनकी सेवा करते थे। यहीं उनका अपना निवास-स्थान था जहाँ उन्हें नियमित रूप से भोजन एवं वस्त्र प्राप्त होते थे।

राजपूताना के तीन राजा भिन्न-भिन्न अवसरों पर उनके शिष्य बने थे। इनमें से एक ने[१] निरन्तर तीन वर्ष तक अपना अध्ययन जारी रखा था, किन्तु जब एक दिन वे अध्ययन हेतु उपस्थित नहीं हुए तो विरजानन्द बिना सूचना दिए वहाँ से मथुरा लौट गए। एक अन्य प्रथम श्रेणी के राजा ने उन्हें संस्कृत व्याकरण का एक सरल ग्रन्थ उनके निजी उपयोग के लिए बनाने हेतु कहा, किन्तु स्वामी विरजानन्द ने इसे स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनकी धारणा थी कि ऐसा करना व्याकरण विषय पर लिखे गए ऋषियों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अपमान होगा।

aryasamajjamnagar.org

गुरु-दक्षिणा

इसी व्यक्ति के निकट बैठकर दयानन्द ने अपना अध्ययन पूरा किया तथा इसी से उन्होंने हिन्दूधर्म में व्याप्त उन सम्पूर्ण विकृतियों को दूर करने का संकल्प ग्रहण किया जो उसमें प्रविष्ट हो गई हैं। दयानन्द तो तीस वर्ष तक निरन्तर पढ़ ही रहा था। अब तो किसी उच्च शिक्षक से उनकी विद्या को परिष्कृति का स्पर्श ही दिया जाना था। दयानन्द अढ़ाई वर्ष तक विरजानन्द की सेवा में रहे, पुत्रोचित रीति से उनकी सुश्रूषा की तथा गुरु से वह सब-कुछ सीखा जो आवश्यक था। विरजानन्द उग्र प्रकृति के व्यक्ति थे तथा यदा-कदा अपने शिष्यों के प्रति उनका व्यवहार कठोरतापूर्ण हो जाता था। एक बार तो उन्होंने स्वामी दयानन्द को सचमुच शारीरिक दण्ड ही दे डाला। विरजानन्द ने शिष्य से कहा कि अब उनके पास इससे अधिक और कुछ पढ़ाने के लिए शेष नहीं है तथा उन्हें संसार में एक स्वतन्त्र उपदेशक के रूप में प्रविष्ट होने का

---

१. अलवर के राजा विनयसिंह (बन्नेसिंह)

आदेश दिया।

विदाई का दिन गुरु और शिष्य दोनों के लिए स्मरणीय था। इसी दिन विरजानन्द ने अपने शिष्य से गुरु-दक्षिणा माँगी, जो प्राचीन काल में अध्ययन-समाप्ति के समय शिष्य द्वारा गुरु को दी जाती थी। विरजानन्द यह जानते थे कि दयानन्द के पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है जिसका लौकिक मूल्य हो, और न उन्हें किसी ऐसी वस्तु की चाह ही थी। उसने शिष्य से अपने जीवन को सत्य के प्रचार में लगाने, पौराणिक धर्म की प्रचलित मिथ्या बातों को नष्ट करने तथा बुद्धपूर्व युग की शिक्षा-प्रणाली को पुनः प्रचलित करने में लगाने की प्रतिज्ञा ली। दयानन्द ने इस प्रतिज्ञा को स्वेच्छा से तथा आनन्दपूर्वक स्वीकार किया। मानव-इतिहास में सम्भवतः कोई अन्य प्रतिज्ञा इतनी निष्ठा के साथ नहीं निभाई गई जैसी दयानन्द द्वारा पूरी की गई। ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय २

सत्य के लिए संघर्ष

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

—अथर्व० १९/१५/६

१. सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक वर्ष

दयानन्द के सार्वजनिक जीवन के प्रारम्भिक वर्ष उस विस्मयकारी कार्य की तैयारी के वर्ष थे, जिसे उन्होंने अपने हाथ में लिया था। इस अवधि में उन्होंने अपने अधीत ग्रन्थों की पुनरावृत्ति की, अपने अध्ययन की समीक्षा की तथा सार्वजनिक जीवन की प्रणालियों का अभ्यास किया। उत्तर-पश्चिमी प्रान्त के अनेक नगरों का इस दौरान उन्होंने भ्रमण किया, परन्तु मुख्य रूप से वे गंगा के तटवर्ती प्रान्त-भाग में ही घूमते रहे। जहाँ कहीं भी वे गए, उनके स्पष्टवादितापूर्ण विचारों, उनकी साहसपूर्ण उक्तियों, हिन्दू धर्म की नवीन व्याख्या तथा गम्भीर विद्वत्ता ने सहस्त्रों देशवासियों को उनके भाषणों की ओर आकृष्ट किया। व्याकरण तथा वेदों का प्रगाढ़ ज्ञान ही उनका सम्बल था। अनेक लोग उनके प्रतिद्वन्द्वी बनकर तलवार चमकाते हुए आए, परन्तु अन्ततः प्रशंसक तथा अनुयायी बन कर गए। उन्होंने अनगिनत शास्त्रार्थ किये—ऊँचे और साधारण पण्डितों से, छात्रों और विद्वानों से, धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों से, संदेहवादियों से, साधुओं से व पण्डितों से। वे संस्कृत ही बोलते थे, क्योंकि संस्कृत विद्वद् वर्ग की भाषा थी। एक बात यह भी थी कि उत्तर भारत की भाषा हिन्दी उनकी मातृभाषा नहीं थी, इसलिए शास्त्रार्थों और वाद-विवादों में हिन्दी का प्रयोग करने में उन्हें संकोच होता था। वे जहाँ कहीं भी गए, हिन्दू जगत् में उनके आने से खलबली मच गई। हिन्दू धर्म के नेता उनके विरुद्ध उठ खड़े हुए जिनके स्वार्थों को स्वामी जी के उपदेशों से क्षति पहुँचती थी। ऐसे लोगों ने उनकी निंदा की, उन्हें नाना प्रकार की धमकियाँ दीं तथा एकाधिक बार तो उनके प्राणहरण करने तक का भी प्रयत्न किया। पाँच वर्ष की अवधि में कम से कम चार बार उनको मारने का यत्न किया गया। तथापि उनके जीवन, स्वभाव तथा कार्य करने की प्रणाली में एक ऐसा आकर्षण था, जिसके कारण उनके मित्रों तथा सहायकों की वृद्धि

aryasamajjammagan.org

होती गई। स्वयं को पीड़ित करनेवालों को दण्डित करने का विचार उनके मन में कभी नहीं आया। एक बार जब उनको विष देकर मारने का यत्न करनेवाला व्यक्ति पुलिस के द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया और उनके समक्ष अपराध-स्थापन के लिए लाया गया तो स्वामीजी ने उसे क्षमादान देकर छुड़वा दिया।

स्वल्प काल में ही पौराणिक समुदाय में उनकी चर्चा होने लगी। ऊँचे तथा निम्न तबकों के लोग, धनी और गरीब, सभी श्रेणियों के लोग उनके उपदेशों को भय, विस्मय तथा आदर के सम्मिलित भावों से सुनते। कुछ स्थानों पर उनके शास्त्रार्थों की अध्यक्षता उच्च अंग्रेज ज़िला-अधिकारियों ने भी की। इस प्रकार शास्त्रार्थ के दौरान शान्ति व व्यवस्था कायम रहती थी।

अपने प्रचार के प्रथम पाँच वर्षों में उनके प्रशंसकों की संख्या अनुयायियों की अपेक्षा अधिक रही। तथापि उनके अनुयायियों में उन ज़िलों के धनी-मानी व्यापारी तथा जमींदार लोग भी होते थे, जहाँ वे भ्रमण हेतु जाते रहे। यह सत्य है कि वे बहुत बड़े विद्वान् थे और बहुत कम लोग शास्त्रार्थ में उनके समक्ष खड़े होने का साहस करते थे। उनकी स्पष्टवादिता, साहस तथा प्रचलित अंधविश्वासों तथा रूढ़िपूर्ण कृत्यों के उग्र विरोध ने ही लोगों को उनकी ओर आकृष्ट किया। इससे पूर्व उनकी भेंट ऐसे व्यक्ति से कभी नहीं हुई थी। देश के एक ऐसे प्रान्त भाग में, जो उनके मूल निवास-स्थान से सैकड़ों मील दूर था, जहाँ की भाषा को भी वे स्वतंत्रतापूर्वक प्रभावशाली ढंग से नहीं बोल सकते थे, जहाँ के लोगों के लिए वे सर्वथा अपरिचित थे, जहाँ कोई ऐसा मित्र या सहायक भी नहीं था जो अवसर आने पर उनकी रक्षा करता अथवा जिस पर वे निर्भर हो सकते थे, ऐसे ही प्रदेश में उन्होंने अपने सिद्धान्तों का प्रचार दृढ़तापूर्वक एवं आक्रामक रीति से किया। उनके प्रचार की प्रणाली इतनी दृढ़ थी तथा उनके तर्कों में कुछ ऐसा बल था जो विरोधियों को भयभीत कर देता था। लोग अग्नि के समान जाज्वल्यमान इस गुरु की ओर भय एवं आतंक की दृष्टि से देखते थे। उनके शास्त्रार्थों में प्रयुक्त होनेवाली शैली सम्भवतः इस अर्थ में सर्वथा निराली तथा सर्वाधिक उपयुक्त थी, क्योंकि वे धार्मिक वाद-विवाद के अवसर पर इतने अधिकारपूर्वक तथा सीधे ढंग से अपनी बात प्रस्तुत करते थे, उनका कथन इतना अधिक पाण्डित्यपूर्ण तथा आत्मविश्वासपूर्ण होता था, उसमें युक्तियों की प्रबलता तथा तर्क का बल इस सीमा तक रहता था कि

aryasamajmargdarshak

उनका प्रथम आक्रमण ही प्रतिद्वन्द्वी को पराजित कर देता था। प्रचलित धर्म-प्रस्तोता तथा हिन्दू मत-विश्वासों के संरक्षक दयानन्द की इस मुद्रा को देखकर भयभीत हो गए। वह आक्रमण इतना भयंकर तथा आकस्मिक था कि एक के बाद एक विरोधी पक्ष की छावनियाँ आक्रमणकारी के प्रभावक्षेत्र में अनायास ही आती रहीं।

काशी-विजय

पौराणिक नेताओं ने हिन्दू धर्म के रोम, काशी में जाकर फरियाद की। उनकी यह धारणा थी कि यहाँ दयानन्द को ऐसे विरोधियों का सामना करना पड़ेया जो उसी के केंडे के हैं तथा उसे नीचा देखना पड़ेगा। दयानन्द भी इस बात को भली-भाँति जानते थे कि जब तक वे काशी पर विजय प्राप्त नहीं कर लेंगे तथा इस युद्ध को निर्णायक तौर पर नहीं जीत लेंगे, तब तक उनकी सारी अर्जित विजय अपूर्ण तथा व्यर्थ रहेगी। अतः अपने सार्वजनिक जीवन के छठे वर्ष की समाप्ति के पूर्व ही वे काशी जा पहुँचे तथा एक वृक्ष के नीचे अपना डेरा लगाकर धर्म, दर्शन तथा संस्कृत व्याकरण के सम्बन्ध में अपने विचारों का उपदेश देने लगे। इसके तुरन्त बाद एक सार्वजनिक शास्त्रार्थ की घोषणा हुई। हजारों लोगों ने इसे सुना। एक ओर बनारस के ३०० प्रमुख पण्डित तथा धर्मशास्त्री थे, तो दूसरी ओर अपने कुछ सहायकों के साथ स्वामी दयानन्द शास्त्रार्थ हेतु उपस्थित थे। महाराजा बनारस जैसे प्रभावी व्यक्ति ने शास्त्रार्थ-सभा की अध्यक्षता की। शास्त्रार्थ की समाप्ति पर दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी विजय का दावा किया, परन्तु वास्तविकता क्या थी—इसका ज्ञान हमें एक यूरोपीय मिश्नरी के द्वारा लिखे गए उस वृत्तान्त से होता है जो ईसाई धर्म के प्रचारक एक पत्र में प्रकाशित हुआ था—

aryasamajmandirnagar.org

"एक हिन्दू सुधारक"

काशी-शास्त्रार्थ

ऐसा लगता है कि जिस सुधारक ने गत कई दिनों से बनारस में हलचल मचा रखी है, उसकी कीर्ति और प्रसिद्धि अब विदेशों तक पहुँच गई है। अतः इस पत्र 'Christian Intelligencer' के पाठकों को उस व्यक्ति का परिचय, उसके विचारों की जानकारी तथा उस शास्त्रार्थ का विवरण एक ऐसे व्यक्ति के

द्वारा दिया जाना आवश्यक है जो स्वयं शास्त्रार्थ के समय उपस्थित था तथा जिसने उस सुधारक से शास्त्रार्थ की घटना से पूर्व तथा बाद में भेंट एवं वार्तालाप किया है।

इस सुधारक का नाम दयानन्द सरस्वती है। यह गुजरात के किसी ग्राम का निवासी है। दयानन्द अपने ग्राम का नाम किसी के समक्ष बताने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि उन्हें इस बात की आशंका है कि उनके पिता, जिसने अपने पुत्र को विक्षिप्त करार दे रखा है, आकर ज़बरदस्ती उसे घर ले-जा सकते हैं, जैसा कि एक बार पहले भी हो चुका है। दयानन्द सुन्दर व्यक्तित्व तथा लम्बे किन्तु सन्तुलित शरीरवाले हैं, विशेषत: मुखाकृति से उनकी प्रतिभा प्रकट होती है। उनकी बाह्य आकृति एक संन्यासी की है, जिसे हम धार्मिक भिक्षु कह सकते हैं। वे प्राय: दिगम्बर रहते हैं[1] तथा उनके शरीर पर भस्म लिपटी रहती है। वे प्रवाहपूर्वक संस्कृत बोलते हैं, परन्तु मेरी सम्मति में उनकी बोलने की शैली में अधिक परिमार्जन नहीं है तथा उनकी संस्कृत में सुधार की आवश्यकता है।[2] दयानन्द एक अच्छे तार्किक हैं तथा शास्त्रार्थ में प्राय: निष्पक्ष व्यवहार करते हैं, इस रूप में कि सामान्यतया वे अपने विरोधी को अपनी बात पूरी तरह कहने का अवसर देते हैं, परन्तु अपनी स्थिति प्रस्तुत करते समय वे अत्यधिक शास्त्रप्रमाणवादी बन जाते हैं। उनका शास्त्रीय पक्ष तथा उनका धारक मस्तिष्क पूर्ण तत्पर रहते हैं और इस विश्वास के कारण कि उनका वेदों का ज्ञान प्रतिद्वन्द्वी पण्डितों से कहीं अधिक ऊँचा है। वे अपने विरोधियों की बात को एक प्रकार की तिरस्कारपूर्ण शिष्टता के साथ सुनते हैं तथा ऐसे अवसरों पर, जब कि उनका पाला अपने से हीन कोटि के पण्डितों से पड़ता है, वे उनके पक्ष का तीव्र प्रतिवाद पूरे अधिकार के साथ करते हैं। वेदों का उनका ज्ञान परिपूर्ण है सिवाय अथर्ववेद के, जिसे उन्होंने अंशत: ही पढ़ा है। प्रथम बार उन्होंने अथर्ववेद को सम्पूर्ण रूप में तब देखा जब मैंने अपनी हस्तलिखित अथर्ववेद की प्रति उन्हें दी।

---

१. केवल कोपीन ही धारण करते हैं। (सं०)

२. एक अंग्रेज ईसाई प्रचारक का यह कथन उसके स्वयं के संस्कृत के बारे में कम ज्ञान का परिचायक प्रतीत होता है, क्योंकि दयानन्द के लिए शुद्ध संस्कृत-भाषण एक सहज क्रिया थी। वस्तुत: वह तो उनकी शिक्षा-दीक्षा की मुख्य भाषा ही थी।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि वेदों से ब्राह्मणों का अभिप्राय उससे अधिक ही होता है जितना हम लोग मानते हैं, अर्थात् उनके अनुसार चारों वेदों के अन्तर्गत केवल मंत्र-भाग ही नहीं आता, परन्तु मंत्र-भाग की व्याख्या के रूप में लिखा गया गद्यात्मक ब्राह्मण-भाग तथा उपनिषद् भी वेदों के अन्तर्गत माने जाते हैं।[१] दयानन्द ने अपनी आयु के ग्यारहवें वर्ष से ही वेद के अध्ययन के लिए अपने को सर्वात्मना समर्पित कर रखा है, अतः बनारस के पण्डितों की अपेक्षा उनका वेद-ज्ञान अधिक पूर्ण है, क्योंकि इन पण्डितों ने तो वेद के अध्ययन को अवरता दे रखी है। कुछ भी हो, दयानन्द का वेद-ज्ञान एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जो उसे अन्य पण्डितों से पृथक् करता है। वे वेद के एक स्वतंत्र अध्येता हैं तथा उन्होंने वेद के परम्परागत अध्ययन के अवरोधक तत्त्वों से अपने को मुक्त कर रखा है। शंकराचार्य का प्रसिद्ध भाष्य उनकी दृष्टि में अल्पमहत्त्व का है। अतः यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि इसी भावना से किया हुआ उनका वैदिक अध्ययन उन्हें इस विश्वास तक पहुँचा चुका है कि लगभग सारा ही आधुनिक हिन्दू धर्म वेदों से तथा लगभग २००० वर्ष पूर्व के वैदिक धर्म से सर्वथा विरुद्ध है, साथ ही वेद की शिक्षाओं से उसका सामञ्जस्य बिठाना भी नितान्त कठिन एवं असम्भव है।

aryasamajjamnagar.org

आधुनिक हिन्दू धर्म और दयानन्द

क्रियाशील व्यक्तित्वधारी पुरुष होने के कारण दयानन्द ने यह निश्चय कर लिया है कि वे अपने विश्वासों को स्वयं तक ही नहीं रखेंगे, अपितु वे उन्हें स्वदेशवासियों तक पहुँचाएँगे तथा हिन्दू समाज का पूर्णतया सुधार करेंगे। संक्षेप में, उनका लक्ष्य हिन्दू समाज को आज से २००० वर्ष पूर्व की उस स्थिति तक पहुँचाना है, जब कि न तो दर्शन के ६ सम्प्रदायों का ही जन्म हुआ था और न वे १८ पुराण ही बन पाए थे जो जातिप्रथा, मूर्तिपूजा जैसे आधुनिक हिन्दू धर्म के आचारों का विधान करते हैं। वह समय तो ऐसा था जबकि वेद और वेद-प्रतिपादित आचरणों को ही महत्ता प्राप्त थी, एक ईश्वर की उपासना का प्रचलन था तथा मात्र वेदों का ही अध्ययन किया जाता था। उस समय

---

१. स्वामी दयानन्द की धारणा इससे भिन्न थी। वे संहिता या मंत्र-भाग को ही वेद स्वीकार करते थे, व्याख्यारूप ब्राह्मण-भाग को नहीं। (अनु०)

अपने विस्तृत कर्मकाण्ड के साथ केवल हवन-यज्ञ ही पुरोहितों के द्वारा स्वयं के लिए तथा कभी-कभी सैनिक (क्षत्रिय) एवं कृषक-वर्ग के लिए भी किये जाते थे। अधिक नहीं तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सुधारक दयानन्द का यह एक चिराकांक्षित स्वप्न है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि इतिहास कभी पीछे नहीं लौटता। यह सम्भव नहीं है कि कोई देश या समाज विशेषत: हिन्दू समाज अपने कदमों को पीछे ले-जाकर २००० वर्ष पूर्व की स्थिति में चला जाएया। अत: सुधार के इस प्रतिगामी प्रयत्न को तो असफल होना ही है। परन्तु दयानन्द एक भिन्न प्रकार के सुधार के लिए तत्पर हो सकते हैं। सम्भवत: वे हिन्दुओं को इस बात का विश्वास दिला देंगे कि उनका आधुनिक हिन्दू धर्म वेदों का पूर्णतया विरोधी है। यह एक ऐसा तथ्य है जिससे कि अधिकांश हिन्दू पूर्णतया अपरिचित हैं तथा जो थोड़े-बहुत लोग इसे जानते भी हैं वे भी इसे आँखों से ओझल रखने को ही सुविधाजनक समझते हैं। यदि एक बार भी वे इस मौलिक भूल से पूर्णरूपेण परिचित हो जाएँगे, तो उन्हें हिन्दू धर्म का परित्याग करने में क्षणभर का भी विलम्ब नहीं होगा। कारण यह है कि वे उस धर्म के साथ यह जानकर ही बँधे हुए हैं कि यह अत्यन्त पुरातन काल से चला आ रहा है तथा इसे उन पूर्व-पुरखाओं की स्वीकृति प्राप्त है जिनके बारे में यह समझा जाता है कि उन्होंने परम पुरुष परमात्मा का साक्षात्कार किया था।

aryasamajjamnagar.org

आज का हिन्दू पुन: वैदिक युग में नहीं जा सकता। वह युग तो बीत गया, मृत हो चुका तथा उसका पुनरावर्तन असम्भव है। कोई नई व्यवस्था ही उसका स्थान ले सकती है। हम यह आशा करेंगे कि यह नया धर्म ईसाइयत ही हो, परन्तु भविष्य का धर्म चाहे कुछ भी क्यों न हो, वह वर्तमान में प्रचलित दानवी मूर्तिपूजा एवं जातिप्रथा से तो बेहतर ही होगा। मैं यह स्वीकार करता हूँ कि दयानन्द द्वारा सुधार के कार्य में प्रारम्भिक कदमों के रूप में उठाए जाने वाले प्रयत्नों की सफलता के प्रति भी पूर्ण आशावान् नहीं हूँ। वे गंगा के निकटवर्ती प्रान्तों में घूमते हैं। यहाँ-वहाँ बड़े नगरों व कस्बों में ठहरकर अपने विचारों का प्रचार करते हैं। जहाँ तक मेरी जानकारी है, कानपुर के निकटवर्ती फर्रुखाबाद को छोड़कर उन्हें कहीं भी उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली। परन्तु जो जानकारी मिली है, उसे यदि विश्वास-योग्य समझा जाय तो फर्रुखाबाद में उन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। कहते हैं कि वहाँ के ब्राह्मणों ने सामूहिक रूप

से उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया है तथा उन्होंने अपने मंदिरों से प्रतिमाओं का विसर्जन भी कर दिया है। यह भी निश्चित है कि उस नगर का एक धनी महाजन दयानन्द का शिष्य बन चुका है तथा उसने एक संस्कृत विद्यालय स्थापित किया है, जहाँ परिमार्जित हिन्दू धर्म की शिक्षा का ही प्रबंध है। इस बात में कोई संदेह नहीं है कि वे ज़रूरतमंद ब्राह्मण जो अपनी आजीविका के लिए दयानन्द के शिक्षा-प्रचार हेतु खोले गए विद्यालयों पर आश्रित हैं, शीघ्र ही उनके विचारों में ढल जाएँगे। परन्तु इससे अधिक सफलता मिलने की जो बात कही गई है, वह सम्भवत: अतिशयोक्तिपूर्ण है। बनारस में उनका आगमन निश्चय ही असफल रहा है। हालाँकि जो हलचल उनके आने से उत्पन्न हुई, वह पर्याप्त उत्तेजनाप्रद थी तथा बाध्य रूप से अब यह हलचल समाप्त हुई-सी प्रतीत होती है,[१] परन्तु सतह के भीतर क्षोभ अभी भी विद्यमान है। अत: यदि ईसाई मिशन के अधिकारी कोई उपयुक्त योजना बनाते हैं तथा इस सुधारक के कार्य में परोक्ष रूप से कोई सहायता देते हैं तो यह सम्भव है कि दयानन्द अपने उस लक्ष्य को पूरा करने में सफल हो सकें, जो प्रारम्भिक प्रयत्नों में असफल हो चुका है।

मुझे यह ज्ञात नहीं है कि दयानन्द बनारस में कब आए। शायद यह अक्टूबर के प्रारम्भ की बात है। मैं उस समय यहाँ नहीं था। नवम्बर में यहाँ लौटने पर मैंने उन्हें प्रथम बार देखा। मैं भरतपुर के राजा तथा एक-दो अन्य पण्डितों को साथ लेकर उनसे मिलने गया। स्वामीजी की उपस्थिति के कारण नगर में उत्तेजना की स्थिति उस समय चरम सीमा तक पहुँची हुई थी। ऐसा लगता था कि बनारस का सारा ब्राह्मण-वर्ग तथा पठित समूह उनके निकट पहुँचेगा। हनुमान सरोवर के निकटवर्ती आनन्द बाग के, कोने में एक मकान के बरामदे में बैठकर दयानन्द अपनी दैनिक धर्मसभा लगाते हैं जो प्रात:काल बड़े सवेरे से आरम्भ होकर देर रात तक चलती है। इस सभा में अनवरत रूप से लोग आते रहते हैं। कोई उत्सुकतापूर्वक उनके दर्शन करता है, उनकी बात सुनता है, तो कोई इस अभिनव सुधारक से बाद-विवाद भी करता है। फिर भी

---

१. स्पष्टत: यह विवरण शास्त्रार्थ की घटना के लगभग ५-६ मास पश्चात् लिखा गया है। —लेखक

ऐसा लगता है कि पौराणिक समुदाय के मुखिया अथवा उच्च सम्मानित पण्डितगण शायद ही कभी उनसे मिलने गए हों। वहाँ, यह भी सम्भावना है कि शायद वे कभी गुप्त रूप से उनके निकट गए हों। अन्ततः जब दयानन्द के बनारस-आगमन के कारण उत्पन्न हुई उत्तेजना चरम सीमा पर पहुँच गई, तो बनारस के महाराजा ने अपने सभा-पण्डितों तथा अन्य प्रभावशाली लोगों से परामर्श कर यह निर्णय किया कि पौराणिक विद्वानों तथा दयानन्द के बीच शास्त्रार्थ का आयोजन किया जाना आवश्यक है जिससे नगर में व्याप्त धार्मिक उत्तेजना शान्त हो तथा दयानन्द को पराजित किया जा सके। उन्हें इस बात की पूर्ण आशा थी कि शास्त्रार्थ में उनका ही पक्ष विजयी होगा; परन्तु मेरी आशंका तो यह है कि शायद प्रारम्भ से ही उन्होंने यह संकल्प कर लिया था कि येन-केन-प्रकारेण अच्छे या बुरे तरीके अपनाकर भी उन्हें शास्त्रार्थ में विजय प्राप्त करनी है।

१७ नवम्बर[1] के दिन मध्याह्न में तीन बजे से सायंकाल सात बजे तक यह शास्त्रार्थ स्वामी दयानन्द के निवास-स्थान पर ही हुआ। महाराजा स्वयं उपस्थित थे और अध्यक्ष पद पर आसीन थे। पौराणिक दल के नेता, महान् वेदान्तवादी स्वामी विशुद्धानन्द (गौड़ स्वामी) गंगा के तटवर्ती अपने तपस्या-स्थल को त्यागकर, शास्त्रार्थ में अनुकम्पापूर्वक उपस्थित हुए थे। उनके बारे में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र कहीं जाते नहीं हैं, परन्तु इस कथन में निश्चय ही अतिशयोक्ति है। स्वामी विशुद्धानन्द का शास्त्रार्थ में सम्मिलित होना इसलिए भी आवश्यक समझा गया था कि उनकी विद्वत्ता की सहायता पौराणिकता के रक्षक पण्डितों की दुर्बल युक्तियों को मिलती रहेगी और इस प्रकार दयानन्द की पराजय, जिसको पहले ही सुनिश्चित मान लिया गया था, और अधिक सम्भव हो सकेगी। परन्तु इस प्रकार की तैयारी से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि दयानन्द, पौराणिकों की दृष्टि में एक भयंकर शत्रु बन चुके थे। प्रायः सभी प्रसिद्ध पण्डित वहाँ उपस्थित थे तथा इसके अतिरिक्त उच्च वर्ग के लोगों का एक बड़ा समूह भी वहाँ विद्यमान था। इसमें पठित एवं अपठित सभी प्रकार के लोग थे। पुलिस की एक छोटी टुकड़ी भी वहाँ उपस्थित थी जो

aryasamajjamnagar.org

---

१. वस्तुतः काशी-शास्त्रार्थ १६ नवम्बर को हुआ था। (सं०)

उद्यान के द्वार पर एक बड़ी भीड़ को रोककर खड़ी थी। सम्भवत: ये लोग भीतर आने का असफल प्रयास कर रहे थे। परन्तु मेरे विचार से ये लोग एकाकी दयानन्द को उस हिंसा-काण्ड से बचाने के लिए उत्सुक थे, जो तब घटित होता यदि कुछ विरोधी यकायक उन पर हमला कर बैठते। किन्तु ऐसी कोई घटना नहीं घटी। सभी कुछ शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ सिवाय इसके कि जब शास्त्रार्थ-सभा समाप्त हुई तो पौराणिक मण्डली ने अपनी चालाकी से प्राप्त विजय के उपलक्ष्य में बेचारे सुधारक की हँसी उड़ाना आरम्भ किया। परन्तु यह विजय चाहे उचित रीति से प्राप्त की गई थी अथवा अनुचित रीति से, निश्चय ही शास्त्रार्थ के इसी परिणाम की आकांक्षा उन्होंने की थी। शास्त्रार्थ के पहले और बाद की स्थितियों में उल्लेखनीय परिवर्तन दिखाई पड़ा। जो तीव्र उत्तेजना शास्त्रार्थ के पूर्व जितनी शीघ्रता से बनी थी, शास्त्रार्थ के बाद वह उतनी ही जल्दी शान्त हो गई। दूसरी ओर, इस घटना के पूर्व जहाँ बड़ी संख्या में लोग दयानन्द से भेंट करने आते थे, अब उनकी संख्या कम हो गई। प्राय: ऐसा लगा कि दयानन्द को धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया है तथा यह घोषणा कर दी गई कि अब जो कोई व्यक्ति दयानन्द के निकट जाएगा, उसके साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाएगा।

aryasamajjamnagar.org

शास्त्रार्थ के तुरन्त बाद दयानन्द ने पौराणिकों के पास अपना लिखित प्रत्युत्तर भेजा, परन्तु मेरा अनुमान है कि इस उत्तर को कोई महत्त्व नहीं दिया गया। तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द ने लगभग एक मास पश्चात् अपने सिद्धांतों का एक विवरण तैयार कर प्रकाशित किया। इसी समय उन्होंने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को सार्वजनिक रूप से पुन: आहूत किया कि वे उसके द्वारा प्रकाशित पत्रों का उत्तर दें। परन्तु इस बार भी पौराणिक मण्डली द्वारा उपेक्षा ही की गई। तथापि जनवरी १८७० के अन्त तक स्वामीजी बनारस में ही रहे। तत्पश्चात् वे इलाहाबाद के कुम्भ मेले में सम्मिलित होने वाले जनसमूह को उपदेश देने के लिए पधारे। अन्तिम बार जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने इस बात का मानस नहीं बनाया था कि उन्हें मेले के पश्चात् बनारस लौट जाना चाहिए अथवा किसी अन्य स्थान की यात्रा करनी चाहिए। उनके प्रस्थान के बाद पौराणिक मण्डली ने भी शास्त्रार्थ के सम्बन्ध में एक पुस्तिका प्रकाशित की तथा उनके एवं स्वामीजी के बीच के सामान्य प्रश्नोत्तरों को भी प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों

को मुख्यत: तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचित किया जा सकता है-(१) हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शास्त्रों की सीमा; (२) मूर्तिपूजा तथा देवता-विषयक पुराण-शास्त्र की वास्तविकता; (३) जाति का प्रश्न। इन्हीं प्रमुख प्रश्नों से सम्बन्धित अनेक यौण बातें भी आ जाती हैं।

१. हिन्दू धर्म के अन्तर्गत शास्त्रों की सीमा

इन तीनों में से प्रथम उनके समस्त सुधारवाद का आधारबिन्दु है। जिन ग्रन्थों को वे प्रामाणिक शास्त्र की कोटि में सम्मिलित करते हैं वे निम्न २१ हैं—१-४ चार वेद, ५-८ चार उपवेद, ९-१४ छ: वेदांग, १५-बारह उपनिषद्,१६ शारीरक सूत्र, १७ कात्यायनादि श्रौत सूत्र, १८ योग भाष्य, १९ वाकोवाक्य, २० मनुस्मृति तथा २१ महाभारत[१]। इनमें से वेदों को ईश्वर के प्रत्यक्ष ज्ञान होने के कारण प्रामाणिक स्वीकार किया गया है तथा अन्य ग्रन्थों की प्रामाणिकता वेदों पर प्रत्यक्षतया आधारित होने अथवा उनमें प्रत्यक्ष उल्लिखित होने के कारण मानी गई है। इनसे भिन्न पौराणिक हिन्दुओं के द्वारा जो भी ग्रन्थ शास्त्र कहलाते

aryasamajjamnagar.org

१. चार वेद हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद। इनके साथ चारों वेदों के ब्राह्मण-ग्रन्थों की भी गणना होती है। चार उपवेद हैं—(१) आयुर्वेद-चिकित्सा-शास्त्र, जिसके अन्तर्गत दो ग्रन्थ (चरक एवं सुश्रुत) आते हैं। (२) धनुर्वेद (सेना-विज्ञान)। (३) गांधर्ववेद (संगीतशास्त्र) (४) अर्थवेद (अर्थशास्त्र)। (६) वेदाङ्ग हैं—(१) शिक्षा (वर्णोच्चारण की पद्धति), (२) कल्प (कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ), (३)व्याकरण—पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा उस पर लिखा गया पतंजलि का महाभाष्य, (४) निरुक्त—व्युत्पत्ति-शास्त्र, (५) छंद, (६) ज्योतिष (इसके अन्तर्गत केवल एक ग्रन्थ भृगु संहिता ही मान्य किया जाता है)।[१] बारह उपनिषद् हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, श्वेताश्वतर तथा कैवल्य। इनके अतिरिक्त पौराणिक पण्डितों द्वारा मान्य अन्य उपनिषद् भी हैं, किन्तु स्वामी दयानन्द उनका प्रामाण्य नहीं करते। महाभारत को पूर्ण रूप से वे नहीं मानते; इसके अनेक अंशों को प्रक्षेप मानते हैं और यदि मैं गलती नहीं करता तो भगवद्गीता को भी वे इसी कोटि में गिनते हैं।[२] शास्त्रों की यह सूची विश्वसनीय है, क्योंकि स्वामीजी ने स्वयं अपने हाथ से लिखकर यह सूची मुझे दी थी।

१. स्वामी दयानन्द ने 'भृगु संहिता' को मान्यता नहीं दी है। (सं०)

२. स्वामीजी ने भगवद्गीता को अंशत: मान्यता दी है। (सं०)

हैं—मुख्यत: छ: दर्शन[१], तथा १८ पुराण, वे स्वामी दयानन्द द्वारा मिथ्या ठहराए गए हैं, क्योंकि इनमें वर्णित बातें या तो वेदों से विरुद्ध हैं अथवा इनका उल्लेख वेदों में नहीं हुआ है। इस उपपत्ति से प्रारम्भ करते हुए वे आधुनिक हिन्दू धर्म में प्रचलित उन सभी बातों का खण्डन करते हैं जो या तो वेदों से प्रत्यक्ष विरुद्ध हैं अथवा जिनका स्पष्ट विधान वेदों में नहीं है।

इससे यह विदित होता है कि जहाँ तक प्रामाण्यवाद का सम्बन्ध है उनमें तथा पौराणिक पण्डितों की मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों ही यह मानते हैं कि केवल वेद ही सर्वोपरि प्रमाण हैं तथा उनसे जो भी विरुद्ध है वह मिथ्या है। परन्तु दोनों का अन्तर पूर्व-प्रश्न से उत्पन्न होता है : वेद क्या हैं? दयानन्द वर्तमान में उपलब्ध संहिताओं को ही वेद स्वीकार करते हैं तथा उनसे जो सिद्ध होता है उसे ही मानते हैं। इसके विपरीत दूसरे पण्डित उन वैदिक ग्रन्थों की पूर्व में विद्यमान सत्ता को भी मानते हैं जो उनके अनुसार आज लुप्त हो गए हैं। उनकी यह धारणा है कि इन विलुप्त ग्रन्थों में उन सभी बातों के प्रमाण विद्यमान थे जो हिन्दू धर्म में मान्य हैं तथा जिन्हें वर्तमान में उपलब्ध वेदों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। निश्चय ही इस स्थापना को सिद्ध करना कठिन है। परन्तु कुछ यूरोपीय पण्डित जिनमें मैक्समूलर भी हैं, यह मानते हैं कि पौराणिक विद्वानों की यह बात विश्वसनीय है। उसकी युक्ति संक्षेप में इस प्रकार है[२]—लुप्त हुए वेदों की बात सर्वप्रथम उस समय उठाई गई थी जब बौद्धों से हुए वाद-विवाद में ब्राह्मण धर्म के कुछ अंशों का वैदिक मूल सिद्ध करना आवश्यक हो गया था। अब जब कि उस प्रतिज्ञा का प्रमाणित होना कठिन है, शायद बौद्ध लोग अपने अभिप्राय को सिद्ध करने के लिए इसका उपयोग करें। सिद्ध हुआ कि यह एक ऐसा ख़तरनाक हथियार है जो शायद ही ब्राह्मण धर्म के समर्थकों के द्वारा प्रयुक्त हुआ होगा यदि इसके सत्य होने का उन्हें भरोसा न रहा हो। मुझे संदेह है कि यह कोई सुदृढ़ तर्क है। चूँकि वर्तमान में उपलब्ध वेदों में अमुक बात का कोई प्रमाण नहीं है, इसलिए ब्राह्मण धर्म के

aryasamajjammu.org

---

१. ईसाई पादरी का यह कथन सही नहीं है, क्योंकि स्वामीजी के अनुसार छहों दर्शन प्रामाणिक शास्त्रों की कोटि में आते हैं। वे इन्हें वेदों के उपाङ्ग कहते हैं।

२. द्रष्टव्य—प्रो० मैक्समूलर कृत 'एनशियेंट संस्कृत लिट्रेचर' पृ० १०६-७

अनुयायियों के लिए एकमात्र यही विकल्प बचा था कि या तो वे यह स्वीकार करते कि इस बात के लिए कोई वैदिक प्रमाण नहीं है, परन्तु उनका यह कथन निश्चय ही आत्महत्या के तुल्य होता। ऐसी स्थिति में उनके लिए यही मार्ग था कि वे ऐसे लुप्त वेदों का अस्तित्व भी मान लेते, चाहे उनकी इस स्थापना के लिए कोई आधार था या नहीं, अथवा यह धारणा भी मूलतः ख़तरनाक ही है। इन दोनों विकल्पों में से पौराणिक लोग किसे चुनते, इस बात को तो निस्संकोच रूप से कहा ही जा सकता है। किसी भी वेद के लुप्त होने की सम्भावना से दयानन्द पूर्णतया इन्कार करते हैं।[१] चाहे कुछ हो, एक निष्पक्ष जिज्ञासु इस बात से सहमत होगा कि चाहे पूर्व-काल में कुछ अन्य वैदिक ग्रन्थ लुप्त भले ही रहे हों, उनमें प्रतिपादित सिद्धांत उन वेदों के अनुकूल ही रहे होंगे, जो आज उपलब्ध हैं तथा इन वर्तमान उपलब्ध वेदों से आधुनिक हिन्दू धर्म को किसी भी रूप में समर्थन नहीं मिलता।

२. मूर्तिपूजा और देवगाथा

यह सुधारक मूर्तिपूजा को सर्वथा अस्वीकार करता है, केवल अहानिकर भूल के रूप में नहीं, अपितु एक सुनिश्चित पाप के रूप में इसे त्यागना चाहिए। वह बहुदेववाद का भी विरोधी है। उसके विचारानुसार ईश्वर एक है जो उन गुणों से युक्त है जिन्हें सामान्यतया एकेश्वरवादी लोग उसके साथ जोड़ते हैं। वह ईश्वर सर्वप्रथम वेदों की रचना करता है। तत्पश्चात् वह सृष्टि का निर्माण करता है। इस प्रकार इस संसार की तुलना में वेद शाश्वत हैं, परन्तु ईश्वर की तुलना में वेद भी शाश्वत नहीं हैं। ईश्वर के अनेक नाम हैं। भगवान् के विविध गुणों में से किसी विशिष्ट गुण को महत्त्व देने के कारण वेदों में उसके विष्णु, आत्मा, अग्नि आदि नाम वर्णित हुए हैं। यद्यपि ईश्वर संसार से पृथक् है—स्मरण रखना चाहिए कि स्वामी दयानन्द वेदान्त की विचारधारा को, जिसे सामान्यतया 'हिन्दू सर्वेश्वरवाद' भी कहा जा सकता है, अस्वीकार करते हैं, तथापि वह ईश्वर संसार में विद्यमान प्राणशक्ति तथा जीवन के अस्तित्व के कारण-रूप में

aryasamajjammagar.org

---

१. दयानन्द ने यह तो कभी नहीं कहा कि कोई वेद लुप्त हो गया है। उनकी यह धारणा अवश्य थी कि वैदिक साहित्य में से बहुत-कुछ नष्ट हो गया है। (लेखक)

सर्वत्र व्याप्त है। अतः ईश्वर को जीवनप्रदाता अग्नि के रूप में देखना चाहिए, तथा अग्नि के माध्यम से ही उसकी पूजा होनी चाहिए। परन्तु यहाँ हमें किसी ग़लतफहमी में नहीं पड़ना चाहिए। जब वह कहते हैं कि संसार में परमात्मा अग्नि-रूप है तो अग्नि का अर्थ वे भौतिक अग्नि से नहीं लेते। उनका अग्नि से अभिप्राय आत्मा अथवा सर्वोच्च प्राणशक्ति से होता है अथवा जीवन के अस्तित्वभूत सिद्धांत से। पुनः वे यह भी नहीं कहते कि सामान्य अग्नि ईश्वर की प्रतिनिधि है, परन्तु ईश्वराग्नि के सर्व उपयुक्त तथा स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष प्रकाशक होने के कारण अग्नि के माध्यम से ही सर्वोत्कृष्ट रीति से ईश्वर की पूजा की जा सकती है। अग्नि की पूजा करना हमारा लक्ष्य नहीं है, अपितु ईश्वर की पूजा में उसे साधन-रूप में प्रयुक्त करना आवश्यक है। निम्न तीन कार्यों के द्वारा ईश्वर की सेवा या पूजा समुचित रूप से की जा सकती है—वेदों को ईश्वरीय ज्ञान समझकर या जानकर उनका अध्ययन करना, नैतिक नियमों को ईश्वरीय विधान मानकर पालन करना, यज्ञ या अग्निहोत्र की प्रणाली से ईश्वरोपासना करना। इन्हीं कृत्यों का आचरण मुक्ति का साधन बनता है। मानवता के त्राण के लिए न तो कभी ईश्वर ने अवतार लिया है तथा न ही उसके द्वारा अवतार लिया जाता है। जन्म धारण करना—ईश्वर की प्रकृति के प्रतिकूल है। इसलिए दयानन्द ने हिन्दू धर्म के अवतारवाद की धारणा को इसी प्रकार अस्वीकार किया, जिस प्रकार वह ईसाई अवतारवाद का खण्डन करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे ईसा को ईश्वरावतार नहीं मानते। यदि किसी भी रूप में अवतार हुए भी हों तो वे देवताओं के थे, न कि ईश्वर के। यदि शिव, विष्णु, ब्रह्मा जैसे कई व्यक्ति अतीत में हुए हैं तो वे देवता अर्थात् उच्च श्रेणी के मनुष्य-देवदूत आदि ही थे, न कि ईश्वरीय अवतार। इस प्रकार दयानन्द पुराणों के समस्त देवगाथा-शास्त्र को पूर्णतः या अंशतः अस्वीकार कर देते हैं, विशेषतः कृष्ण से सम्बन्धित उपाख्यानों एवं कथाओं को वे कोई महत्त्व नहीं देते।

aryasamajamnagar.org

३. जाति-प्रथा

सुधारक दयानन्द की सम्मति में जाति एक राजनीतिक व्यवस्था है जिसे शासकों ने समाज के हित के लिए बनाया था; यह कोई स्वाभाविक या धार्मिक

संस्था नहीं है। यह कोई नैसर्गिक व्यवस्था भी नहीं है, क्योंकि मनुष्यों का इस प्रकार विभाजन कर ईश्वर ने उन्हें चार वर्णों के रूप में नहीं बनाया था। सभी मनुष्य समान हैं, वे एक ही वर्ग के हैं तथा परस्पर भाई हैं। यह एक धार्मिक संस्था भी नहीं है, क्योंकि किसी मनुष्य की मुक्ति तथा परलोक में उसका भविष्य जाति के आचरण पर निर्भर नहीं है। जातियाँ तो विभिन्न व्यवसायों की प्रतीक हैं जो राज्य द्वारा अव्यवस्था एवं पारस्परिक हस्तक्षेप को टालने तथा विभिन्न कामों को योग्य रीति से किये जाने हेतु प्रवर्तित की गई थीं। कुछ व्यक्तियों को, जो इन कार्यों के अधिक उपयुक्त थे, राज्य ने पूजा-उपासना करने-कराने, विज्ञान तथा साहित्य की उन्नति हेतु नियुक्त किया, वे ब्राह्मण कहलाए। अन्यों को बाह्य आक्रमणों से देश को शान्त तथा सुरक्षित रखने एवं आन्तरिक व्यवस्था स्थापित करने के काम में नियुक्त किया, जो क्षत्रिय कहलाए। कतिपय अन्यों को व्यापार और कृषि का काम सौंपा गया, जो वैश्य बने। अवशिष्ट लोगों को सभी प्रकार के अवर कोटि का कार्य करने के लिए कहा गया। वे ही शूद्र थे। प्रत्येक वर्ग के पृथक् कर्तव्यों तथा अधिकारों का निरूपण किया गया। कालान्तर में यही सब आनुवंशिक हो गया। परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, यह वर्गीकरण राज्य द्वारा निर्मित है, अत: एक शूद्र यदि ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के लिए निर्धारित गुणों का अर्जन कर लेता है तो वह राज्य द्वारा तत्-तत् वर्ण को प्राप्त कर सकता है। इसी प्रकार यदि कोई ब्राह्मण अपने क्षुद्रतापूर्ण कार्यों के कारण अधोगति को प्राप्त होता है, तो राज्य उसे शूद्र घोषित कर देता है। वस्तुत: कोई भी ब्राह्मण जो अपने कार्य के लिए अनुपयुक्त पाया जाता है, शूद्र हो जाता है। इसी भाँति एक शूद्र ब्राह्मणोचित कार्य कर अविलम्ब ब्राह्मण बन जाता है। परन्तु जब तक इस प्रकार के परिवर्तन को शासन की स्वीकृति नहीं मिल जाती, तब तक वे स्वयं की अथवा अन्य लोगों की इच्छा के अनुसार वास्तविक अर्थों में वर्ण-परिवर्तन नहीं कर सकते। शासन द्वारा वर्ण-परिवर्तन के आदेश तथा स्वीकृति के इस सिद्धांत ने स्पष्टतया स्वामीजी के एतद् विषयक विचारों को प्राय: अव्यावहारिक-सा बना दिया है। वर्तमान युग में विभिन्न वर्णों के नियमों की ओर राज्य कथमपि ध्यान नहीं देगा तथा न वह इस बात की चिन्ता ही करेगा कि एक निंदित ब्राह्मण को शूद्र बनाकर उसकी पदावनति की जाय अथवा एक चतुर एवं गुणी शूद्र को ब्राह्मण बनाकर पुरस्कृत

किया जाय। यह सब कार्य तो समाज द्वारा स्वैच्छिक रूप से किया जाना ही अभीष्ट है।[१]

वेद और मूर्तिपूजा

१६ नवम्बर को सार्वजनिक शास्त्रार्थ उसी स्थान पर हुआ जहाँ दयानन्द सरस्वती ठहरे हुए थे। ज्यों ही बनारस के नरेश शास्त्रार्थ-स्थल पर आए, स्वामी दयानन्द ने राजा के सभा-पण्डित ताराचरण तर्करत्न से, जिन्हें कि पौराणिक मत का समर्थन करने हेतु शास्त्रार्थ के प्रवक्ता-रूप में नियुक्त किया गया था, पूछा कि क्या वे वेद-प्रामाण्य को स्वीकार करते हैं? जब उन्होंने इसे स्वीकार कर लिया तो स्वामी दयानन्द ने ताराचरण से वेद के उन अंशों को प्रस्तुत करने के लिए कहा जो मूर्तिपूजा तथा पाषाणादिपूजन की आज्ञा देते हैं। ऐसा सिद्ध करने में असमर्थ होकर ताराचरण कुछ समय तक तो पुराणों के ही प्रमाण प्रस्तुत करते रहे। अन्ततः दयानन्द को यह कहना पड़ा कि वे मात्र मनुस्मृति तथा शारीरिक सूत्रों को ही प्रमाण मानते हैं, क्योंकि ये वेदों पर आधारित हैं। विशुद्धानन्द ने इस बीच हस्तक्षेप करते हुए वेदान्तदर्शन का एक सूत्र प्रस्तुत किया तथा स्वामी दयानन्द से पूछा कि वे इस सूत्र का वेद में मूल बताएँ। कुछ संकोच के अनन्तर दयानन्द ने उत्तर दिया कि ऐसा वे वेदों को देखकर ही बता सकते हैं, क्योंकि उन्हें सब वेद स्मरण नहीं हैं। इस पर विशुद्धानन्द ने व्यंग्योक्ति करते हुए कहा कि यदि उन्हें समस्त वेद स्मृत नहीं हैं, तो वे काशी में धर्मप्रचार के लिए किस बलबूते पर आए हैं? दयानन्द ने उत्तर में कहा कि किसी भी पण्डित को समस्त वेद याद नहीं हैं। इस पर विशुद्धानन्द तथा अन्य अनेक पण्डितों ने दावा किया कि उन्हें वेद कण्ठस्थ हैं। इस पर बहुत प्रश्नोत्तर हुए, जो शास्त्रार्थ के मूल विषय से सर्वथा असम्बन्धित थे। शायद ये प्रश्न स्वामी दयानन्द द्वारा यह बताने के लिए उठाए गए थे कि उनके विरोधियों ने जो वेदों को कण्ठस्थ करने के दावे किये हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। विरोधी लोग उनके एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं दे सके। अन्त में पण्डितों ने शास्त्रार्थ का सूत्र पुनः अपने हाथ में लेते हुए स्वामी दयानन्द से पूछा कि क्या वेदों में प्रयुक्त 'प्रतिमा एवं पूर्ति' शब्द मूर्तिपूजा के विधायक नहीं हैं? स्वामी

aryasamajjamnagar.org

---

१. स्वामी जी ने इसी व्यवस्था का अनुमोदन सत्यार्थप्रकाश में किया है। —सं०

दयानन्द का उत्तर था कि सही ढंग से व्याख्या करने पर इन शब्दों से मूर्तिपूजा सिद्ध नहीं होती। उनके विरोधियों ने स्वामीजी के इस कथन का कोई प्रतिवाद नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि या तो उन्होंने स्वामीजी के कथन की सत्यता स्वीकार कर ली थी अथवा उनका वेद का ज्ञान इतना अल्प था कि उनका प्रतिवाद करना भी उनके लिए कठिन था। तदनन्तर माधवाचार्य नामक एक सामान्य कोटि का पण्डित उठ खड़ा हुआ और उसने वेद के हस्तलिखित दो पन्ने प्रस्तुत किये तथा उनमें विद्यमान एक प्रसंग को पढ़ते हुए कहा कि यहाँ पुराण शब्द पढ़ा गया है, पुनः पूछा कि यहाँ इस शब्द का क्या अर्थ है? दयानन्द ने उत्तर में कहा कि यहाँ 'पुराण' शब्द एक सामान्य विशेषण के रूप में 'प्राचीन' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं है। विशुद्धानन्द ने स्वामी दयानन्द की इस व्याख्या को चुनौती दी। तब इस शब्द के व्याकरणिक अर्थ को लेकर थोड़ी देर तक वाद-विवाद होता रहा। परन्तु अन्ततः सभी लोग सन्तुष्ट प्रतीत हुए।

इसके पश्चात् माधवाचार्य ने दो अन्य पन्ने वैदिक हस्तलेखों के प्रस्तुत किये तथा उन्हें पढ़ते हुए यह आशय स्पष्ट किया कि यज्ञ की समाप्ति पर दसवें दिन यजमान को चाहिए कि वह 'पुराण' का श्रवण करे। साथ ही यह भी पूछा कि यहाँ 'पुराण' शब्द विशेषण रूप में कैसे आ सकता है? दयानन्द ने वे पन्ने हाथ में ले लिये और विचारने लगे कि क्या उत्तर देना चाहिए। उनके विरोधियों ने दो मिनट के लिए प्रतीक्षा की और उसके बाद भी जब उन्हें उत्तर नहीं मिला तो वे उठ खड़े हुए, स्वामीजी का उपहास करने लगे तथा यह कहते हुए चले गए कि दयानन्द से हमारे प्रश्न का उत्तर देते नहीं बना, इसलिए वे पराजित हो गए हैं। निश्चय ही विरोधियों द्वारा स्वामी दयानन्द को उत्तर देने के लिए थोड़ा और समय देना चाहिए था, परन्तु यह स्पष्ट है कि उत्तर देते समय वे दिग्भ्रमित हो गए थे[1] और जो उत्तर उन्होंने बाद में एक पुस्तिका में प्रकाशित कराया वह यह था कि इस प्रसंग में 'पुराण' के साथ 'विद्या' शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए, इस प्रकार उस पद का अर्थ 'पुरानी विद्या' होगा जो कि वेदों का ही वाचक है। परन्तु यह उत्तर बहुत अधिक संतोषप्रद नहीं है।

aryasamajjampagar.org

१. स्वामी जी कतई दिग्भ्रमित नहीं हुए थे। उन्होंने पुराण शब्द को सामान्य अर्थ में लिया है। —सं०

इस बात में कोई संदेह नहीं है कि आलोचित प्रसंग में 'पुराण' शब्द अठारह पुराणों का ही वाचक है तथा इन्हीं ग्रन्थों का उल्लेख इस स्थान पर हुआ है, परन्तु चूँकि यह अंश सामवेद के एक ब्राह्मण का है तथा इसमें अनेक नवीन प्रक्षेप भी हुए हैं, अत: ग़ैर-हिन्दुओं की दृष्टि में इस ग्रंथ का बहुत अधिक महत्त्व नहीं हो सकता। मेरा तो यह कहना है कि स्वामी दयानन्द की दृष्टि में भी इस ग्रंथ का कोई विशेष महत्त्व नहीं है, क्योंकि एक बार वार्तालाप के प्रसंग में वे मुझे यह कह चुके हैं कि ब्राह्मण-ग्रंथों में नवीन प्रक्षिप्त अंश हैं, अत: मूर्तिपूजा का विधायक कोई भी ऐसा अंश जाली और बनावटी ही माना जाएगा।

सुधारक दयानन्द ईसाइयत से अपरिचित नहीं हैं। उन्होंने बाइबिल पढ़ी है, हालाँकि बहुत सावधानी से न पढ़ी हो। मेरा इस सम्बन्ध में उनसे वार्तालाप हुआ है। परन्तु इस समय उनके मस्तिष्क में सुधार-कार्य की स्वनिर्मित योजनाएँ ही हैं और इसी कारण वे अन्य धर्मों की श्रेष्ठता या उत्कृष्टता के दावों पर गम्भीरता से विचार करने के लिए उत्सुक प्रतीत नहीं होते।[१]

aryasamajjamnagar.org

बहुत समय तक काशी के इस शास्त्रार्थ को लेकर भारतीय तथा ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों में गर्मागर्म बहस होती रही।[२] यह विषय इतने महत्त्व का था तथा साथ ही जनता की दृष्टि से इतना रोचक भी कि इलाहाबाद के अर्द्ध-सरकारी ऐंग्लो-इण्डियन पत्र 'पायनियर' ने इस विषय पर चर्चा के लिए अपने स्तम्भ खोल दिये। यह घटना समस्त भारत में चर्चा का केन्द्रीय विषय बन गई तथा इसने लोगों में असाधारण रुचि जागृत की।

---

१. ए०एफ०आर०एच० (रूडोल्फ हार्नले) लिखित लेख जो कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले 'दि क्रिश्चियन इण्टैलिजेंसर' पत्र के मार्च १८७० के अंक में पृष्ठ ७९ पर प्रकाशित हुआ।

२. शास्त्रार्थ को लेकर पक्ष तथा प्रतिपक्ष द्वारा अनेक लघु पुस्तकें प्रकाशित की गईं जिनमें घटना का अपने-अपने दृष्टिकोण से विवरण दिया गया था तथा शास्त्रार्थकर्ताओं की योग्यता का भी विश्लेषण किया गया था। पूर्वाग्रह रखनेवाले तथा पक्षपात-भाव से मुक्त सभी प्रकार के लोग इस बात से सहमत थे कि दयानन्द बड़े विद्वान् हैं तथा उनका संस्कृत-ज्ञान अद्वितीय है। और कि काशी-शास्त्रार्थ में पौराणिक पंडित वेद में मूर्तिपूजा नहीं है, दयानन्द की इस स्थापना को असत्य सिद्ध करने में सफल नहीं हुए और इस प्रकार दयानन्द की शास्त्रार्थ में विजय हुई।

शास्त्रार्थ की इसी तिथि को दयानन्द द्वारा हिन्दू धर्म के सुधार हेतु किये जाने वाले प्रभावी प्रयत्नों के आरम्भ का दिन समझना चाहिए। यह धर्म जातिप्रथा, अंधविश्वास तथा जनसाधारण की त्रुटियों से सर्वथा शून्य होगा—ऐसी कल्पना स्वामी दयानन्द की थी।

ब्रह्मसमाज

बनारस से स्वामी दयानन्द ने पूर्व की ओर प्रस्थान किया तथा वे तत्कालीन भारत की राजधानी एवं भारत की ब्रिटिश सत्ता के मुख्यालय कलकत्ता पहुँचे। ब्रह्मसमाज ने उनका हार्दिक स्वागत किया तथा उसके कुछ नेताओं ने तो अपने आन्दोलन में सहायता लेने के उद्देश्य से उनसे विचार-विमर्श भी किया। परन्तु स्वामी दयानन्द वेदों की निर्भ्रान्तता तथा जीवों के पुनर्जन्म के अपने दो प्रमुख सिद्धांतों के प्रति अडिग रहे। यही वे प्रधान सिद्धांत हैं जिनको लेकर आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज में मतभेद है। तथापि उनकी इस कलकत्ता-यात्रा ने स्वामीजी को अंग्रेजी-शिक्षित समाज के नेताओं के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने तथा निकटवर्ती सम्बन्ध स्थापित करने में सहायता दी। ब्रह्मसमाज के प्रशंसित नेता बाबू केशवचन्द्र सेन ने स्वामीजी को परामर्श दिया कि धर्मप्रचार के लिए लोकभाषा का प्रयोग सर्वोत्तम साधन है। यह एक व्यावहारिक सुझाव था जिसे स्वामीजी ने तत्परता एवं कृतज्ञता के साथ स्वीकार कर लिया। इस सुझाव को तुरन्त क्रियान्वित भी किया गया। अकेला यही एक कदम स्वामी दयानन्द के कार्य को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सका, क्योंकि लोकभाषा के प्रयोग ने उन्हें देशवासियों के आम समूह के निकट पहुँचा दिया। कलकत्ता में उनका परिचय रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर से भी हुआ। ठाकुर महाशय का ब्राह्मधर्म ब्रह्मसमाज के अन्य नेताओं के धार्मिक विश्वासों की अपेक्षा स्वामी दयानन्द के सिद्धांतों के अधिक निकट था। अपने सिद्धांतों के प्रचार में दो वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् स्वामीजी बम्बई चले गए जहाँ उनके कार्य को अन्ततः एक संगठित रूप प्राप्त हुआ। ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय ३

आर्यसमाज की स्थापना तथा स्वामी दयानन्द का निधन

१. आर्यसमाज का विधान

प्रथम आर्यसमाज की स्थापना बम्बई में १० अप्रैल १८७५ को हुई थी। उस समय जो नियम निर्धारित किये गए थे, वे इस संस्था के सिद्धांतों तथा संविधान के परिचायक थे। यहाँ हमने न्यून महत्त्व के नियमों को छोड़ दिया है—

२. इस समाज में मुख्य स्वत:प्रमाण वेदों का ही माना जाएगा। साक्षी के लिए, वेदों के ज्ञान के लिए तथा आर्य इतिहास के लिए शतपथादि ४ ब्राह्मण, ६ वेदाङ्ग, ४ उपवेद, ६ दर्शन, ११२७ वेदों की शाखा—वेदव्याख्यान, आर्ष सनातन संस्कृत-ग्रन्थों का भी वेदानुकूल होने से गौण प्रमाण माना जाएगा।

aryasamajjamnagar.org

३. प्रत्येक प्रदेश में एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज उसके शाखा-प्रशाखा होंगे।

५. प्रधान समाज में वेदानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तकें होंगी और एक 'आर्यप्रकाश' पत्र यथानुकूल साप्ताहिक निकलेगा। ये ग्रन्थ और पत्र सभी समाजें मंगाया करेंगी।

८. इस समाज के सभासद सत्य भाषणयुक्त, सत्य नीतिपूर्ण, सिद्धान्तनिष्ठ, शुद्ध आचरणवाले तथा परोपकार-वृत्तिवाले होंगे।

९. जो गृह-कार्य से अवकाश प्राप्त हो तो वह जैसा गृह-कार्यों में पुरुषार्थ करता है उससे अधिक पुरुषार्थ इस समाज की उन्नति के लिए करे और विरक्त हो तो नित्य ही इस समाज की उन्नति करे, अन्यथा नहीं।

११. एकत्रित होकर सर्वथा स्थिरचित्त हो, परस्पर प्रीति से पक्षपात छोड़कर प्रश्नोत्तर करें, फिर सामवेदादि गान, परमेश्वर, सत्य धर्म, सत्य नीति तथा सत्योपदेश के सम्बन्ध में वाद्य-यन्त्रों से संगीत हो और इसी विषय पर मंत्रों का अर्थ और व्याख्यान, पुन: गान, फिर व्याख्यान और फिर गान हो।

१२. प्रत्येक सभासद न्यायपूर्वक पुरुषार्थ से जितना धन प्राप्त करे, उसमें से आर्यसमाज, आर्य विद्यालय और 'आर्यप्रकाश' पत्र के प्रचार और उन्नति के लिए आर्यसमाज के धनकोष में एक प्रतिशत प्रीतिपूर्वक दे, अधिक देने से अधिक धर्मफल। इस धन का व्यय इन्हीं कार्यों में हो, अन्यत्र नहीं।

१३. जो मनुष्य इन कार्यों की उन्नति और प्रचार के लिए जितना प्रयत्न करे, उसका उत्साहवर्धन करने के लिए यथायोग्य सत्कार होना चाहिये।

१४. इस समाज में वेदोक्त प्रकार से हर एक को स्तुति, प्रार्थना और उपासना अद्वितीय परमेश्वर की ही करनी होगी, अर्थात् निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, दयालु, सर्वजगत्पिता, सर्वजगत्माता, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, अनन्त सुखप्रद, धर्मार्थ-काममोक्षप्रद इत्यादि विशेषणों से परमात्मा की ही स्तुति, उसका कीर्तन, प्रार्थना, उससे सर्वश्रेष्ठ कार्यों में साहाय्य चाहना, उपासना उसके आनन्दस्वरूप में मग्न हो जाना। सो पूर्वोक्त निराकारादि लक्षणवाले की ही भक्ति करनी, उसके सिवाय किसी और की कभी नहीं करनी।

१५. इस समाज में निषेकादि अन्त्येष्टि पर्यन्त संस्कार वेदोक्त किये जाएँगे।

१६. आर्य विद्यालय में वेदादि सनातन आर्ष ग्रन्थों का पठन-पाठन कराया जाएगा और वेदोक्त रीति से ही सत्य शिक्षा सब पुरुषों और स्त्रियों के सुधार हेतु होगी।

१७. इस समाज में स्वदेश के हितार्थ दो प्रकार के सुधार हेतु प्रयत्न किया जाएगा—प्रथम परमार्थ, दूसरा लोक-व्यवहार। इन दोनों के शोधन और शुद्धता से ही संसार का हितसाधन समाज का उद्देश्य होगा।

१८. इस समाज में न्याय वही माना जाएगा जो पक्षपातरहित अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित, सत्य धर्म वेदोक्त होगा; इससे विपरीत को यथाशक्ति न माना जाएगा।

१९. इस समाज की ओर से श्रेष्ठ विद्वान् सर्वत्र सदुपदेश के लिए समयानुकूल भेजे जाएँगे।

२०. स्त्री और पुरुष दोनों के विद्याभ्यास के लिए प्रत्येक स्थान में यथाशक्ति पृथक्-पृथक् विद्यालय स्थापित किये जाएँगे। स्त्रियों की पाठशाला में अध्यापन और सेवा-प्रबन्ध स्त्रियों द्वारा ही किया जाएगा और पुरुष-पाठशाला में पुरुषों के द्वारा। अन्यथा नहीं।

२२. इस समाज में प्रधान आदि सब सभासद परस्पर प्रीति के लिए अभिमान, हठ, दुराग्रह और क्रोध आदि दुर्गुण छोड़कर उपकार, सुहृदता से सबसे निर्वैर होकर स्वात्मवत् संप्रीति का आचरण करेंगे।

२३. विचार के समय सब व्यवहारों में न्याययुक्त सबके हित की जो सत्य बात भली प्रकार विचार के पश्चात् स्थिर हो, उसी को सब सभासदों द्वारा स्वीकार करना होगा, इसके विपरीत को नहीं। इसी को पक्षपात-त्याग कहते हैं।

२४. जो पुरुष इन नियमों के अनुकूल आचरण करनेवाला धर्मात्मा, सद्गुणी हो, उसको समाज में उच्चतम संगठन में प्रविष्ट करना, उसके विपरीत गुणवाले को समाज का साधारण सदस्य रखना चाहिये। अत्यन्त भाव से दुष्ट प्रकृति के पुरुष को समाज से निकालना चाहिये, परन्तु यह काम पक्षपातपूर्वक नहीं किया जाना चाहिये, अपितु किसी सभासद को समाज में रखना या निकालना श्रेष्ठ सभासदों द्वारा विचारपूर्वक ही किया जाय, अन्यथा नहीं।

aryasamajjamnagar.org

२७. जब विवाह, पुत्र-जन्म, महालाभ, या मृत्यु, या कोई समय दान व धन-व्यय करने का हो, तब आर्यसमाज के लिए धन आदि का दान दिया करें। ऐसा धर्म का काम (समाज को दान देने से भिन्न) और कोई नहीं है, इसे निश्चय जानें और कदापि विस्मृत न करें।

२८. इन नियमों में कोई नया नियम जोड़ा जाय या पृथक् किया जाय अथवा न्यूनाधिक किया जाए, तो वह सब श्रेष्ठ सभासदों द्वारा विचार किया जाय तथा इस परिवर्तन की सूचना भी सबको यथासमय दे दी जाय।

यहाँ बम्बई में भी तथा पुणे में दयानन्द हिन्दू समाज के पठित-वर्ग के उन लोगों के घनिष्ठ सम्पर्क में आए जिन्होंने यूरोपीय पद्धति पर स्थापित स्कूलों, कॉलेजों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त की थी। परन्तु आर्यसमाज

के विकास का अगला सोपान दो वर्ष पश्चात् उत्तर भारत के पंजाब प्रान्त की राजधानी लाहौर में पूर्ण हुआ। यहाँ आर्यसमाज के स्वरूप को अन्तिम रूप दिया गया, संविधान (उपनियम) का पुनर्निर्धारण हुआ तथा उसे आखिरी शक्ल दी गई। भारत तथा अन्य देशों की समस्त आर्यसमाजें इन्हीं नियमों को स्वीकार करती हैं तथा इसी विधान से अनुशासित होती हैं। नियमों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु उप-नियम स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल यदा-कदा परिवर्तित हुए हैं। नियमों और विधान की विस्तृत चर्चा आगे की जाएगी।

२. स्वामी दयानन्द का निधन

सन् १८७७ से अक्टूबर १८८३ तक का स्वामीजी का अवशिष्ट जीवन उपदेश देने और प्रचार करने, ग्रन्थ लिखने तथा समस्त भारत में आर्यसमाजों की स्थापना करने में व्यतीत हुआ। वे केवल मद्रास प्रान्त में ही नहीं जा सके।

पंजाब, आगरा और अवध के संयुक्त प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश), राजपूताना तथा गुजरात में उन्हें सर्वाधिक सफलता मिली। इन प्रान्तों में उनकी मृत्यु से पूर्व ही आर्यसमाजों का एक जाल-सा बिछ गया था। परन्तु आर्यसमाजों ने विगत वर्षों में जो प्रगति की है, उसका अनुमान इसी तथ्य से हो जाता है कि १९०१ की तुलना में १९११ के वर्ष में आर्यसमाजों की सदस्य-संख्या २४३००० थी जो इस वर्ष पूर्व की सदस्य-संख्या से अढ़ाई गुणा तथा १८९१ की संख्या से ६ गुणा अधिक थी। देश के कतिपय सर्वश्रेष्ठ तथा वरिष्ठ व्यक्तियों ने स्वामी दयानन्द के मत को स्वीकार किया तथा उनके शिष्य एवं अनुयायी बने। उदाहरणार्थ, हिन्दू नरेशों में सर्वाधिक सम्मान-प्राप्त तथा वरिष्ठ महाराणा उदयपुर स्वामीजी के शिष्य बने थे।

aryasamajjamnagar.org

महाराणा सज्जनसिंह ने स्वामीजी से हिन्दू धर्मशास्त्र तथा हिन्दू स्मृति-शास्त्र का अध्ययन किया था। इस व्यसनग्रस्त राजा पर स्वामीजी का शुद्धिकारक प्रभाव पड़ा। एक अन्य हिन्दू रियासत की राजधानी जोधपुर में वे भयंकर रूप से रुग्ण हुए। वे वहाँ के महाराजा के निमंत्रण पर गए जो उनके शिष्य बनने तथा उनसे कुछ पढ़ने के इच्छुक थे। इसे देश और स्वामीजी का, विशेषत: देश का ही दुर्भाग्य मानना चाहिए कि उन्हें महाराजा का एक मुसलमान वेश्या से

सम्बन्ध रखना अत्यन्त अरुचिकर प्रतीत हुआ। इस कारण वह वेश्या[१] भी स्वामीजी के प्रति हिंसात्मक विद्वेष रखने लगी। यह एक प्रसिद्ध बात है कि उसी वेश्या ने स्वामीजी के भोजन में कोई सूक्ष्म विष मिला देने का षड्यंत्र किया, जिसके फलस्वरूप उन्हें मरणोन्मुखी रुग्णता का शिकार होना पड़ा। महाराजा वस्तुतः इस घोर अपराध से सर्वथा अनभिज्ञ थे और जब उन्हें स्वामीजी के रोगी होने का समाचार मिला तो उन्हें हार्दिक दुःख हुआ। उसने यथाशक्ति स्वामीजी के लिए उपचार-सहायता उपलब्ध कराने का भरसक प्रयास किया तथा द्रव्यसाध्य सभी प्रकार की सुविधाएँ उपलब्ध कराईं। परन्तु उनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ तथा ब्रिटिश शासन के अंग अजमेर नगर में स्वामीजी का देहान्त हो गया। उनके भक्त मृत्यु से कुछ दिन पूर्व उन्हें यहाँ ले आए थे। यह दुःखद घटना ३० अक्टूबर १८८३ को घटित हुई। जिन लोगों ने अन्तिम समय में उन्हें देखा, वे इस तथ्य के साक्षी हैं कि अपने अन्त-काल में भी स्वामीजी सर्वथा शान्त थे।

जोधपुर के महाराजा के छोटे भाई महाराजा प्रतापसिंह (बाद में जनरल सर प्रतापसिंह, जी०सी०एस०आई०जी०सी०वी०ओ०, के०सी०बी० आदि) जोधपुर में ही उनके शिष्य बने। इस घटना का उल्लेख स्वयं सर प्रताप गर्वपूर्वक किया करते थे।

aryasamajjammagar.org

अपने जीवन-काल में स्वामीजी को कितना कलंक का पात्र बनाया गया तथा उन पर अत्याचार किये गए, यह इन्हीं तथ्यों से ज्ञात होता है कि कट्टर पौराणिक हिन्दुओं द्वारा उन्हें अनेक बार मार डालने के प्रयत्न किये गए—उन्हें मारने के लिए घातकों को किराये पर लाया गया, शास्त्रार्थों और व्याख्यानों के बीच उन पर ईंट-पत्थर फेंके गए, उन्हें ईसाई प्रचारकों का गुप्त दूत करार दिया गया तथा उन्हें विधर्मी नास्तिक तक कहा गया। उन्होंने इस प्रबल विरोध को किस भावना से ग्रहण किया, यह मैडम ब्लैवेट्स्की द्वारा दिये गए उस कथानक से जाना जा सकता है जिसे उन्होंने अपनी पुस्तक Caves and Jungles of Hindusthan में उद्धृत किया है—

---

१. नन्हीं भगतन न तो वेश्या थी और न मुसलमान। वह महाराजा की प्रीतिपात्र रखैल थी जो वैष्णव मत को मानती थी। (सं०)

"इस आश्चर्यजनक हिन्दू का जीवन अत्यन्त आकर्षक था। वह अपने प्रति प्रकट किये शत्रुतापूर्ण आवेगों के प्रति नितान्त निरासक्त था। बनारस में एक शैव ब्राह्मण ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर अपने द्वारा पाले गए विषधर साँप को यह कहते हुए स्वामी जी के ऊपर फेंका कि भगवान् वासुकि (सर्प देवता) ही इस बात का फैसला कर देंगे कि हम दोनों में कौन सत्य और न्याय पर है। इस पर स्वामीजी ने एक ही झटके में उस विषधर को, जो उनके पैरों में लिपट गया था, परे फेंक दिया तथा उसके सिर को तत्काल अपने पाँवों से कुचलकर कहा—'तुम्हारे देवता ने तो बड़ी देर लगा दी और मैंने ही उसका फैसला कर डाला।' पुनः उपस्थित लोगों की ओर अभिमुख होकर उन्होंने कहा—'जाओ और लोगों को बता दो कि झूठे देवताओं का किस प्रकार नाश होता है।' वस्तुतः किसी क्रुद्ध भीड़ के समक्ष तो संगमरमर की प्रतिमा भी निर्लिप्त भाव से खड़ी नहीं रह सकती। हमने इन्हें एक बार ऐसी ही स्थिति में देखा था। उन्होंने अपने सभी आज्ञाकारी एवं वफादार अनुयायियों को हटा दिया तथा उन्हें निर्देश दिया कि विरोधियों का साम्मुख्य करते समय वे न तो उन्हें देखें और न ही उनकी रक्षा करने का यत्न करें। तब वे उस क्रोधाविष्ट समुदाय के सम्मुख अकेले खड़े हो गए और उस दानवरूप भीड़ का शान्ति के साथ अकेले ही सामना किया जो उछलकर उन पर वार करने तथा उनके टुकड़े-टुकड़े कर देने के लिए तैयार खड़ी थी।"

aryasamajjamnagar.org

इसी पुस्तक में मैडम ब्लैवेट्स्की ने स्वामीजी की विद्वत्ता तथा अध्ययन के लिए निम्न प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं—"यह निर्विवाद बात है कि शंकराचार्य[1] के पश्चात् भारत में दयानन्द के समान संस्कृत का विद्वान्, आत्मतत्त्वज्ञानी, आश्चर्यजनक वक्ता तथा बुराइयों का निर्भीक आलोचक अन्य नहीं हुआ।" उनके पाण्डित्य का एक और प्रमाण प्रस्तुत कर हम स्वामीजी की जीवन-गाथा को समाप्त करेंगे। पौराणिक हिन्दू समुदाय में विद्यमान उनके विरोधियों द्वारा स्वामीजी की महान् शक्तियों को अनिच्छापूर्वक स्वीकार करने का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। प्रोफेसर मैक्समूलर के शब्दों को हम इस प्रसंग में उद्धृत कर रहे हैं—

---

१. शंकराचार्य भारतीय दर्शन के वेदान्तवादी सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे जिनके सम्बन्ध में मैक्समूलर तथा अन्य जर्मन विद्वानों ने सर्वोच्च प्रशंसापूर्ण उद्गार व्यक्त किये हैं। इनका काल ८०० ई० माना जाता है।

"कलकत्ता में आयोजित एक बृहत् सभा में गौड़, नवद्वीप तथा काशी के लगभग ३०० पण्डितों ने स्वामी दयानन्द के सिद्धांतों की प्रामाणिकता का विचार किया। यद्यपि इनका निर्णय स्वामीजी के प्रतिकूल ही था, परन्तु इस सभा के विवरण-लेखक का कथन है कि युवा हिन्दुओं का अधिकांश भाग संस्कृत का विद्वान् नहीं है, और इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि इनमें से सैकड़ों स्वामीजी के मतानुकूल अपने विचारों में परिवर्तन कर लेते हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि एक तो स्वामीजी की वक्तृत्व-शक्ति श्रेष्ठ कोटि की है तथा उनमें अपने विरोधियों को परास्त करने की अपूर्व आत्मिक इच्छाशक्ति भी है।"[१]

मृत्यु के उपरान्त सभी वर्गों और समुदायों के लोगों ने उन्हें भावभीनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित कीं, जिनमें भारतीय एवं विदेशी, हिन्दू, मुसलमान, ईसाई तथा पारसी सभी सम्मिलित थे। उनके समकालीनों में से सर्वप्रमुख ने उनकी प्रशंसा की तथा सर्वोच्च उद्‌गार व्यक्त करते हुए उनके असामयिक निधन पर दुःख व्यक्त किया। ऐसे लोगों में यहाँ हम भारतीय मुस्लिम समुदाय के नेता सर सैयद अहमद खाँ, थियोसोफिकल सोसायटी के संस्थापक अध्यक्ष कर्नल ऑल्काट तथा मैडम ब्लैवेट्स्की के नाम प्रस्तुत कर सकते हैं। परन्तु इनमें सर्वातिविशिष्ट श्रद्धाञ्जलि प्रोफेसर मैक्समूलर की है जिसने उनकी तुलना इंग्लैण्ड के डॉ० पुसे से की तथा दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कार्य पर एक महत्त्वपूर्ण प्रशस्तिपरक टिप्पणी लिखी थी—[२]

aryasamajamnagar.org

"स्वामी दयानन्द ने अपने देश के धार्मिक साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया था। वे उन अनेक विकृतियों के विरोधी थे जो कालान्तर में धार्मिक विकास के युग में आ गई थीं तथा जिनके बारे में अब यह स्पष्ट हो चुका है कि ये विकृतियाँ वेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में सर्वथा अनुल्लिखित हैं।..... बनारस तथा अन्यत्र किये गए सार्वजनिक शास्त्रार्थों में विरोधी पण्डितों से अपराजेय ही रहेंगे—यह सामान्य धारणा उन दिनों बन चुकी थी। यह दूसरी बात है कि अपने पराजित विरोधियों के आक्रमण से उन्हें बचाने के लिए यदा-कदा पुलिस को बुलाना पड़ता था।"

---

१. मैक्समूलर कृत 'बॉयोग्राफिकल एसेज़', १८८४ ई०, पृष्ठ १७९-१८०।

२. 'बायोग्राफिकल एसेज़', पृ० १६७।

इस अध्याय की समाप्ति हम थियोसोफिकल सोसायटी के मुखपत्र 'दि थियोसोफिस्ट' में प्रकाशित एक लम्बी श्रद्धाञ्जलि के कुछ अंशों को उद्धृत करते हुए करेंगे—

''भारत से एक महान् आत्मा ने विदाई ले ली है। पण्डित दयानन्द सरस्वती का निधन हो गया है। एक अथक लगनशील सुधारक अब नहीं रहा, जिसकी सशक्त वाणी तथा ओजपूर्ण भाषणों ने पिछले कुछ वर्षों में सहस्त्रों भारतीयों की तन्द्रा को भंग करके उन्हें जगाया और सक्रिय देशभक्ति के पथ पर बढ़ाया। शरीर के भस्म हो जाने के साथ ही हमारे मतभेद भी समाप्त हो गए। हम अपने पूर्व साथी एवं गुरु तथा परवर्ती प्रतिद्वन्द्वी के महान् गुणों का ही स्मरण करते हैं। आर्य-पुनर्जागरण के महान् व्रत के प्रति उनकी जीवनपर्यन्त लगन को ही हम अपने मन में धारण कर रहे हैं। अपने पूर्व-पुरुषों के शानदार दर्शन के प्रति उनके उत्कृष्ट प्रेम तथा सामाजिक एवं धार्मिक सुधारों के प्रति उनका अनवरत प्रयास ही वे कारण हैं जिनसे प्रभावित होकर हम गहन विषाद के साथ उनके देहान्त के कारण शोकमग्न व्यक्तियों की श्रेणी में अपने को सम्मिलित पाते हैं। उनको खोकर भारत ने अपने एक सर्वश्रेष्ठ पुत्र को खो दिया है। स्वामी दयानन्द वास्तविक अर्थ में देशभक्त थे, जिन्होंने भारतीय प्रज्ञा के लुप्त कोष को पुनः ढूँढ निकालने का प्रयास जीवन के प्रारम्भिक काल से ही किया था। अपनी मातृभूमि का सुधार करने के लिए उनका उत्साह-मात्र उनके अपरिमित अध्ययन से ही बढ़ा-चढ़ा था। पवित्र ग्रन्थों की उनके द्वारा की गई व्याख्या के बारे में चाहे कुछ भी कहा जाय, परन्तु उनके संस्कृत-ज्ञान के सम्बन्ध में कोई अन्य राय नहीं हो सकती। कुछ ही नगर तथा केवल मद्रास प्रान्त ही बचे हैं जहाँ स्वामी दयानन्द अपने प्रचार-कार्य हेतु न गए हों, परन्तु ऐसे नगर और प्रान्त तो और भी कम हैं जहाँ के लोगों पर उनके महत्त्वपूर्ण विचारों की छाप न पड़ी हो। विकारग्रस्त हिन्दू धर्म के जड़ताग्रस्त अनुयायियों में मानो उन्होंने बम-विस्फोट-सा किया तथा ऋषियों के उपदेशों तथा वैदिक अध्ययन के प्रति अपनी वाक्पटुतापूर्ण व्याख्यान-शैली से लोगों के हृदय में प्रेम जागृत किया। निश्चय ही इस देश की सीमाओं में दयानन्द से उत्कृष्ट हिन्दी तथा संस्कृत का कोई अन्य वक्ता नहीं था।''

ज्योंही स्वामी दयानन्द के निधन के समाचार की पुष्टि हुई, कर्नल ऑल्काट ने, जो उस समय कानपुर में थे, स्वामीजी की स्मृति में एक सार्वजनिक

श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। उन्होंने कहा कि "हमारे पारस्परिक विवाद में चाहे जो सत्य एवं मिथ्या बातें रही हों, तथा अन्य पण्डितों एवं प्राच्य विद्याविदों ने उनके बारे में कुछ भी कहा हो, परन्तु उनकी प्रभावशालिनी देशभक्ति तथा अपने अनुयायियों पर उनके द्वारा राष्ट्रीयता का प्रभाव डालने की शक्ति के सम्बन्ध में मतभेद नहीं हो सकता। पण्डित दयानन्द सरस्वती में न तो घृणात्मक चाटुकारिता थी और न निहित स्वार्थवाली प्रवृत्ति के कारण विदेशी शासकों के प्रति उनमें मिथ्या प्रशंसाभाव ही था।

वास्तविक बात यह है कि चाहे प्राचीन पौराणिक ब्राह्मणवाद की दृष्टि में उनकी धार्मिक क्रान्तिकारिता कितनी ही नास्तिकतापूर्ण अथवा परम्परा-विरोधिनी दिखाई पड़े, उनके द्वारा दी गई शिक्षाएँ तथा निर्धारित वैदिक सिद्धांत भारत की अन्य सभी समाजों के द्वारा सम्मिलित रूप से प्रस्तुत की गई शिक्षाओं की तुलना में हजार गुणा वैदिक तथा स्मार्त सिद्धांतों के अधिक अनुकूल हैं। उन्होंने प्राचीन प्रतिमाओं के पृथक् अस्तित्व को मिटाकर उन्हें एक जीवित-जागृत ईश्वर के भीतर समाविष्ट कर दिया तथा यह स्पष्ट किया कि विभिन्न नामों से वर्णित देवी-देवता उसी ईश्वर के विभिन्न गुणों के वाचक-मात्र हैं, परन्तु उन्हें अन्य आधुनिक सुधारकों[१] की भाँति अपने अनुयायियों को दुर्गा, मूसा, क्राइस्ट, कुरान तथा बुद्ध और चैतन्य के वर्णसंकरीय मिश्रण को मानने के लिए विवश नहीं किया। वस्तुतः आर्यसमाज की आचार-संहिता वास्तविक राष्ट्रीय वैदिक धर्म के अत्यन्त निकट पहुँच चुकी है।" ❑

aryasamajjamnagar.org

१. यहाँ केशवचन्द्र सेन से अभिप्राय है। (अनुवादक)

स्वामी दयानन्द के उपदेश

अयमग्ने जरिता त्वे अभूदपि सहसः
सूनो नह्यन्यदस्त्याप्यम् ॥

—ऋ० १०/१४२/१

१. पौराणिक हिन्दुत्व तथा जातिप्रथा पर प्रहार

विगत अध्यायों में हमने स्वामी दयानन्द के जीवन की कुछ प्रमुख घटनाओं को सार-रूप में प्रस्तुत किया। यह इसलिए आवश्यक था जिससे कि पाठक को उन परिस्थितियों का विस्तृत परिज्ञान हो सके जिनमें स्वामीजी जिये, जिस वातावरण में उनका जन्म हुआ, पालन-पोषण हुआ तथा उन्होंने शिक्षा प्राप्त की। स्वामी दयानन्द ने जो कार्य अपने लिए चुना था, उसकी महत्ता का ज्ञान हमें तब तक नहीं हो सकता, जब तक स्वामी दयानन्द के जीवन के प्रारम्भिक दिनों में प्रचलित हिन्दू धर्म तथा हिन्दू समाज की दशा से हम पूर्णतया परिचित न हों। जब हम भूतकाल का प्रयोग करते हैं, तब हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि आज के अधिकांश अशिक्षित समुदाय का हिन्दू धर्म उस युग के धर्म से कुछ अधिक भिन्न है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि तब से लेकर आज तक पौराणिक हिन्दू धर्म में पर्याप्त परिवर्तन आए हैं और इसके कारण हैं—पश्चिमी विचारों से उसका सम्पर्क तथा आर्यसमाज के आक्रामक प्रचार के कारण आत्मनिरीक्षण करने के लिए सतत तैयार रहने की उसकी प्रवृत्ति। यह बात नहीं कि केवल पठित वर्ग ने ही अपने दृष्टिकोण को बदला है (यद्यपि उनमें पुरातन भाव अब भी अवशिष्ट हैं) अपितु अत्यन्त अज्ञानग्रस्त तथा अंधविश्वासों से परिपूर्ण सामान्य जन-समाज भी अब वैसा नहीं रहा है जैसा स्वामीजी के जन्म के समय था। फिर भी सामान्य रूप से हम दयानन्द के समकालीन हिन्दू धर्म के बारे में जो कुछ कहने जा रहे हैं, वह वर्तमान हिन्दू धर्म के लिए भी उतना ही सत्य है। दोनों स्थितियों में अन्तर इतना ही है कि सामान्य शिक्षण तथा आर्यसमाज जैसी सुधारक संस्थाओं के प्रचार के कारण

aryasamajjamnagar.org

हिन्दू धर्म अब उतना संकीर्ण और रूढ़िग्रस्त नहीं रहा है।[१]

प्रचलित हिन्दू धर्म तथा स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों और उपदेशों के पारस्परिक अन्तर को स्पष्ट करने के लिए हम सर्वप्रथम पुरोहित-वर्ग के व्यक्तिगत अधिकारवाद की चर्चा करेंगे। स्वामी दयानन्द भी जन्मना इसी पुरोहित (ब्राह्मण) वर्ग से सम्बन्धित थे। हिन्दू पुरोहित ब्राह्मण कहलाते हैं। जब दयानन्द का चिन्तन सर्वोच्च स्थिति पर पहुँचा, तब वे इस परिणाम पर पहुँचे कि हिन्दू धर्म में ब्राह्मण ही सर्वशक्तिमान् है तथा एक सामान्य व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। प्रत्येक ब्राह्मण अपने-आपको परमात्मा का प्रतिनिधि समझता था (ब्रह्म-वाक्यं जनार्दनः) तथा ईश्वरीय आकांक्षाओं तथा आज्ञाओं का स्वयं को एकमात्र व्याख्याकार मानता था। उसी का शब्द कानून माना जाता था। ब्राह्मण का न तो चुनाव होता है और न उसकी नियुक्ति की जाती है। वह तो जन्म से ही ब्राह्मणोचित अधिकार प्राप्त कर लेता है तथा उसके पौरोहित्य के अधिकार, उसकी शैक्षिक तथा अन्य प्रकार की योग्यताओं से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। वही धर्म का एकमात्र भाष्यकार है। वही यह निर्धारित करता है कि प्रत्येक मनुष्य को क्या मानना और क्या करना चाहिए। स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार उस युग में सर्वथा लुप्त था। यह धारणा प्रचलित थी कि अकेला ब्राह्मण ही शास्त्रों को जानता है या जान सकता है, जब कि वास्तविकता यह थी कि हजार में से एक ब्राह्मण भी वेदों का ज्ञाता नहीं था। परन्तु विचित्र बात यह थी कि जो कुछ संस्कृत में लिखा उपलब्ध था, वही वेदों के तुल्य पवित्र माना जाता था। ब्राह्मण का एक सामान्य वचन भी वेदों का सार समझा जाता था, चाहे वह पुराण-वाक्य हो, किसी काव्य का अंश हो अथवा संस्कृत की किसी कविता या नाटक का एक सामान्य शब्द ही क्यों न हो। परन्तु ब्राह्मण यदि

aryasamajjamnagar.org

---

१. यद्यपि आज भी हिन्दुओं की धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों में उतना अन्तर नहीं हुआ है जिसकी आर्यसमाज ने अपेक्षा की थी, जो थोड़े-बहुत सुधार हुए हैं वे सामाजिक क्षेत्र तक सीमित हैं और स्वाधीनता के बाद राजनैतिक कारणों से ये सामाजिक सुधार भी ओझल होते जा रहे हैं। हिन्दुओं के धार्मिक अन्धविश्वासों में, विशेषकर मूर्तिपूजा आदि में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। वस्तुतः इनमें वृद्धि ही होती जा रही है।

—सम्पादक

संस्कृत से सर्वथा अनभिज्ञ है, तब भी इसे कोई आपत्तिजनक नहीं मानता था। मात्र उसका जन्म ही उसे भगवदीयता प्राप्त करा देता था। स्वामी दयानन्द के समय ब्राह्मण का हिन्दू समाज पर इस प्रकार का व्यापक प्रभाव था, जिससे कि हिन्दू धर्म में ब्राह्मण के सामाजिक उच्च स्तर को स्वीकार करना ही उसका प्राथमिक लक्षण माना जाता था। हिन्दू धर्म विभिन्न मतों, पन्थों, सम्प्रदायों, विश्वासों, कर्मकाण्डों तथा रीति-रिवाजों का एक ऐसा पुञ्ज है, जिसके कारण १९११की जनसंख्या के अधिकारियों को यह लिखना पड़ा कि ब्राह्मण ही इस धर्म का सर्वोच्च मापदण्ड है। १९११ की आगरा और अवध के संयुक्त प्रान्त की जनगणना के विवरण में श्री ब्लन्ट कहते हैं—

ब्राह्मण और पोप

"यह ठीक है कि हिन्दू धर्म के विकास के अध्ययन की प्रक्रिया में ब्राह्मणों के प्रभाव को कभी-कभी अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है, जब कि इस विकास के स्वाभाविक कारणों की उपेक्षा भी की गई है, तथापि धार्मिक मामलों तथा हिन्दू धर्म-व्यवस्था के अनुयायियों पर उनके अनुशासन को देखते हुए ब्राह्मणों की सर्वशक्तिमत्ता को स्वीकार करना ही होगा। मध्यकालीन पोप आध्यात्मिक तानाशाहों के तुल्य थे, परन्तु ब्राह्मणों की निरंकुशता की तुलना में ये पोप मात्र वैधानिक नरेशों के समान थे। ब्राह्मण चाहे स्वयं ईश्वर न हों, किन्तु सभी प्रसंगों में वे ईश्वर-तुल्य समझे जाते हैं, केवल सम्मान के ही नहीं, अपितु वास्तविक पूजा के पात्र। इस प्रकार वे इस निर्णय पर आते हैं कि एक हिन्दू के निर्धारण में सर्वप्रथम लक्षण यह होगा कि वह ब्राह्मण की सर्वोच्चता को स्वीकार करता है तथा आध्यात्मिक एवं सामाजिक मामलों में उसे सर्वप्रभुत्व-सम्पन्न भी मानता है।"

निश्चय ही एक शताब्दी पूर्व की स्थिति का यह सही विवरण है। कुछ प्रदेशों में तो ५० वर्ष पूर्व तक भी यही स्थिति थी, परन्तु आज यह बात नहीं रही। वर्तमान में तो आर्यसमाज के अन्तर्गत तथा उससे बाहर भी ऐसे हज़ारों हिन्दू हैं जिन पर उपर्युक्त लक्षण (ब्राह्मणों को अकारण ही सर्वोच्च मानने का) घटित नहीं होता। ब्राह्मण के जन्म पर आधारित दैवी अधिकार द्रुतगति से लुप्त हो रहे हैं। धार्मिक संस्कारों को कराने तथा धार्मिक कृत्यों को सम्पादित कराने का ब्राह्मणों का एकाधिकारवाद धीरे-धीरे, किन्तु गोचर रूप में, लुप्त होता जा

रहा है। यहाँ तक कि अशिक्षित वर्ग में भी उसकी अधिकार-भावना समाप्त हो रही है।

तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्राह्मणों के आधिपत्य का जो विवरण हमने प्रस्तुत किया है, वह पूर्ण सत्य था। केवल ब्राह्मणों के अधिकार की स्वीकृति ही हिन्दू धर्म का केन्द्रबिन्दु था। वही केन्द्रीय प्रभुसत्ता थी जो समस्त हिन्दू जीवन-प्रणाली का, उसके देवी-देवताओं का, उसके मत-विश्वास, दर्शन, कर्मकाण्ड, सामाजिक अर्थनीति तथा तत्सम्बन्धी सारी बातों का नियंत्रण एवं शासन करती थी।

पापशमन का एकाधिकार

रोमन कैथोलिकों का संगठन अत्यन्त तुच्छ एवं नगण्य प्रमाणित होता है जब हम हिन्दू धर्म के उस जटिल तथा कट्टर संगठन से उसकी तुलना करते हैं जो ब्राह्मणों द्वारा प्रभावित एवं अनुशासित था। यह समाज-संगठन संसार की एक महान् व्यूह-रचना थी। इसने व्यक्ति और समाज के सर्वातिसूक्ष्म तत्त्वों को भी अपने भीतर समाविष्ट कर लिया था। एक हिन्दू के जीवन की प्रत्येक क्षणिक घटना को भी ब्राह्मण अपने नेत्रों से ओझल नहीं कर सकता था। चाहे कोई कार्य कितनी ही पापपूर्ण, अत्याचारयुक्त एवं घृणित क्यों न हो, एक हिन्दू उसे निस्संकोच रूप से कर सकता था, शर्त केवल इतनी ही थी कि वह इसका प्रायश्चित्त एक ब्राह्मण से करा ले। ब्राह्मण ही इस प्रायश्चित्त-विधि का एकमात्र जानकार तथा कर्ता माना जाता था। प्रायश्चित्त-विधि के परिशिष्ट-रूप में विभिन्न कार्यों तथा आचारों का विधान किया जाता था। पापों के क्षमा किये जाने तथा उनसे निष्कृति प्राप्त करने के नानाविध तथा रहस्यपूर्ण उपाय प्रचलित थे जो मृत्यु के अनन्तर स्वर्ग-प्राप्ति के अधिकारपत्र के तुल्य ही थे। वेदों के सरल एवं आध्यात्मिक धर्म तथा उपनिषदों की दार्शनिक शिक्षाओं पर उस धर्म ने वरिष्ठता प्राप्त कर ली थी जो मंदिरों तथा लौकिक बलिदानों, प्रदर्शनों एवं जुलूसों तथा वर्षभर में अगणित देवताओं को प्रसन्न करने हेतु आयोजित किये जाने वाले उत्सवों तक सीमित था। ये उत्सव और समारोह अपने उन सभी आनुषंगिक कृत्यों के साथ सम्पादित किये जाते थे जिनमें घण्टा-निनाद, दीपों का प्रज्वलन, पुजारियों की विशिष्ट पोशाकों तथा कृत्यों एवं नानाविध मंत्रोच्चारणों तथा ध्वनियों को ही महत्त्व प्राप्त था। यह दूसरी बात है कि यह मंत्रोच्चारण तथा

aryasamajjamnagar.org

पुजारियों के गीत सुननेवालों के लिए भी प्रायः सर्वथा अर्थहीन होते थे और कभी-कभी तो उच्चारणकर्ता भी उनके अर्थों से अनभिज्ञ रहते थे।

दयानन्द इन समस्याओं के मूल कारणों का पता लगाना चाहते थे तथा अपनी अन्तर्ज्ञान-वृत्ति के द्वारा कालान्तर में विकसित इन प्रवृत्तियों को पूर्णतया जानना चाहते थे। इस प्रकार उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि इस समस्त व्यवस्था के केन्द्रबिन्दु ब्राह्मण हैं। स्वभाव और अभ्यास से ही किसी प्रकार की कूट-नीति अथवा द्वैधभाव की ओर उनका झुकाव नहीं था और न वे वाणी और कर्म में भी किसी प्रकार की गुप्त रीति-नीति बरतने के समर्थक थे। वे सत्य—नग्न सत्य तथा पूर्ण सत्य कहने के पक्षपाती थे। अतः वे सीधे केन्द्रबिन्दु पर पहुँचे तथा उन्होंने पाखण्ड-दुर्ग की उन प्राचीरों पर इस प्रकार आक्रमण किया जिससे उसकी नींव ही हिल जाय। उन्होंने जन्म-मात्र के अधिकारी ब्राह्मण के प्रभुत्व के प्रति शंका की। ब्राह्मण अपने अधिकारों और सुविधाओं के लिए मनुस्मृति का आधार तलाशते थे जब कि स्वामीजी ने मनु के प्रमाणों से ही यह सिद्ध कर दिया कि ब्राह्मण को वेदों का अधिकृत विद्वान् होना चाहिए, उसे लोभ से परे रहना चाहिए तथा उसके व्यवहार में प्रशान्त वृत्ति झलकनी चाहिए। जो ब्राह्मण इस स्तर तक नहीं पहुँच पाता, वह ब्राह्मणोचित व्यवहार और सम्मान का पात्र नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द ने अपनी उपपत्ति को सिद्ध करने के लिए शास्त्रों के अध्यायों और श्लोकों को उद्धृत किया तथा यह सिद्ध कर दिया कि जिन ग्रन्थों पर ब्राह्मण अपना विश्वास व्यक्त करते हैं, उन्हीं में यह लिखा है कि पुराकाल में अब्राह्मण माता-पिता के घर जन्मे व्यक्ति अपनी विद्वत्ता तथा धार्मिक वृत्ति के कारण ब्राह्मण पद प्राप्त कर सके तथा ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान अपनी वैयक्तिक अयोग्यता के कारण ब्राह्मण पद से बहिष्कृत किये गए। जहाँ तक आध्यात्मिक समस्याओं का सम्बन्ध है, वे यह मानते थे कि किसी भी व्यक्ति को अपने साथी पुरुष अथवा स्त्री के स्वतंत्र चिन्तन अथवा निर्णय को प्रभावित या निर्देशित करने का अधिकार नहीं है। वे यह मानते थे कि जन्मना ब्राह्मण भी अन्यों की भाँति एक साधारण मानव है। इतना अवश्य है कि अपने कतिपय आनुवंशिक गुणों के कारण एक अच्छे और सच्चे ब्राह्मण बनने के उसके आसार अधिक होते हैं, अपेक्षाकृत उनसे, जिन्होंने ब्राह्मण-कुल में जन्म नहीं लिया है। परन्तु वे यह भी

स्वीकार करते थे कि आवश्यक गुणों को उपार्जित कर ब्राह्मणेतर कुलों में जन्मे व्यक्ति भी ब्राह्मण बनने के पूर्ण अधिकारी हैं। उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया कि एक सच्चे ब्राह्मण की ईश्वर के ही तुल्य पूजा की जा सकती है। ऐसा ब्राह्मण एक अच्छे नेता, अध्यापक, गुरु, निर्देशक अथवा दार्शनिक से भिन्न नहीं है। उन्होंने नाना देवी-देवताओं की पूजा का निषेध किया तथा यह प्रतिपादित किया कि केवल सर्वोच्च ब्रह्म, विश्व का आदि-कारण, सर्वव्यापक सर्वात्मा ही पूजनीय है, उससे भिन्न कोई अन्य नहीं। उन्होंने यह भी बताया कि ईश्वर तथा सृष्टि के आरम्भ में दिया गया ईश्वरीय ज्ञान ही धर्म के विषय में अन्तिम तथा अभ्रान्त प्रमाण है, सर्व सत्य है। पवित्रता तथा श्रेष्ठता ईश्वर से ही उत्पन्न होती है। किसी भी व्यक्ति को ईश्वर तथा मानव के बीच में आने अथवा हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य एवं अधिकार है कि वह स्वयं ईश्वर से ही प्रेरणा तथा प्रकाश ग्रहण कर परमात्मा से सीधा एवं प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करे तथा उसी के चेतनामय वातावरण में रहे।

aryasamajjamnagar.org

वेद, ब्राह्मण और शूद्र

अत्यन्त प्राचीन काल से ही ब्राह्मणों ने वेदाध्ययन पर अपना एकाधिकार स्थापित कर लिया था। एक शूद्र के लिए तो वेदमंत्रों का सुन लेना ही घोर पाप था। अन्य द्विजातियों को यद्यपि सिद्धान्ततः वेदों के सुनने तथा पढ़ने का अधिकार प्राप्त था, परन्तु व्यवहार में शायद ही किसी ब्राह्मण ने अब्राह्मण व्यक्ति को वेद का अध्ययन कराया होगा। वस्तुतः ब्राह्मणों में भी वेदों का ज्ञान बहुत कम लोगों को था, और जो था भी, वह आंशिक रूप में ही। यह कहा जा सकता है कि उत्तर भारत में आनुपातिक रूप से दस हजार में से कोई एक ही वेद का ज्ञाता होता था तथा दक्षिण में एक हजार में एक। चारों वेद तो बहुत कम लोगों द्वारा पढ़े जाते थे तथा उनकी जानकारी भी पाठ-मात्र तक सीमित थी। इन वेदज्ञ ब्राह्मणों में से अधिकांश वेद का उतना ही अंश जानते थे जो उनके कर्मकाण्ड-सम्बन्धी कृत्यों में उपयोगी होता था अथवा उनकी दैनिक प्रार्थना में प्रयुक्त होता था। ब्राह्मणों में से अधिकांश तो वेदों से उतने ही अनभिज्ञ थे, जितने अन्य हिन्दू। यहाँ तक कि कर्मकाण्ड तथा संस्कार भी पूर्ण वैदिक विधि से सम्पन्न नहीं किये जाते थे। परवर्ती ग्रन्थों के अनेक वाक्य और

श्लोक एकत्रित कर लिये गए थे तथा आवश्यक संस्कार इन्हीं की सहायता से सम्पन्न किये जाते थे। जहाँ तक वेदों की व्याख्या तथा भाष्यरचना का सम्बन्ध है, स्वामी दयानन्द के जन्म के १५०० वर्ष पूर्व की अवधि में केवल एक व्यक्ति ने ही ऐसा साहस किया था। परन्तु उस भाष्यकार सायण का यह विपुल भाष्य भी प्रचलित तथा परम्परगत व्याख्या से भिन्न कुछ नहीं था। वेद का स्वतंत्र व्याख्यान करना अत्यन्त धृष्टतापूर्ण तथा नास्तिकता के तुल्य कृत्य समझा जाता था जिसके लिए सम्भवत: कोई भी दण्ड उपयुक्त नहीं हो सकता था।

इस युग में ऐसे धार्मिक कट्टरवाद का जन्म हुआ जिसने अत्यन्त जटिल तथा सूक्ष्म साम्प्रदायिकता को उत्पन्न किया, जैसी कि आज तक मानव-जाति में कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुई थी। इस कट्टरता ने धर्म को मृत विश्वासों तथा शुष्क औपचारिकताओं में बदल दिया तथा राष्ट्र के नागरिकों की आत्माओं को सदा के लिए अन्धकारपूर्ण कक्षों में कैद कर दिया। यह सत्य है कि यह सब-कुछ प्राचीन काल के महान् आचार्यों के नाम पर किया गया तथा उन्हीं की प्रत्यक्ष प्रामाणिकता जुटाई गई। ऐसी परिस्थिति में जन्मगत जाति, ब्राह्मणों का अधिकारवाद तथा शास्त्रों के जड़ नियम ही सर्वशक्तिमान् बन गए।

aryasamajjammugar.org

ऐसे वातावरण तथा स्थिति में दयानन्द का आविर्भाव हुआ जिन्हें वास्तविक सत्य का दर्शन प्राप्त था। वे यह भी जानते थे कि इसी ज्ञान एवं सत्य के द्वारा उनके देशवासियों का विशेषत:, तथा अखिल मानवता का सामान्य रूप से त्राण होना सम्भव है। उन्होंने दृढ़ संकल्प, ग़ज़ब की प्रज्ञा तथा आन्तरिक शक्ति से बुराई के उस मूल पर प्रहार किया जो ब्राह्मणों के निर्विवाद जन्माधिकार के रूप में उनके समक्ष उपस्थित थी। उन्होंने स्वदेशवासियों को इस सम्बन्ध में शिक्षित किया तथा रोम के पोपों के बारे में बताया। उन्होंने यही 'पोप' नाम भारत के ब्राह्मणों को भी दिया तथा अपनी सम्पूर्ण शक्ति के साथ उनका प्रतिवाद किया।

२. शास्त्रों के अध्ययन का अधिकार

अपने इस धर्मयुद्ध में स्थायी सफलता प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि कट्टर रूढ़िवाद द्वारा हिन्दू शास्त्रों, विशेषत: वेदों के अध्ययन पर लगाए गए निषेधों को दूर किया जाय। इसी प्रकार शताब्दियों की अवधि में निर्मित उस विशाल साहित्य को सभी प्रकार के अधिकारवाद से मुक्त कराना भी आवश्यक था। ब्राह्मणों ने स्वनिर्मित सभी ग्रन्थों को दैवी अधिकार-सम्पन्न

बना दिया था तथा उनके अध्ययन के अधिकार को सीमित कर दिया था। दयानन्द ने इस महान् छल को हटाया और आवरण को दूर कर दिया। उन्होंने जाति अथवा मत-पन्थ के भेदों की परवाह किये बिना सभी मनुष्यों को वेदाध्ययन के लिए आहूत किया तथा प्रत्येक मानव को वेद का स्वेच्छा से अर्थ और व्याख्या करने का अधिकार दिया। उनकी शर्त इतनी ही थी कि वेदों में प्रयुक्त शब्दों का व्युत्पत्तिलभ्य तथा दार्शनिकतापूर्ण ऐसा अर्थ किया जाय जो उनकी प्राचीन तथा सर्वस्वीकृत व्याख्या-प्रणालियों से पूर्णत: अनुकूल हो। वस्तुत: यह एक क्रान्ति थी जिसने एक ही प्रहार में शताब्दियों से धारण की गई हिन्दू समाज की बेड़ियों को तोड़ दिया। परम्परा तथा रूढ़ियों से मुक्त होकर उन्होंने स्वयं वेदभाष्य किया। अपने समकालीनों की तुलना में उनका वेदज्ञान अपरिमेय था। अत: वे इस स्थिति में थे जिससे कि वे वेदसम्बन्धी अपने कथन को केवल तर्क या युक्ति से ही सिद्ध नहीं कर सकते थे, अपितु ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्रों के भूरिश: प्रमाण देकर उसे पुष्ट करते थे।

हमारे लिए तो इस बात की कल्पना करना भी कठिन है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में वेदों की स्थिति एक बंद पुस्तक की-सी थी। उन्हें कोई भी व्यक्ति पढ़ भी नहीं सकता था। किसी ऐसे खुले शास्त्रार्थ में, सभी धर्मावलम्बी हिन्दुओं तथा अहिन्दुओं की उपस्थिति में उन्हें उद्धृत करने अथवा प्रमाण-रूप में प्रस्तुत करने की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। वर्तमान में वेदों का अध्ययन और व्याख्या हिन्दुओं के सभी वर्गों तथा जातियों के व्यक्तियों द्वारा की जा रही है। भारत की सामाजिक, धार्मिक तथा बौद्धिक स्वतंत्रता के प्रति दयानन्द की यह महती सेवा है। इसी कारण वे हिन्दू भारत के त्राता कहला सकते हैं।

३. वेदार्थ की कुञ्जी, वेद-व्याख्या के मूल सिद्धांत, वेदों का उद्धार

स्वामी दयानन्द ने वेदों की उपलब्ध व्याख्याओं को किसी व्यक्ति के लिए अपरिहार्य और आवश्यक नहीं माना। उन्होंने सायण[1] तथा महीधर के भाष्य को तो अविलम्ब निरस्त कर दिया। उन्होंने महीधर को जान-बूझकर

१. यूरोपीय विद्वानों के अनुसार सायण तो वेद-विषयक अध्ययन की प्रगति को पीछे हटानेवाले ही हैं (द्रष्टव्य—Sacred Books of the East, Vol. XXXII, वैदिक मंत्र, पृष्ठ xxxii)। यूरोपीय विद्वानों ने महीधर के वेदभाष्य पर कभी विश्वास नहीं किया।

दुष्टतापूर्ण रीति से वेदार्थ को दूषित करनेवाला माना तथा सायण के भाष्य को पूर्वाग्रहयुक्त तथा भटकानेवाला। सायण का भाष्य उस युग में प्रचलित धर्मपद्धति तथा उससे अनिवार्य रूप से जुड़ी सामाजिक संस्थाओं को न्यायोचित ठहराने की दृष्टि से लिखा गया था।

सायण ने उस युग में जन्म लेकर अपना-लेखन कार्य किया था, जब हिन्दू महानताओं का सूर्य अस्त हो चुका था, जब भिक्षुक वृत्ति के पुरोहितवाद के हाथों हिन्दू जीवन तथा संस्थाएँ विकारग्रस्त हो चुकी थीं। शायद सायण का प्रयास हिन्दू धर्म को इस्लाम के सुदृढ़ एवं कट्टरतापूर्ण आक्रमण से बचाना था। दयानन्द की वेद-विषयक शिक्षाओं की एक तर्कसंगत परिणति यह भी थी कि उनके द्वारा ज्ञान के इन गुप्त कोषों को खोलने की कुंजी प्रस्तुत की जाय जिससे उनके शिष्यों को वेदाध्ययन में सहायता मिल सके। इस कार्य को उन्होंने वैदिक व्याख्या के नियमों को स्पष्ट करते हुए किया तथा इस बात पर जोर दिया कि वेद की भाषा को वैदिक युग की चित्तवृत्ति के अनुसार ही समझा जाय।[१] वेद की संस्कृत भाषा पूर्णतया अप्रचलित है तथा उस आधुनिक संस्कृत से सर्वथा भिन्न है जो गत २५०० वर्षों से बोली तथा लिखी जा रही है। यहाँ तक कि व्याकरण में भी पर्याप्त परिवर्तन हुए हैं। वेदों के अर्थ को समझने के लिए आधुनिक व्याकरण बहुत थोड़ी सहायता करती है। वैदिक व्याकरण के प्रकाश में ही वेदों का अध्ययन अपेक्षित है; उसमें उस साहित्य की भी सहायता ली जा सकती है जो आधुनिकता से परे है।

aryasamajamnagar.org

वेदार्थ-प्रणाली के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रस्तोता निरुक्तकार यास्क ने वैदिक पदों की व्याख्या के लिए जो प्रथम सिद्धांत निर्धारित किया, वह है वैदिक पदों को यौगिक स्वीकार करना।[२] वैदिक व्याकरण पर सर्वाधिक प्रामाणिक

---

१. वेदों को समझने में आनेवाली कठिनाइयों का उल्लेख करते हुए प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—यद्यपि हम वेद के प्रत्येक शब्द का अर्थ समझ सकते हैं, किन्तु इन शब्दों की शृंखला में निहित भावों को ढूँढ निकालना सरल नहीं है तथा वेदों के प्राचीन शब्दों के मूल तत्त्वों को जानना भी कठिन है। 'पूर्व के पवित्र ग्रन्थ', भाग XXXII, पृष्ठ xxxii.

२. 'यौगिक पद वही है जिसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ किया जाता है, जो धात्वर्थ तथा प्रत्ययों के जुड़ने से परिवर्तित हुए अर्थ को देता है।

—पं० गुरुदत्त विद्यार्थी Terminology of the Vedas, शिकागो संस्करण पृष्ठ

तथा सर्वत्र स्वीकार किये गए भाष्य के लेखक पतञ्जलि ने भी इस मत का समर्थन किया है। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने अपने विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ The Terminology of the Vedas में, जिसकी प्रशंसा प्रोफेसर मैक्समूलर ने अपने वैदिक मंत्रों पर लिखे गए ग्रन्थ (Sacred Books of the East; Volume XXXII) में की है, यह घोषित किया है कि वैदिक पदों को यौगिक मानने में प्राचीन भारत के ऋषि-मुनि तथा प्राचीन सभी लेखक और भाष्यकार एकमत हैं।[१] अपने 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास' में प्रोफेसर मैक्समूलर ने वेदों के एक विशिष्ट अंश के सम्बन्ध में अपनी सहमति दर्शाई है। वे लिखते हैं—"इन प्रारम्भयुगीन पद्यों में एक विशिष्ट आकर्षण है जो किसी अन्य काव्य में उपलब्ध नहीं होता। प्रत्येक शब्द अपने मूल अर्थ को सुरक्षित रखता है, प्रत्येक विशेषण कुछ कहता-सा प्रतीत होता है, प्रत्येक विचार अपनी सूक्ष्म तथा आकस्मिक अभिव्यक्ति के उपरान्त भी, सत्य तथा पूर्ण है—यदि उसके निगूढ़ अर्थ को समझ सकें।"[२] इसी ग्रन्थ में मैक्समूलर आगे लिखते हैं-"वेदों में जो नाम (संज्ञाएँ) दृष्टिगोचर होते हैं, वे तरल स्थिति में हैं। वे न तो किसी के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुए हैं और न व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के रूप में। वे व्यवस्थित रूप में हैं जो प्रसंग से पृथक् कर दिये जाने पर अर्थहीन हो जाते हैं।"[३]

aryasamajjamnagar.org

देवता क्या हैं?

पं० गुरुदत्त बताते हैं कि वेदों के सम्बन्ध में बनाए गए इस सरल नियम की सायण तथा यूरोपीय विद्वानों द्वारा किस प्रकार उपेक्षा की गई, जिसके परिणामस्वरूप इस धारणा को बल मिला कि वेद में अगणित देवी-देवताओं की पूजा का विधान उपलब्ध होता है। पं० गुरुदत्त लिखते हैं—यह शब्द 'देवता' ही है जो प्रायः भूलों का मूल कारण बनता है और यह अत्यन्त आवश्यक है कि इसके वास्तविक अर्थ तथा उसकी व्यापकता को निर्धारित किया जाए। 'देवता' शब्द में निहित वैदिक ध्वनि को न समझने के ही कारण

---

१. वही, पृष्ठ 8

२. मैक्समूलर कृत 'प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृष्ठ 553.

३. वही, पृष्ठ 755.

यूरोपीय विद्वानों ने वेदों में जड़ वस्तुओं की पूजा कल्पित की। इस प्रकार उन्होंने वैदिक धर्म को बहुदेववाद से भी निम्न स्तर पर लाकर उसे 'हीनोथीज़्म' का नाम देते हुए एक प्रकार से उसे अनीश्वरवाद की सीमा तक ले आए। कारण यह था कि वे वेदों में उन पौराणिक देवी-देवताओं का उल्लेख मानते हैं, जो प्रचलित अंधविश्वासपूर्ण व्याख्या पर आधारित हैं। पं० गुरुदत्त ने 'देवता' शब्द के वास्तविक अर्थ के सम्बन्ध में प्राचीन प्रमाणों को उद्धृत किया है, जैसा कि यह शब्द वैदिक ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने अनेक उदाहरण देकर यह भी सिद्ध किया है कि किस प्रकार अपने अज्ञान तथा प्राचीन प्रमाणों की उपेक्षा करने के कारण यूरोपीय विद्वानों ने वेदों को ग़लत ढंग से समझा तथा उनके अर्थ करने में भी ग़लतियाँ कीं। इस प्रसंग का उपसंहार पं० गुरुदत्त ने अपने कतिपय निष्कर्षों के साथ किया है जिसे पूर्ण रूप से उद्धृत करना ही उचित होगा—

'' हम यह देख चुके हैं कि यास्क उन पदार्थों को 'देवता' नाम से अभिहित करते हैं जिनके गुणों का वर्णन मंत्रों में किया जाता है। तब 'देवता' क्या हैं? वे उन सबके प्रतीक हैं जो मानवी ज्ञान के विषय बन सकते हैं। मनुष्य का सारा ज्ञान दो बातों से परिसीमित होता है—समय और स्थान। 'कारण सिद्धान्त' का हमारा ज्ञान वस्तुतः घटनाओं के क्रम का ज्ञान है तथा यह क्रमिकता काल में एक नियम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। द्वितीयतः हमारा ज्ञान किसी न किसी वस्तु का ज्ञान होगा तथा वह वस्तु किसी न किसी स्थान पर होगी। वह वस्तु अपने अस्तित्व तथा घटित होने के क्रम में किसी न किसी स्थान की अपेक्षा रखेगी। अब ज्ञान के आवश्यक तत्त्वों पर आएँ। मानवी ज्ञान का सर्वांगीण विभाजन विषयगत और विषयीगत ज्ञान है। विषयगत ज्ञान वह है जो मानवी शरीर की अपेक्षा नहीं रखता। यह बाह्य संसार के घटनाचक्र का ज्ञान है। जब हम विषयीगत ज्ञान की चर्चा करते हैं तो सर्वप्रथम 'अहंकार'—मानवी चेतना, चित्तवृत्ति का उल्लेख होगा। द्वितीय स्थान पर वह आन्तरिक स्थिति आएगी जिसका परिज्ञान जीवात्मा को होता है। पुनः इनको भी दो प्रकार से विभक्त किया गया है—स्वेच्छा से किये गए कार्य और शारीरिक क्रियाएँ।'' इसके उपरान्त वे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ज्ञान का हमारा पूर्वकृत विश्लेषण हमें ६ वस्तुओं—समय, स्थान, शक्ति, जीवात्मा, स्वेच्छा से किये गए कर्म तथा शारीरिक क्रिया तक पहुँचाता है, अतः इन्हें ही 'देवता' कहना चाहिये। यदि

aryasamajjamnagar.org

निरुक्त-वर्णित वैदिक देवताओं के संदर्भ को सत्य माना जाय तो यह स्वीकार करना होगा कि वेद इन्हीं ६ वस्तुओं को देवता कहकर सम्बोधित करते हैं, किन्हीं अन्य को नहीं। हमने स्वामी दयानन्द की वैदिक व्याख्या-सम्बन्धी नियमों के निर्धारण-विषयक सही स्थिति को समझाने के लिए ही इस लम्बे उद्धरण को प्रस्तुत किया है।[१]

२५०० वर्षों की दीर्घ अवधि तक वेद-व्याख्या-सम्बन्धी इन नियमों की उपेक्षा होती रही जिसका परिणाम यह हुआ कि वेद-प्रतिपादित धर्म के विषय में लोगों को भयंकर भ्रान्तियाँ होती रहीं। स्वामी दयानन्द द्वारा दिया गया 'वेदों की ओर लौटो' का नारा अर्थहीन हो जाता यदि वे वेदों में निहित मूल्यवान् कोष को खोलने की कुञ्जी नहीं दे जाते। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्वामी दयानन्द की शिक्षाओं में यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, जो आधार उन्होंने खड़ा किया, उसकी नींव-तुल्य है।

हम यह जानते हैं कि हिन्दू और यूरोपीय, दोनों श्रेणियों के विद्वान् दयानन्दकृत वेदभाष्य तथा वेद-व्याख्यान पर घोर आपत्ति प्रकट करते हैं। वे इसे अत्यधिक कल्पना-आधारित तथा ऊहायुक्त मानते हैं।[२] परन्तु स्वामीजी का एक महान् विद्वान् तथा महान् सुधारक होना उनकी विपुलकाय वेद-व्याख्याओं की सत्यता पर ही आश्रित नहीं है। हमारे लिए जो बात महत्त्व की है, वह है उनके द्वारा निर्धारित सिद्धान्त—(१) वेदों को पढ़ने तथा पढ़ाने का प्रत्येक मनुष्य का अधिकार, (२) प्रत्येक आर्य का वेद के पठन-पाठन को कर्तव्य मानना, तथा (३) उपर्युक्त वर्णित वेद-व्याख्या के सिद्धान्त। यही बातें उन्हें ख्याति के मंदिर में सुप्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त थीं, किन्तु उन्होंने इससे भी अधिक किया है।

aryasamajjamnagar.org

४. हिन्दुत्व के विश्वप्रचारक

हिन्दू धर्म के इतिहास में प्रथम बार ब्राह्मण माता-पिता की सन्तान एक

---

१. वेदों में वर्णित देवताओं को पुराण-गाथाओं के देवी-देवता समझने की भूल ईसाई प्रचारक जान-बूझकर किस प्रकार करते हैं—यह बताने के लिए लाहौर के पादरी श्री ग्रिसवोल्ड के उस निबन्ध की ओर संकेत करना आवश्यक है जिसमें उन्होंने वैदिक व्याख्या पर सर्वोच्च प्रामाणिकता रखनेवाले निरुक्त के प्रणेता यास्क से अपना मतभेद दर्शाया है।

२. श्री ब्लण्ट लिखित संयुक्त प्रान्त की जनगणना का विवरण, पृष्ठ 133.

हिन्दू विद्वान् ने हिन्दू धर्म के अवरुद्ध द्वार को अवशिष्ट मानव-जाति के लिए खोला। वेदों के सम्बन्ध में उनकी स्थिति की एक तर्कसंगत परिणति के रूप में ही यह हो सका। वेद ईश्वर के वचन हैं, सृष्टि के आरम्भ में उनका ज्ञान मनुष्य-जाति के हितार्थ प्राप्त हुआ है, वे ही प्रारम्भिक ईश्वरीय ज्ञान के ग्रन्थ हैं। इसलिये उनको जानने का अधिकार मनुष्य-मात्र को है। उन्होंने बताया कि वे स्वयं यही बात कहते हैं और जो व्यक्ति वेदों का ज्ञान रखता है, उसका यह कर्तव्य है कि वह इस ज्ञान को मानव के हित के लिए सम्पूर्ण संसार में प्रसारित करे। ईसाइयों की यह धारणा है कि जो लोग ईसा मसीह को अपना त्राता स्वीकार नहीं करेंगे, उन्हें शाश्वत अभिशाप भोगना पड़ेगा। उनका यह दावा है कि ईसा और पवित्र बाइबिल पर विश्वास लाना ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। हिन्दू लोग वेदों के सम्बन्ध में ऐसी कोई बात नहीं कहते। उनका यह कथन है कि मुक्ति तो विभिन्न मार्गों का अनुसरण करके भी प्राप्त की जा सकती है। एक अच्छा मुसलमान और एक अच्छा ईसाई, अथवा दोनों में से किसी भी धर्म का न माननेवाला भी मुक्ति-लाभ करने का उतना ही अधिकारी है जितना एक अच्छा हिन्दू। उनके अनुसार मुक्ति तो वास्तविक ज्ञान तथा तदनुसार आदर्श आचरण के द्वारा प्राप्त की जा सकती है। वे यह नहीं कहते कि उपर्युक्त बातों के लिए किसी का 'हिन्दू' होना आवश्यक है। तथापि आज के हिन्दू स्पष्टतया यह मानते हैं कि हिन्दू केवल जन्म से ही होता है; जो व्यक्ति हिन्दू समाज के दायरे से बाहर जन्मा है, वह कदापि हिन्दू नहीं बन सकता। सर एल्फ्रेड लॉयल अपनी 'एशियाटिक स्टडीज़' भाग एक नामक पुस्तक में लिखते हैं कि "हिन्दुत्व एक जन्माधिकार तथा आनुवंशिक परम्परा से प्राप्त होने वाली प्रवृत्ति है। एक मनुष्य का जन्म हिन्दू धर्म में होता है, वह हिन्दू बनता नहीं है।" इस प्रकार हिन्दू समाज एक क्षयग्रस्त तथा न्यूनता की ओर जानेवाली इकाई थी। वह अपने-आप में समाया हुआ संकुचित समाज था, एक आत्ममुग्ध दायरा, जो अपने से भिन्न लोगों से कोई वास्ता नहीं रखता। स्वामी दयानन्द ने इस कारा को तोड़ डाला तथा बन्द द्वारों को उद्घाटित किया। हिन्दू और अहिन्दू इस बिन्दु पर एकमत हैं कि आर्यसमाज प्रारम्भ में एक हिन्दू संगठन के रूप में स्थापित किया गया था और वह ऐसा है भी। परन्तु इसका द्वार प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला हुआ है चाहे उसकी जाति, वर्ण और राष्ट्रीयता कुछ भी क्यों न हो।

aryasamajjammagat.org

आवश्यकता इतनी ही है कि वह इसके सिद्धान्तों को मानता हो तथा इसका सभासद बनने का इच्छुक हो। एक बार सभासद बन जाने पर वह उन सभी अधिकारों और सुविधाओं को प्राप्त करता है, चाहे वह (जन्मना) हिन्दू है या नहीं। यह सिद्धान्त व्यवहार रूप में कैसे आ सका, इसका उल्लेख हम अन्य अध्याय में करेंगे।

५. दयानन्द के मन्तव्य

स्वामी दयानन्द के अवशिष्ट धार्मिक उपदेशों को हम उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करेंगे। अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के अन्त में उन्होंने इन मन्तव्यों को संक्षिप्त किन्तु स्पष्ट रूप में एक स्वल्प व्याख्यात्मक भूमिका के साथ प्रस्तुत किया है। इन्हें हम निम्न अवतरणों में प्रस्तुत कर रहे हैं।

"सर्वतन्त्र सिद्धान्त अर्थात् सार्वजनिक धर्म, जिसको सदा से सब मानते आए, मानते हैं और मानेंगे भी, इसलिए उसको सनातन नित्यधर्म कहते हैं कि जिसका विरोधी कोई भी न हो सके, यदि अविद्यायुक्त जन, अथवा किसी मत वाले के भ्रमाए हुए जन, जिनको आप्त जाने व माने, उसको स्वीकार कोई बुद्धिमान् नहीं करते, किन्तु जिसको आप्त अर्थात् सत्यमानी, सत्यवादी, सत्यकारी, परोपकारक, पक्षपातरहित विद्वान् मानते हैं वही सबको मन्तव्य, और जिसको नहीं मानते वह अमन्तव्य होने से प्रमाण के योग्य नहीं होता। अब जो वेदादि सत्यशास्त्र और ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्तों के माने हुए ईश्वरादि पदार्थ हैं जिनको कि मैं भी मानता हूँ, सब सज्जन महाशयों के सामने प्रकाशित करता हूँ। मैं अपना मन्तव्य उसी को जानता हूँ कि जो तीन काल में सबको एक-सा मानने योग्य है। मेरा कोई नवीन कल्पना व मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है उसको मानना, मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता तो आर्यावर्त्त में प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त्त व अन्य देशों में अधर्मयुक्त चाल-चलन हैं उनका स्वीकार, और जो धर्मयुक्त बातें हैं उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूँ, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य-धर्म से बहिः है। मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुखः-दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी

aryasamajjammagar.org

बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे; इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्व सामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महाअनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण, और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी हो तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे अर्थात् जहाँ तक हो सके, वहाँ तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वथा किया करे, इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावें, परन्तु मनुष्यपनरूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।

१. प्रथम 'ईश्वर' कि जिसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं, जो सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है, जिसके गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं, जो सर्वज्ञ, निराकार, सर्वव्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सब सृष्टि का कर्ता, धर्ता, हर्ता, सब जीवों को कर्मानुसार सत्यन्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है, उसी को परमेश्वर मानता हूँ।

२. चारों 'वेदों' (विद्या धर्मयुक्त ईश्वरप्रणीत संहिता, मन्त्रभाग) को निर्भ्रान्त स्वतःप्रमाण मानता हूँ। वे स्वयं प्रमाणरूप हैं कि जिनके प्रमाण होने में किसी अन्य ग्रन्थ की अपेक्षा नहीं, जैसे सूर्य वा प्रदीप अपने स्वरूप के स्वतःप्रकाशक और पृथिव्यादि के भी प्रकाशक होते हैं वैसे चारों वेद हैं; और चारों वेदों के ब्राह्मण, छः अंग, छः उपांग, चार उपवेद और ११२७ (ग्यारह सौ सत्ताईस) वेदों की शाखा जो कि वेदों के व्याख्यानरूप ब्रह्मादि महर्षियों के बनाए ग्रन्थ हैं, उनको परतःप्रमाण अर्थात् वेदों के अनुकूल होने से प्रमाण और जो इनमें वेदविरुद्ध वचन हैं उनका अप्रमाण करता हूँ।

arvasamajjamnagar.org

३. जो पक्षपातरहित न्यायाचरण, सत्यभाषणादियुक्त ईश्वराज्ञा वेदों से अविरुद्ध है उसको 'धर्म' और जो पक्षपात-सहित अन्यायाचरण, मिथ्याभाषणादि ईश्वराज्ञा-भंग वेद-विरुद्ध है उसको 'अधर्म' मानता हूँ।

४. जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त अल्पज्ञ नित्य है, उसी को 'जीव' मानता हूँ।

५. जीव और ईश्वर स्वरूप और वैधर्म्य से भिन्न और व्याप्य-व्यापक और

साधर्म्य से अभिन्न हैं, अर्थात् जैसे आकाश से मूर्तिमान् द्रव्य कभी भिन्न न था, न है, न होगा और न कभी एक था, न है, न होगा, इसी प्रकार परमेश्वर और जीव को व्याप्य-व्यापक, उपास्य-उपासक और पिता-पुत्र आदि सम्बन्धयुक्त मानता हूँ।

६. 'अनादि' पदार्थ तीन हैं—एक ईश्वर, द्वितीय जीव, तीसरा प्रकृति अर्थात् जगत् का कारण। इन्हीं को नित्य भी कहते हैं। जो नित्य पदार्थ हैं उनके गुण, कर्म, स्वभाव भी नित्य हैं।

७. 'प्रवाह से अनादि' जो संयोग से द्रव्य, गुण, कर्म उत्पन्न होते हैं वे वियोग के पश्चात् नहीं रहते, परन्तु जिससे प्रथम संयोग होता है वह सामर्थ्य उनमें अनादि है और उससे पुनरपि संयोग होगा तथा वियोग भी। इन तीनों को प्रवाह से अनादि मानता हूँ।

८. 'सृष्टि' उसको कहते हैं जो पृथक् द्रव्यों का ज्ञानयुक्त-पूर्ण मेल होकर नानारूप बनना।

aryasamajjamnagar.org

९. 'सृष्टि का प्रयोजन' यही है कि जिसमें ईश्वर के सृष्टि-निमित्त गुण, कर्म, स्वभाव का साफल्य होना। जैसे किसी ने किसी से पूछा कि नेत्र किसलिए हैं? उसने कहा, देखने के लिए। वैसे ही सृष्टि करने के ईश्वर के सामर्थ्य की सफलता सृष्टि करने में है और जीवों के कर्मों का यथावत् भोग करना आदि भी।

१०. 'सृष्टि सकर्तृक' है। इसका कर्ता पूर्वोक्त ईश्वर है, क्योंकि सृष्टि की रचना देखने और जड़ पदार्थ में अपने-आप यथायोग्य बीजादि स्वरूप बनने का सामर्थ्य न होने से सृष्टि का 'कर्ता' अवश्य है।

११. 'बन्ध' सनिमित्तक अर्थात् अविद्या-निमित्त से है। जो-जो पापकर्म, ईश्वरभिन्नोपासना, अज्ञानादि सब दुःख-फल करनेवाले हैं, इसलिए यह 'बन्ध' है कि जिसकी इच्छा नहीं और भोगना पड़ता है।

१२. 'मुक्ति' अर्थात् सर्व दुःखों से छूटकर बन्धरहित सर्वव्यापक ईश्वर और उसकी सृष्टि में स्वेच्छा से विचरना, नियत समयपर्यन्त मुक्ति के आनन्द को भोग के पुनः संसार में आना।

१३. 'मुक्ति साधन' ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्याप्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।

१६. 'वर्णाश्रम' गुण-कर्मों की योग्यता से मानता हूँ।

२०. 'देव' विद्वानों को और अविद्वानों को 'असुर', पापियों को 'राक्षस' और अनाचारियों को 'पिशाच' मानता हूँ।

२१. उन्हीं विद्वानों, माता-पिता, आचार्य, अतिथि, न्यायकारी राजा और धर्मात्मा जन, पतिव्रता स्त्री और स्त्रीव्रत पति का सत्कार करना ''देवपूजा'' कहाती है, इससे विपरीत 'अदेवपूजा'। इनकी मूर्तियों को पूज्य और इतर पाषाणादि जड़ मूर्तियों को सर्वथा अपूज्य समझता हूँ।

२३. 'पुराण' जो ब्रह्मादि के बनाए ऐतरेयादि ब्राह्मण-पुस्तक हैं उन्हीं को पुराण, इतिहास, कल्प, गाथा और नाराशंसी नाम से मानता हूँ, अन्य भागवतादि को नहीं।

२५. ''पुरुषार्थ प्रारब्ध से बड़ा'' इसलिए है कि जिससे संचित प्रारब्ध बनते, जिसके सुधरने से सब सुधरते और जिसके बिगड़ने से सब बिगड़ते हैं, इसी से प्रारब्ध की अपेक्षा पुरुषार्थ बड़ा है।

aryasamajjamnagar.org

२६. 'मनुष्य' को सबसे यथायोग्य स्वात्मवत् सुख-दुःख, हानि-लाभ में वर्तना श्रेष्ठ, अन्यथा वर्तना बुरा समझता हूँ।

२७. 'संस्कार' उसको कहते हैं कि जिससे शरीर, मन और आत्मा उत्तम होवे। वह निषेकादि श्मशानान्त सोलह प्रकार का है, इसको कर्तव्य समझता हूँ। और दाह के पश्चात् मृतक के लिए कुछ भी न करना चाहिए।

२८. 'यज्ञ' उसको कहते हैं कि जिसमें विद्वानों का सत्कार यथायोग्य, शिल्प अर्थात् रसायन जो कि पदार्थविद्या उससे उपयोग और विद्यादि शुभगुणों का दान, अग्निहोत्रादि जिनसे वायु, वृष्टि, जल, ओषधि की पवित्रता करके सब जीवों को सुख पहुँचाना है, उसको उत्तम समझता हूँ।

२९. जैसे 'आर्य' श्रेष्ठ और 'दस्यु' दुष्ट मनुष्यों को कहते हैं, वैसे ही मैं भी मानता हूँ।

३०. 'आर्यावर्त्त' देश इस भूमि का नाम इसलिए है कि इसमें आदि सृष्टि से आर्य लोग निवास करते हैं, परन्तु इसकी अवधि उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल, पश्चिम में अटक और पूर्व में ब्रह्मपुत्र नदी है, इन चारों के बीच में जितना देश है उसको 'आर्यावर्त्त' कहते हैं और जो इनमें सदा रहते हैं उनको भी आर्य कहते हैं।

३१. जो सांगोपांग वेद-विद्याओं का अध्यापक सत्याचार का ग्रहण और मिथ्याचार का त्याग करावे, वह 'आचार्य' कहाता है।

३२. 'शिष्य' उसको कहते हैं कि जो सत्यशिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का प्रिय करनेवाला है।

३३. 'गुरु' माता-पिता; और जो सत्य को ग्रहण करावे और असत्य को छुड़ावे वह भी 'गुरु' कहलाता है।

३४. 'पुरोहित' जो यजमान का हितकारी सत्योपदेष्टा होवे।

३५. 'उपाध्याय' जो वेदों का एकदेश व अंगों को पढ़ाता हो।

aryasamajjamnagar.org

३६. 'शिष्टाचार' जो धर्माचरणपूर्वक ब्रह्मचर्य से विद्याग्रहण कर प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना है यही शिष्टाचार, और जो इसको करता है वह शिष्ट कहाता है।

३७. प्रत्यक्षादि आठ 'प्रमाणों' को भी मानता हूँ।

३९. 'परीक्षा' पाँच प्रकार की है। इसमें प्रथम जो ईश्वर, उसके गुण-कर्म स्वभाव और वेद-विद्या, दूसरी प्रत्यक्षादि आठ प्रमाण, तीसरी सृष्टिक्रम, चौथी आप्तों का व्यवहार और पाँचवीं अपने आत्मा की पवित्रता-विद्या। इन पाँच परीक्षाओं से सत्य-असत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण, असत्य का परित्याग करना चाहिये।

४१. 'स्वतन्त्र' 'परतन्त्र'—जीव अपने कामों में स्वतन्त्र और कर्मफल भोगने में ईश्वर की व्यवस्था से परतन्त्र, वैसे ही ईश्वर अपने सत्याचार आदि काम करने में स्वतन्त्र है।

४२. 'स्वर्ग' नाम सुखविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है।

४३. 'नरक' जो दु:खविशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति होना है।

४८. 'स्तुति'—गुणकीर्तन, श्रवण और ज्ञान होना; इसका फल प्रीति आदि होते हैं।

४९. 'प्रार्थना'—अपने सामर्थ्य के उपरान्त ईश्वर के सम्बन्ध से जो विज्ञान आदि प्राप्त होते हैं, उनके लिए ईश्वर से याचना करना; और इसका फल निरभिमानी आदि होना है।

५०. 'उपासना' जैसे ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव पवित्र हैं वैसे अपने करना। ईश्वर को सर्वव्यापक, अपने को व्याप्त जान के ईश्वर के समीप हम और हमारे समीप ईश्वर है—ऐसा निश्चय योगाभ्यास से साक्षात् करना उपासना कहाती है। इसका फल ज्ञान की उन्नति आदि है।

५१. 'सगुणनिर्गुणस्तुतिप्रार्थनोपासना'—जो-जो गुण परमेश्वर में हैं उनसे युक्त और जो-जो नहीं हैं उनसे पृथक् मानकर प्रशंसा करना सगुण-निर्गुण स्तुति, शुभ गुणों के ग्रहण की इच्छा और दोष छुड़ाने के लिए परमात्मा का सहाय चाहना सगुण-निर्गुण प्रार्थना, और सब गुणों से सहित, सब दोषों से रहित परमेश्वर को मानकर अपने आत्मा को उसके और उसकी आज्ञा के अर्पण कर देना सगुणनिर्गुणोपासना होती है।

aryasamajjamnagar.org

हमने कतिपय अन्य मन्तव्यों को अनावश्यक समझकर अथवा अन्य मन्तव्यों में समाविष्ट जानकर छोड़ दिया है। परन्तु स्वामी दयानन्द एक धर्म-प्रचारक से कुछ अधिक थे। वे एक समाज-सुधारक तथा देशभक्त थे। आगामी अध्यायों में उनके सामाजिक तथा धार्मिक विचारों का समीक्षण किया जाएगा जब हम आर्यसमाज के सामाजिक कार्यों तथा उसकी राजनीतिक विचारधारा का विवेचन करेंगे। ❑

दयानन्दकृत वेदभाष्य

नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्॥ —तै० ब्रा० ३/१२/९

''जो वेद को नहीं जानता वह उस महान् ब्रह्म को भी नहीं जानता।''

जहाँ तक स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य को 'कल्पना प्रधान' कहने का सम्बन्ध है, यह ध्यान रखना चाहिए कि वेद के वास्तविक अभिप्राय को जानना कठिन है, व्याख्या करने की तो बात ही भिन्न है। १८६९ में जब प्रो० मैक्समूलर ने अपने ग्रन्थ Vedic Hymns भाग १ को प्रकाशित किया था, उस समय उन्होंने अपने इस कार्य को 'वेदमंत्रों के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने का एक प्रयत्न' कहा था। इसके २० वर्ष बाद जब उन्होंने इसी ग्रन्थ का द्वितीय संशोधित संस्करण प्रकाशित किया, तब उन्होंने पूर्वोक्त कथन को ही दुहराते हुए कहा—''मैं मानता हूँ कि मुझसे पूर्व के वेदानुवादक इस ज्ञान के प्रकाशक थे।''[१] वेदों के अनुवाद-कार्य में अपने प्रतिद्वन्द्वियों (अधिकांश जर्मन प्राध्यापकगण) के सम्बन्ध में उसने कहा, 'एक अन्य बिन्दु भी है जिसके सम्बन्ध में, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि मेरे प्रतिद्वन्द्वियों का दृष्टिकोण ही सही है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति वेदों के बारे में थोड़ा भी जानते हैं, वेदानुवाद करने का यत्न कभी नहीं करेंगे। ऋग्वेद के अनुवाद का कार्य तो आगामी शताब्दी में ही हो सकेगा।'[२] एक अन्य स्थान पर प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं—''यदि ऋग्वेद के अनुवाद से हमारा अभिप्राय पूर्ण, संतोषप्रद तथा अन्तिम अनुवाद से है तो मैं प्रो० वॉन राथ से भी एक कदम आगे जाना चाहूँगा। ऐसे कार्य के लिए हमें न केवल आगामी शताब्दी तक प्रतीक्षा करनी होगी, परन्तु मुझे तो संदेह है कि क्या हम यह कार्य कर भी पाएँगे?''[३] पुनः वह ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के १६५वें सूक्त के स्वयं

aryasamajjamnagar.org

---

१. Sacred Books of the East, vol. XXXII, 'वैदिक हिम्स' भाग 1, प्रस्तावना P. ix.

२. वही, पृष्ठ xi.

३. वही, पृष्ठ xxi.

कृत अनुवाद की तुलना प्रो० वॉन राथ के अनुवाद से करता है तथा निष्कर्षरूप में लिखता है—"इस प्रकार की तुलना वैदिक अध्ययन की अस्थिर दशा की सूचना देती है। परन्तु इस तथ्य को जितनी पूर्णता के साथ स्वीकार किया जाय उतना ही अच्छा है, और मेरी धारणा है कि यह हमारे अध्ययन की प्रगति के लिए उतना ही शुभ है। यूरोपीय विद्वानों द्वारा किया हुआ वेदानुवाद उस हानिकारक यथार्थवाद से अत्यधिक प्रभावित हुआ है जिसने असीरिया और बेबिलोनिया के प्राचीन लेखों को पढ़ने के कार्य में भी कठिनाई उत्पन्न की है। इन लेखों के गूढ़ाक्षरों का अध्ययन करनेवाले यह जानते हैं कि उन्हीं शब्दों तथा नामों की प्रतिवर्ष की जानेवाली नई व्याख्या कतई अनुचित नहीं है। इस अध्ययन की महत्ता को सर्वाधिक क्षति तब पहुँचती है जब अध्येता यह मान लेते हैं कि इन लेखों का यह अनुवाद अन्तिम और अपरिवर्तनीय है।..... जब यही बात अधिक कठिन वेदमंत्रों के बारे में कही जाती है तो यह मानना पड़ता है कि मिश्रदेशीय तथा बेबिलोनिया के देवताओं को सम्बोधित किये मंत्रों की अपेक्षा वेदमंत्रों का अर्थ अधिक कठिन तथा कल्पनाश्रित हो जाएगा।"

aryasamajjamnagar.org

मैक्समूलर ने जब यूरोपीय विद्वानों के उस घातक यथार्थवाद के प्रति अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की थी, तो वस्तुतः उसने यही व्यक्त किया कि वेद के इन अनुवादकों का कार्य मुख्यतः अनुमानाश्रित ही है। परन्तु यहाँ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि वेद तथा उसके धर्म के सम्बन्ध में स्वयं उसके निष्कर्ष भी उतनी ही आलोचना के पात्र हैं। प्राचीन सभ्यताओं के बारे में प्रस्तुत किये गए यूरोपीय विद्वानों के निष्कर्षों के दूषित एवं भ्रष्ट होने का एक कारण यह भी है कि उन्होंने इन पुरातन सभ्यताओं का अध्ययन ईसाई अथवा आधुनिक मानदण्डों से किया था और उनकी धारणा थी कि सभ्यताओं को जानने का उनका दृष्टिकोण ही यथार्थ और अविचलित है। वे यह भूल जाते हैं कि अध्ययन के सारे मानदण्ड अस्थिर होते हैं तथा जिन मानदण्डों को वे स्थायी मान लेते हैं वे उन्हीं के देखते-देखते यदा-कदा परिवर्तित होते रहते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने वैदिक अनुसंधान के क्षेत्र में जिस उदारता के साथ अपना समय और श्रम व्यय किया है, उसके लिए एक ओर जहाँ हम उनके प्रति गम्भीर आभार-भाव प्रकट करते हैं, वहाँ हम यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि उनके द्वारा वेद-प्रोक्त धर्म के सम्बन्ध में शीघ्रता में प्रस्तुत किये गए निष्कर्षों ने

अपरिमेय तथा अनावश्यक हानि भी की है। यह हानि इस अर्थ में हुई कि इससे पठित हिन्दू समाज की प्रारम्भिक पीढ़ियों में वैदिक धर्म के प्रति पूर्वाग्रहों और दुराग्रहों का एक पुञ्ज-सा एकत्रित हो गया था। परन्तु इसका एक दूसरा पहलू यह है कि पाश्चात्यों के इस अध्ययन ने भारतीय विद्वानों की नई पीढ़ी को, जो वेदाध्ययन और वेदव्याख्यान के कार्य के प्रति समर्पित है, नूतन प्रेरणा भी दी है। ईसाई धर्म के उत्साही प्रचारकों ने ग़ैर-ईसाइयों को ईसाई धर्म में लाने के अंध जोश में भरकर ईसाई धर्मग्रंथ बाइबिल की श्रेष्ठता प्रतिपादित करते हुए अत्यन्त प्रभविष्णु भाषा में वेदों की निंदा करने में कोई संकोच नहीं किया। ऐसा करते हुए वे शिष्टाचार के आवश्यक नियमों का भी उल्लंघन कर गए तथा नीतिपूर्ण शास्त्रार्थ-प्रणाली को भी विस्मृत कर गए। इस प्रसंग में उन्होंने वैदिक धर्म और वेद-प्रतिपादित संस्कृति के सम्बन्ध में यूरोपीय विद्वानों के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया, परन्तु वे इन निष्कर्षों में निहित त्रुटियों को बताने के लिए तैयार नहीं हुए, यद्यपि वे स्वयं यह जानते थे कि यूरोपीय विद्वानों के ये निष्कर्ष वेदों के अपूर्ण, अशुद्ध तथा असंतोषप्रद अनुवादों पर आधृत हैं। अतः यह कतई आश्चर्यप्रद नहीं है कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गए इन कटे-छँटे तथा अप्रासंगिक उद्धरणों से भ्रमित होकर कुछ शिक्षित भारतीयों ने वेदों को त्यागकर ईसाई विचारधारा को श्रेष्ठ स्वीकार कर लिया, हालाँकि उन्होंने ईसाई धर्म को स्वीकार नहीं किया था, और यह अधिकांश में बंगाल तथा बम्बई (वर्तमान महाराष्ट्र) प्रान्त में हुआ।

aryasamajjammagar.org

स्वामी दयानन्द ने इस वेद-विरोधिनी तथा हिन्दू-विरोधिनी धारा को अवरुद्ध करना अपना जीवन-लक्ष्य बनाया तथा यह बताया कि यूरोपीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत किये गए निष्कर्ष दोषपूर्ण तो हैं ही, साथ ही वे ईसाई पूर्वाग्रह के सचेतन अथवा अचेतन प्रभाव से भी ग्रस्त हैं। प्रत्येक स्थिति में, स्वयं यूरोपीय विद्वानों के ही शब्दों में उनके द्वारा किये गए ये अनुवाद अस्थायी और स्थानापन्न हैं। स्वामी दयानन्द किसी भी यूरोपीय भाषा, यहाँ तक कि अंग्रेजी से भी परिचित नहीं थे। अतः उनके द्वारा प्रस्तुत की गई मैक्समूलर के ऋग्वेद-भाष्य की समीक्षा उन मित्रों द्वारा दी गई सूचनाओं पर आधारित है, जो अंग्रेजी भली-भाँति जानते थे।

आधुनिक विज्ञान एवं नवचिन्तन के प्रख्यात विद्वान् तथा साथ ही उच्च संस्कृतज्ञ पं० गुरुदत्त ने संस्कृत व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य की छाया में यूरोपीय विद्वानों के उपर्युक्त निष्कर्षों का परीक्षण किया था तथा उन्हें त्रुटिपूर्ण एवं भ्रमात्मक सिद्ध किया।[१] जो व्यक्ति स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में अपना निर्णयात्मक मत व्यक्त करना चाहते हैं तथा उनके वेदभाष्य की विशेषताओं का अनुशीलन करना चाहते हैं, उन्हें निम्न बातों को अपने ध्यान में रखना होगा—

(अ) यह भाष्यलेखन इस क्षेत्र में उनका प्रथम प्रयास था।

(आ) यह सारा कार्य सात वर्ष की अत्यन्त संक्षिप्त अवधि में पूर्ण हुआ। इस भाष्य की प्रथम किस्त, जिसमें कुछ मंत्रों का अर्थ दिया गया था, १८७६ के अन्त में प्रकाशित हुई थी और ३० अक्टूबर १८८३ को स्वामीजी का निधन हो गया।

(इ) यही समय उनके जीवन का अत्यधिक व्यस्त काल था जब वे अपना अधिकांश समय प्रचार-कार्य में लगाते थे। इसी अवधि में उन्होंने आर्यसमाजों की स्थापना की, सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत शास्त्रार्थ किये, अपने विचारों और लेखों की आलोचनाओं का प्रतिवाद किया तथा वेदभाष्य-लेखन के अतिरिक्त हिन्दी एवं संस्कृत में अनेक ग्रंथ लिखे और प्रकाशित कराए। इसके उपरान्त उन्होंने अध्यापन में भी कुछ समय लगाया। हमने उन कतिपय नरेशों के नामों का उल्लेख किया है जिन्होंने उनके सान्निध्य में अध्ययन किया था, किन्तु उनके शिष्यमण्डल में साधु, पुरोहित तथा जनसाधारण भी थे।

aryasamajjamnagar.org

(ई) यह भी स्मरणीय है कि उनको अपना अधिकांश काम एकाकी, बिना किसी सहायक के करना पड़ा। उन्होंने ग्रन्थ लिखाने के लिए पण्डित नियुक्त किये जो उनके संस्कृत-ग्रन्थों के हिन्दी-अनुवाद करते तथा प्रेस-कॉपी तैयार करते थे। परन्तु इससे अधिक उन्हें वेदभाष्य-प्रणयन में किसी से कोई सहायता नहीं मिली, क्योंकि कोई ऐसा अन्य वेदज्ञाता ही नहीं था जो उनको सहायता देता। जिन्हें वेदों के विषय में स्वल्प ज्ञान था भी, वे उसका अनुवाद करने को एक अपवित्रतापूर्ण कृत्य समझते थे।

---

१. द्रष्टव्य—पं० गुरुदत्त के सर मोनियर विलियम्स कृत 'भारतीय प्रज्ञा' (Indian Wisdom) पर दिये गए व्याख्यान तथा उनके 'यूरोपीय विद्वान् तथा वेद'- विषय पर लिखे गए निबंध।

(उ) स्वामीजी को अपने वेदभाष्य के पुनरीक्षण तथा उस पर पुनर्विचार करने का भी समय नहीं मिला।

उपर्युक्त परिस्थितियों में उन्हें इस कार्य में जो भी सफलता मिली, वह सर्वथा प्रशंसनीय है तथा हमारी हार्दिक प्रशस्ति की अधिकारिणी है। उनका वेदभाष्य सर्वथा निर्भ्रान्त है—ऐसा ऋषि दयानन्द ने भी नहीं माना था। परन्तु उनके वेदभाष्य के प्रतिपृष्ठ में भाष्यकार के उद्देश्य की ईमानदारी लक्षित होती है। इस भाष्य में वेदों के यूरोपीय भाष्यकारों (मैक्समूलर को छोड़कर) से भिन्न, वे मन्त्रों का स्वप्रतिपादित अर्थ देकर ही संतुष्ट नहीं हो गए हैं, अपितु उन्होंने प्रत्येक मंत्रार्थ को युक्तियों एवं प्रमाणों से पुष्ट किया है। साथ ही उन्होंने इस प्रसंग में उन प्राचीन लेखकों को भी उद्धृत किया है जिन्हें भारतीय सभ्यता के वैदिक युग के अत्यन्त निकटवर्ती होने के कारण वेदों का उत्कृष्ट एवं गम्भीर ज्ञान था।

स्वामीजी के वेदभाष्य में प्रत्येक वेदमन्त्र का भाष्य लिखने के पूर्व मन्त्र में प्रयुक्त शब्दों के व्याकरणपरक तथा व्युत्पत्तिशास्त्र से सम्बन्धित अर्थों की विवेचना की गई है। तत्पश्चात् प्रतिशब्द का अर्थ दिया गया है, तदनन्तर पूर्ण मन्त्र का अर्थ तथा अन्त में भाष्य तथा भावार्थ दिया गया है।

aryasamajjamnagar.org

यह सारा भाष्य उनकी अपनी भाषा संस्कृत में लिखा गया है, जिसका हिन्दी-अनुवाद उन पण्डितों के द्वारा किया गया जो इसी उद्देश्य के लिए नियुक्त किये गए थे। उत्तर भारत की प्रमुख भाषा हिन्दी में वेदों का अनुवाद प्रस्तुत करना उनके जीवन का अत्यन्त साहसपूर्ण कार्य था, क्योंकि ऐसा प्रयास इससे पूर्व कभी नहीं किया गया था। यही बात उनके वेदभाष्य में निहित उद्देश्य के दूरदर्शितापूर्ण तथा ईमानदार होने का निश्चित प्रमाण है।

प्रोफेसर मैक्समूलर ने प्रथम स्वयं समझने तथा उसके पश्चात् पाठकों के लिए वेदों के अनुवाद करने के अपने प्रयत्नों के सम्बन्ध में लिखा है— "यह तो आरम्भ ही है। वेदमन्त्रों के अभिप्राय को भली-भाँति समझने के लिए एक प्रयास मात्र है।" साथ ही वे यह भी विश्वास प्रकट करते हैं कि उनके अनुवाद में कई बिन्दु ऐसे भी हैं जो कभी न कभी अन्य अधिकृत विद्वान् द्वारा सुधारे जाएँगे अथवा उन्हें पूर्णतया बदल दिया जाएगा। वह आगे कहता है, "जैसा

कि सभी वैदिक विद्वान् जानते हैं—अनेक सूक्त और मन्त्र ऐसे भी हैं जिनका अर्थ हम अभी तक समझ नहीं सके हैं। ऐसे शब्द हैं जिनका अर्थ हम अभी तक समझ नहीं सके हैं। ऐसे भी शब्द हैं जिनके अर्थों के सम्बन्ध में हम मात्र अनुमान ही कर सकते हैं।'"[1]

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य के सम्बन्ध में सारांश रूप में हम यही कह सकते हैं कि हिन्दू दृष्टिकोण से, इस सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक का यह सर्वश्रेष्ठ एवं अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण शैली में लिखा गया भाष्य है जो जनता के हेतु तैयार किया गया। फिर भी, यही कहना होगा कि दयानन्द ने आनेवाली पीढ़ी को बताया कि उनका वेदों के प्रति दृष्टिकोण किस प्रकार का होना चाहिए तथा उनकी व्याख्या किस प्रकार की जानी चाहिए। वेदों के एक परिपूर्ण तथा पूर्ण प्रज्ञायुक्त अनुवाद के लिए शताब्दियों के परिश्रम तथा धैर्य की आवश्यकता होगी। विद्वान् हिन्दुओं की भावी पीढ़ियों को अपने सम्पूर्ण जीवन—अत्यन्त विनम्रता तथा समस्त कठिनाइयों पर पार पाने की भावना के साथ वेद के अध्ययन को समर्पित करने होंगे। तभी ये प्राचीन शास्त्र अपने सत्य एवं सौन्दर्य के कोशों का एक अंश-मात्र हमें प्रदान करेंगे। ❑

aryasamajjamnagar.org

1. Sacred Books of the East, Vol. XXXII 'Vedic Hymns', Pt. I, P. xxxii.

भाग-२ : आर्यसमाज

अध्याय ६

धार्मिक शिक्षाएँ

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

—यजुर्वेद अ० ३१/१८

१. आर्यसमाज के दस नियम

विगत अध्यायों में हमने आर्यसमाज की स्थापना का विवरण प्रस्तुत किया है। मूलतः आर्यसमाज की स्थापना बम्बई में १८७४ में हुई थी, परन्तु उसके नियमों को १८७७ में लाहौर में संशोधित करके अन्तिम रूप दिया गया। उसी समय उसके विधान को भी अन्तिम स्वरूप प्रदान किया गया। आर्यसमाज के दस नियम[१] उसके विश्वासों एवं सिद्धान्तों की अधिकृत व्याख्या है जिन्हें प्रत्येक आर्य को आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण करते समय स्वीकार करना पड़ता है। ये नियम इस प्रकार हैं—

aryasamajjammagar.org

१. सब सत्य विद्या और जो पदार्थ विद्या से जाने जाते हैं, उन सबका आदि मूल परमेश्वर है।

२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

३. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

४. सत्य के ग्रहण करने और असत्य के छोड़ने में सर्वदा उद्यत रहना चाहिए।

---

१. इन नियमों का आधार ऋषि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त हैं—यह भी अब स्वीकार किया गया है।

५. सब काम धर्मानुसार अर्थात् सत्यासत्य को विचार करके करने चाहिएँ।

६. संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

७. सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चहिए।

८. अविद्या का नाश और विद्या की वृद्धि करनी चाहिए।

९. प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से संतुष्ट नहीं रहना चाहिए, किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए।

१०. सब मनुष्यों को सामाजिक सर्वहितकारी नियम पालने में परतन्त्र रहना चाहिए और प्रत्येक हितकारी नियम में सब स्वतन्त्र रहें।

इन दस नियमों को स्वीकार करना आर्यसमाज के सदस्यों के लिए अनिवार्य है। इन नियमों में जो सैद्धान्तिक बातें हैं वे प्रथम तीन नियमों में आ गई हैं जो आर्यसमाज की ईश्वर-विषयक धारणाओं तथा वेदों के प्रति उसके उपदेश का उल्लेख करते हैं। निश्चय ही, ये नियम धार्मिक विचारणा की दृष्टि से अत्यन्त सरल हैं जिन पर विश्वास लाने में किसी भी हिन्दू को कोई कठिनाई नहीं हो सकती। इन नियमों की बम्बई में १८७५ में निर्मित नियमों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रयत्न के द्वारा मतवाद-विषयक सारी बातों को पृष्ठभूमि में रखकर नियमों और सिद्धांतों को सारे विवादास्पद मसलों से स्वतन्त्र कर दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुत: इन नियमों के द्वारा आर्यसमाज को, उसके हिन्दू चरित्र को हटाए बिना भी, अधिक से अधिक व्यापक बनाने का प्रयास किया गया था।

aryasamajjamnagar.org

हम यह लिख चुके हैं कि स्वामीजी की १८७२ में की गई कलकत्ता-यात्रा के समय ब्रह्मसमाज के नेताओं ने उनसे अपने समाज में प्रविष्ट होने तथा अपने सिद्धांतों के प्रचार में उनकी शक्तिशाली सहायता लेने की दृष्टि से विचार-विमर्श किया था। परन्तु अत्यन्त अल्पकाल में ही यह स्पष्ट हो गया कि इस प्रकार का समझौता सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मसमाज के लोग वेदों को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने से इन्कार करते थे तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत में भी उनका विश्वास नहीं था। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द ऐसे किसी प्रचार के साधन नहीं बनना चाहते थे जिससे उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों में से किसी भी एक की

उपेक्षा या क्षति हो। मैक्समूलर के शब्दों में—''उनकी दृष्टि में वेद न केवल ईश्वर-प्रेरित ज्ञान है, अपितु यह मानव-इतिहास तथा मानवी सृष्टि से भी पहले का है।'' स्वामी दयानन्द के अनुसार वेदों में वर्णित प्रत्येक बात पूर्ण सत्य है। इस विचारणा की दृष्टि से वे भारत के प्राचीन धर्माचार्यों से पूर्ण सहमति रखते हैं जो निरपवाद रूप में यह मानते थे कि वेद ईश्वरीय तथा अपौरुषेय हैं। उनके विचारानुसार कोई भी मत-सम्प्रदाय जो अपने-आपको आर्य या हिन्दू धर्म से सम्बन्धित स्वीकार करता है, वेद-विषयक इस मौलिक सिद्धांत की उपेक्षा या अवहेलना नहीं कर सकता। उन्होंने अपनी यह धारणा वेद के आधार पर ही बनाई थी। वेदों के ये पवित्र ग्रन्थ उनके निकट परवर्ती दूषित एवं भ्रष्ट हिन्दू धर्म से लड़ने के लिए सुदृढ़ शस्त्र के तुल्य थे। उनके अनुसार वेदों में जो कुछ लिखा गया है वह समस्त वाद-विवाद से परे है और ऐसा मानने में उन्हें हिन्दू विचारधारा का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। प्रारम्भ काल से लेकर अत्याधुनिक युग तक हिन्दू धर्म के अन्तर्गत धार्मिक साहित्य की जिस किसी शाखा का जिस किसी शैली में निर्माण हुआ है, वह इस बिन्दु पर सहमत है तथा निस्संकोच रूप से वेद के अन्तिम तथा निर्णायक प्रामाण्य को स्वीकार करती है।

उपनिषद् ग्रन्थों से लेकर जिनके बारे में सम्भवतः शॉपनहार से अधिक श्रेष्ठ कोटि की अन्य कोई प्रशस्ति किसी व्यक्ति द्वारा प्रस्तुत नहीं की जा सकी, पौराणिक हिन्दू धर्म की किसी नवीन पुस्तक तक हिन्दू साहित्य की सभी शाखाएँ वेदों की सर्वोपरि प्रामाणिकता पर एकमत हैं। यहाँ तक कि दार्शनिक और स्वतंत्र चिंतकों ने भी वेदों का त्याग नहीं किया। हिन्दू दर्शन के ६ सम्प्रदायों के महान् संस्थापकों ने भी अपनी-अपनी दृष्टि से वेदप्रामाण्य को अन्तिम निर्णायक माना है। शंकराचार्य की भी यही धारणा है तथा ऐसा ही मत मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर, आपस्तम्ब तथा अन्य स्मृतिकारों का है। यहाँ तक कि तांत्रिक लोग भी अपने मत का आधार वेदों को ही मानते हैं। निश्चय ही पुराण एकमत से वेदों को ईश्वरीय तथा निर्भ्रान्त स्वीकार करते हैं। वस्तुतः भारतीय चिंतन तथा भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में केवल बौद्ध, जैन और चार्वाक (नास्तिक, अनीश्वरवादी) ही हैं जो वेद-प्रामाण्य को अस्वीकार करते हैं और मूलतः इन लोगों को हिन्दू धर्म के दायरे से बाहर ही समझा गया था। यहाँ तक कि ब्रह्मसमाज का आरम्भ भी वेदों के ईश्वर-प्रोक्त होने के विश्वास को लेकर हुआ

था।[१] दयानन्द के धर्मप्रचार तथा उनकी सुधार-योजना का तो वेद प्राणतत्त्व ही है। मैक्समूलर के शब्दों में वेदप्रामाण्य ने उनके मन को इतना अधिक आक्रान्त एवं प्रभावित कर दिया था कि कोई भी तर्क इस धारणा को स्पर्श तक नहीं कर सकता था। जैसा कि ब्रह्मसमाज के नेताओं को शीघ्र ही ज्ञात हो गया था, दयानन्द को इस स्थिति से विचलित करना असम्भव था। इसलिए १८६९[२] में दयानन्द को ब्रह्मसमाज द्वारा अपनी ओर आकृष्ट कर लेने का प्रयत्न असफल हो गया।

१८७७ में भारत के तत्कालीन वायसराय तथा गवर्नर-जनरल लॉर्ड लिटन ने महारानी विक्टोरिया द्वारा 'भारत की साम्राज्ञी' का पद स्वीकार कर लेने के उपलक्ष्य में दिल्ली में एक विशाल दरबार का आयोजन किया। इस अवसर पर देश के प्रमुख व्यक्ति दिल्ली में एकत्रित हुए थे। इस अवसर पर प्रयन्त किया गया कि हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि भारत की सभी जातियों को समान रूप से स्वीकार्य सिद्धांतों की तलाश की जाय। स्वामी दयानन्द, सैयद अहमद तथा केशवचन्द्र ने इस सम्मेलन में भाग लिया, किन्तु वे शीघ्र ही इस विचार पर पहुँच गए कि सब लोगों को समान रूप से स्वीकार्य सूत्र की तलाश सम्भव नहीं है। हमारी सम्मति में यह प्रयास समयानुकूल न होने से अयुक्त था। उस समय भी स्वामी दयानन्द किसी ऐसे मत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे, जिसमें वेद की उपेक्षा हो।

यह सोचने के प्रमाण हैं कि इसके शीघ्र बाद जब वे लाहौर गए तो कुछ लोगों ने आर्यसमाज के सिद्धांतों से वेद-विषयक नियम को पृथक् कर देने का परामर्श दिया, परन्तु इस मत को वे सुनने तक के लिए तैयार नहीं थे और ऐसा करने में उनके पास युक्ति और प्रमाण भी थे, उनका लक्ष्य किसी नवीन मत या

१. मैक्समूलर 'बायोग्रेफिकल एसेज' में लिखते हैं—"राममोहन राय तथा उनके अनुयायी भी कुछ काल तक वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते रहे। ईसाई प्रचारकों से हुए अपने प्रारम्भिक विवादों में उन्होंने यही धारणा व्यक्त की थी कि बाइबिल के दैवी प्रेरणा से प्रसूत होने में ऐसी कोई युक्ति नहीं है जिसे उसी प्रभाव के साथ वेदों के लिए लागू नहीं किया जा सकता है(पृ० १६८)। वे न तो मुसलमान बने और न ईसाई, परन्तु अन्त तक वे वेदों में विश्वास रखनेवाले ब्राह्मण ही रहे, ऐसे ब्राह्मण जो एक ईश्वर को मानता है तथा उसी के ज्ञान को वेद में व्यक्त हुआ स्वीकार करता है।" पृ०३३।

२. स्वामी दयानन्द की ब्राह्म नेताओं से भेंट १८७२-७३ में हुई थी। (सम्पादक)

पन्थ की स्थापना न होकर वैदिक धर्म का पुनरुत्थान करना तथा हिन्दू समाज में आनेवाली बुराइयों को दूर करना ही था। वे तो इस विवादास्पद नियम में इतना ही परिवर्तन करने की स्वीकृति दे सकते थे जिससे कि बुद्ध के जन्म के पूर्व के विभिन्न हिन्दू चिन्तकों तथा लेखकों के वेद-विषयक विभिन्न विचारों को इस नियम में समन्वित रूप से प्रस्तुत किया जा सके।[१] उनकी यह भी इच्छा नहीं थी कि वे अपनी मान्यताओं को आर्यसमाज में प्रविष्ट होनेवालों पर थोपें। वे यही चाहते थे कि आर्यसमाज के सदस्य महान् ऋषियों, मुनियों तथा विद्वानों के मतों को स्वीकार करें। इसलिए आर्यसमाज के नियमों का निर्धारण करते समय जब उन्हें यह सुझाव दिया गया कि नियमों की भाषा बनाते समय ऋषियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का ही प्रयोग किया जाना चाहिए, तो उन्होंने इस सुझाव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और क्रियान्वित भी किया। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज के जो नियम सन् १८७५ में बम्बई में निर्मित हुए, उनमें तथा १८७७ में लाहौर में अन्तिम रूप से स्वीकर किये गए नियमों में आए अन्तर का क्या कारण था।

aryasamajjamnagar.org

२. आर्यसमाज में विभाजन

विगत पच्चीस वर्षों में इस बात को लेकर आर्यसमाज में एक महान् विवाद उत्पन्न हो गया है कि स्वामी दयानन्द द्वारा व्यक्त धारणाएँ और विचार इस संस्था के सदस्यों द्वारा किस सीमा तक मान्य हैं? १८९२ में आर्यसमाज दो दलों में विभाजित हो गया था। स्पष्टतः इसके दो कारण थे-(१) मांसभक्षण का औचित्य? (२) स्वामी दयानन्द की स्मृति में १८८६ में स्थापित दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज लाहौर को किस पद्धति पर संचालित किया जाए? इन दोनों विवादास्पद बिन्दुओं के मूल में यही बात थी कि स्वामी दयानन्द के

---

१. "वेदों को सर्वोपरि प्रमाण मानने तथा उन्हें ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करने के प्रसंग में एक अन्य सर्वमान्य बात भारतीय दर्शन में उल्लिखित हुई है—सांख्य दर्शन (अज्ञेयवादी विचारधारा) के सम्बन्ध में वह विश्वास प्रचलित था कि प्रारम्भ में वह वेदों को ईश्वरीय ज्ञान नहीं मानता, किन्तु 'श्रुति' (१/५) का उल्लेख इस दर्शन में भी हुआ है। जहाँ तक हमारा विचार है—सांख्य भी वेद-प्रमाण को स्वीकार करता है तथा इसे 'शब्द' नाम से अभिहित करता है"। 'भारतीय दर्शन के ६ सम्प्रदाय' मैक्समूलर कृत, १९०३, पृ० १११,
एतद् विषयक विस्तृत चर्चा के लिए इसी ग्रन्थ का २०६ पृष्ठ द्रष्टव्य है।

कथनों को किस सीमा तक प्रामाणिक माना जाय? जो पक्ष मांसभक्षण का विरोधी था तथा उसे पापकृत्य मानता था, उसका कथन था कि मांसभक्षण का अनौचित्य स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित होने से आर्यसमाज के लिए बाध्यता रूप में मान्य है, अतः जो भी व्यक्ति इस विषय में भिन्न मत रखता है, वह न तो आर्यसमाज का सभासद बन सकता है और न रह सकता है। इस दल के कुछ सदस्य जिनकी संख्या कुछ कम नहीं थी, दयानन्द को निर्भ्रान्त मानने की सीमा तक चले गए। कुछ अन्यों का विचार था कि जब तक वेदों के सम्बन्ध में दयानन्द से अधिक प्रामाणिक और श्रेष्ठ कोई अन्य अधिकृत आचार्य उत्पन्न नहीं होता, तब तक आर्यसमाज उनकी वेदभाष्य-शैली तथा धारणाओं से अविचल रूप से बँधा रहेगा। इसके विरोधी पक्ष को यह फैसला अस्वीकार्य था। उन्होंने निश्चित विचार व्यक्त किया कि स्वामी दयानन्द के विचारों को मानने के लिए आर्यसमाज बाध्य नहीं है तथा आर्यसमाज के एक सभासद के लिए मात्र दस नियमों को स्वीकार कर लेना पर्याप्त है। उनका यह भी कहना था कि यद्यपि यह सत्य है कि स्वामी दयानन्द ने मांसभक्षण के विरोध में अपनी सम्मति दी है तथा आर्यसमाज ने भी इसे चुपचाप स्वीकार कर लिया है, तथापि आर्यसमाज को एक व्यक्ति के उन मामलों के सम्बन्ध में प्रश्न करने का कोई अधिकार नहीं है, जो नियमों के अन्तर्गत नहीं आते। वे यह भी स्वीकार करते थे कि आर्यसमाज की ओर से मांसभक्षण के सम्बन्ध में क्या उपदेश दिया जाय, इसका निर्णय करने का अधिकार संस्था के बहुमत को है, परन्तु वे इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि बहुमत व्यक्तियों की वैयक्तिक रुचियों के सम्बन्ध में कोई निर्णय करे तथा उन बातों को मानने के लिए बाध्य करे जो आर्यसमाज के नियमों की सीमा से बाहर हैं।

aryasamajjammagar.org

जब आर्यसमाज में इस मतभेद को लेकर वास्तविक विभाजन हो गया तो एक आश्चर्यजनक बात दृष्टिगोचर हुई। शाकाहार में विश्वास रखनेवालों का एक बड़ा समूह जो अपने विश्वास तथा जाति-नियमों के अन्तर्गत मांसाहार के विरोधी थे, उन लोगों के निकट आ गए थे जो विचार-स्वातन्त्र्य तथा आत्मा की आवाज को महत्त्व देने के पक्षपाती थे। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी थे जो मांसाहारी होते हुए भी विरोधी दल के निकट रहे। विचार-स्वातन्त्र्य के समर्थक दल की स्थिति को उनके एक प्रमुख प्रस्तोता (मूलराज एम०ए०, लाहौर में

१८७७ में स्थापित आर्यसमाज के प्रथम प्रधान) की भाषा में भली-भाँति समझा जा सकता है। ये शब्द उन्होंने १८९२ में लाहौर में दिये गए अपने एक भाषण में प्रयुक्त किये थे—

मूलराज के विचार

"यह सबको ज्ञात है कि स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना दस नियमों के आधार पर की थी। वे यह मानते थे कि आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिए एक व्यक्ति के लिए दस नियमों का मानना आवश्यक है। स्वामीजी का मानना था कि यदि कोई व्यक्ति दस नियमों को मानता है तो अन्य बातों के सम्बन्ध में चाहे उसके कुछ भी विचार क्यों न हो, वह आर्यसमाज का सभासद बन सकता है। उन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता के लिए स्वयंकृत वेदभाष्य-शैली को सत्य मानने अथवा अपने ग्रन्थों में व्यक्त किये गए विचारों को भी पूर्ण सत्य मानने की कोई आवश्यक शर्त नहीं लगाई। आर्यसमाज के एक सदस्य से यह पूछना आवश्यक नहीं है कि स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में प्रस्तुत की गई विभिन्न उत्तम उपपत्तियों तथा दार्शनिक धारणाओं के सम्बन्ध में वह विश्वासी है या नहीं। उससे यह भी कभी नहीं पूछा जाना चाहिए कि वह स्वामीजी के ग्रन्थों तथा उनके द्वारा किये गए वेदभाष्य के सम्बन्ध में क्या धारणा रखता है? स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य को निर्भ्रान्त मानने तथा उनके ग्रन्थों को सर्वथा त्रुटिहीन मानने के सम्बन्ध में भी उसे बाध्य नहीं किया जा सकता। उसे अपने विचारों और भाषा की स्वतंत्रता का बलिदान करने के लिए नहीं कहा जाना चाहिए।" पुनः वे कहते हैं—

aryasamajjamnagar.org

"मेरा विश्वास है कि हिन्दुओं का एकमात्र सामान्य धर्म वही हो सकता है जिसका उपदेश आर्यसमाज करता है। वही जनसामान्य तथा समाज के उन्नत वर्ग के लोगों के उपयुक्त तथा अनुकूल है। यही मत पुरातनवादी हिन्दुओं तथा अंग्रेजी-शिक्षित लोगों को भी संतुष्ट कर सकता है। यह उन सभी को स्वीकार्य होगा जो बौद्धिक विकास के विभिन्न सोपानों पर स्थित हैं। यह धर्म इतना सरल है कि चाहे विश्वव्यापक भले ही न बन सके, अधिकांश भूभाग पर तो प्रसरित हो ही सकता है। यह एक ईश्वर तथा वेदों में विश्वास रखने के लिए कहता है। आर्यसमाज के नियमों में सैद्धान्तिक प्रश्न तथा मतवाद-सम्बन्धी उलझनें समाविष्ट नहीं हुई हैं। यदि स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज में प्रवेश पाने के इच्छुकों के

लिए विशिष्ट सिद्धांतों का मानना अनिवार्य बना दिया होता तो मेरे विचार से उन्हें अपने महद् उद्देश्यों—वैदिक अध्ययन को पुनः प्रचारित करने तथा एक सत्य ईश्वर की उपासना का प्रचार करने की पूर्ति में सफलता नहीं मिलती। किन्हीं विशिष्ट सिद्धांतों में आस्था होने के लिए यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति को विशेष प्रकार से शिक्षित किया जाय तथा उसके मस्तिष्क का झुकाव एक निश्चित दिशा में हो। केवल वही व्यक्ति एक विशिष्ट प्रकार के सिद्धांत को स्वीकार कर सकते हैं तथा किसी विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा को मान सकते हैं जिन्हें उस प्रकार की शिक्षा मिली है तथा उनकी मनःस्थिति भी उसी प्रकार की है। जिनका मन किसी सिद्धान्त या मत को मानने अथवा समझने के लिए तत्पर नहीं है, वे उसे न तो मान ही सकते हैं और न सत्य समझ सकते हैं। जिस धर्म में जितनी अधिक धारणाओं का स्वीकार करना उसके अनुयायियों के लिए आवश्यक होगा, उसके माननेवालों की संख्या भी उतनी ही कम होगी। इसलिए यदि स्वामी दयानन्द आर्यसमाज के नियमों में अधिकाधिक दार्शनिक समस्याओं, मान्यताओं तथा सिद्धान्तों का समावेश करते तो वे इस संस्था में प्रवेश पानेवालों की संख्या को भी सीमित कर देते। इस प्रकार वे आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र को सीमित कर उसकी उपयोगिता को भी कम कर देते और उनका उद्देश्य समाप्त हो जाता। अतः यह स्पष्ट है कि जितनी अधिक संख्या में लोग आर्यसमाज में प्रविष्ट होकर वेदों के अध्ययन तथा एक निराकार ईश्वर की उपासना को पुनरुज्जीवित करेंगे, उतना ही अधिक लाभ वे स्वयं तथा मानव-जाति का कर सकेंगे। जितने अधिक लोग आर्यसमाज के सदस्य बनेंगे, उतना ही अधिक लाभ पवित्र धर्म, सत्य तथा धार्मिकता को पहुँच सकेगा।

aryasamajjamnagar.org

हमें इस बात के लिए संस्थापक (स्वामी दयानन्द) का आभारी होना चाहिए कि उन्होंने आर्यसमाज को एक व्यापक तथा सर्वस्वीकार्य धरातल पर प्रतिष्ठित किया है। यह आधार है एक शाश्वत परमात्मा तथा वेदों में विश्वास। हमें इस बात के लिए भी उनका आभार व्यक्त करना चाहिए कि उन्होंने आर्यसमाज के नियमों में सिद्धान्तों, दार्शनिक मसलों तथा मत-विश्वासों को सम्मिलित नहीं किया। हिन्दुओं को स्वामी दयानन्द का धन्यवाद करना चाहिए कि उन्होंने एक पवित्र तथा महान् धर्म की ओर उनका ध्यान खींचा। उन्होंने हिन्दुओं को कोई नवीन धर्म नहीं दिया है। स्वामीजी ने हिन्दुओं का ध्यान

उनके धर्म में निहित पुरातन तथा सुगुप्त तत्त्वों की ओर आकृष्ट किया। स्वामीजी ने उन्हें बताया कि आर्य लोग, जो आज के हिन्दुओं के पूर्वज थे, एक ईश्वर तथा वेदों में विश्वास करते थे तथा उन्होंने वर्तमान हिन्दुओं को वेदों में विश्वास रखने तथा उनमें वर्णित एवं प्रशंसित सर्वशक्तिमान् ईश्वर की पूजा करने का आदेश दिया है। धर्म की इसी व्यापक तथा समान भूमि पर, जो दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्णतया मुक्त होने के कारण नितान्त सरल है, वे सभी लोग वेदों के अध्ययन को पुनरुज्जीवित करने तथा उसी सर्वव्यापक ईश्वर की स्तुति एवं पूजा करने के लिए, जो हमारे पूर्वजों का भी उपास्य था, एकत्रित हो सकते हैं, जिनके मस्तिष्क विकास की विभिन्न भूमियों पर प्रतिष्ठित हैं तथा जिनके चिन्तन के प्रकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

ऋषि दयानन्द की महानता

मैं स्वामी दयानन्द की महानता तथा उनकी सरलता की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता। वे संस्कृत के एक महान् विद्वान् थे। उन्होंने लोगों के समक्ष अपना वेदभाष्य तथा दार्शनिक प्रश्नों पर अपनी धारणाएँ प्रस्तुत कीं तथा यह उन्हीं पर छोड़ दिया कि वे इस वेदव्याख्या में जो कुछ अच्छाई है उसे मान लें। उन्होंने यह स्वीकार किया कि जो ऋषि पूर्वकाल में हो चुके हैं तथा जिन ऋषियों ने ब्राह्मण, सूत्र, अंग, उपांग तथा उपवेदों की रचना की, वे उनसे भी श्रेष्ठ, उच्चतर एवं योग्य विद्वान् थे तथा उनकी देवव्याख्या और भाष्य को इन पूर्व-ऋषियों द्वारा निर्मित भाष्यों के प्रकाश में ही पढ़ा जाना चाहिए। उन्होंने अपने को निर्भ्रान्त कभी नहीं माना।

aryasamajjamnagar.org

स्वामी दयानन्द ने जान-बूझकर इन नियमों में किसी सैद्धान्तिक मतवाद तथा दार्शनिक प्रश्नों को नहीं डाला। वे उन सभी बातों में विश्वास करते थे, जिन्हें उन्होंने स्वयं लिखा था,किन्तु दूसरों के दृष्टिकोण के प्रति भी वे सहिष्णु थे। वे यह जानते थे कि सैद्धान्तिक विषयों तथा दार्शनिक प्रश्नों पर सभी लोगों का एक-समान दृष्टिकोण रखना सर्वथा असम्भव है। इसलिए उन्होंने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक नियमों में से मतवादों और दार्शनिक प्रश्नों को पृथक् रखा, यद्यपि अपने ही ग्रन्थों में इन मसलों पर अपनी स्पष्ट एवं साहसपूर्ण सम्मति व्यक्त करने में उन्हें कभी संकोच नहीं हुआ। वस्तुतः यह एक अत्यन्त अविवेकपूर्ण

कृत्य होता, यदि किसी धार्मिक संस्था में प्रवेश हेतु किसी दार्शनिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में एकांगी मत रखना आवश्यक कर दिया जाता·····क्या यह अयुक्त नहीं होगा कि किसी व्यक्ति को यह कहा जाय कि आर्यसमाज का सभासद बनने के लिए उसका नियोग के सिद्धान्त अथवा वनस्पतियों में जीव मानने के सिद्धान्त को मानना आवश्यक है? स्वामी दयानन्द एक बुद्धिमान् पुरुष थे और उन्होंने इस तथ्य को अनुभव किया था, अतः उन्होंने सोद्देश्य भाव से आर्यसमाज के नियमों में से मतवादों तथा दार्शनिक प्रश्नों को पृथक् रखा।''

दयानन्द के सिद्धांत ही माननीय

यहाँ हमने मूलराज के भाषण का अवतरण यह बताने के लिए दिया है कि भाषणकर्ता को यह बताने का अधिकार है कि जिन लोगों ने १८७७ में स्वामी दयानन्द का आर्यसमाज के नियमों को पुनर्निर्धारित करने तथा उन्हें अन्तिम रूप देने में सहयोग किया, उनका मूल उद्देश्य क्या था? मूलराज पुनर्गठित आर्यसमाज लाहौर के प्रथम प्रधान थे तथा स्वामी दयानन्द की मृत्यु पर्यन्त उनके विश्वासभाजन बने रहे। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी होती है कि १८८२ में जब स्वामीजी ने अपना स्वीकारपत्र (Will) लिखा तो उन्होंने मूलराज को उस परोपकारिणी सभा का उपाध्यक्ष नियुक्त किया, जिसके अधीन उन्होंने अपने ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन आदि का कार्य किया था, उदयपुर के महाराजा सज्जनसिंह इस सभा के अध्यक्ष थे। उपर्युक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि समाज के संस्थापक तथा १८७७ में उसे पुनर्गठित करने में उनका सहयोग करनेवाले लोग आर्यसमाज के प्रथम तीन नियमों में उल्लिखित मन्तव्यों से भिन्न किसी प्रकार का मतवाद अपने सदस्यों पर लादना नहीं चाहते थे। परन्तु शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि इस सरणि पर चलकर धर्मप्रचार नहीं किया जा सकता। स्वामीजी के विश्वासों को मौन भाव से आर्यसमाज का सिद्धान्त-पक्ष स्वीकार कर लिया गया जिनका कालान्तर में प्रचार हुआ। पूरे पन्द्रह वर्ष तक इस सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं उठाई गई, परन्तु दुर्भाग्यवश, न्यूनाधिक रूप से, मूलतः वैयक्तिक होने पर भी मांसाहार के विवादास्पद प्रश्न को उछालकर आगे ले-आया गया। जो लोग स्वामीजी के मन्तव्यों को ही आर्यसमाज को सैद्धान्तिक पक्ष मानते थे, उन्होंने यह तर्क दिया कि एक निश्चित मतवाद के बिना धार्मिक प्रचार नहीं किया जा सकता। वे इस बात के खतरे को

aryasamajjamnagar.org

जानते थे कि बिना सुनिश्चित सैद्धान्तिक आधार के कोई भी धार्मिक संस्था जीवित नहीं रह सकती। उनके सामने ब्रह्मसमाज का उदाहरण मौजूद था, जिसकी प्रगति एक निश्चित धर्म-मत के अभाव के कारण अवरुद्ध हुई थी तथा वे नहीं चाहते थे कि आर्यसमाज की भी ऐसी ही नियति हो।

हिन्दू तथा ईसाई धर्म

ईसाइयत तथा उसके हिन्दू धर्म से सम्बन्धों की चर्चा करते हुए मि० ब्लण्ट, आई०सी०एस० ने अपनी जनगणना की रिपोर्ट (1911) में निम्न धारणाएँ व्यक्त की हैं[१]—भारत में ईसाइयत की स्थिति मूर्तिपूजक (ईसाई मत को न माननेवाले) यूरोप की ख्रीष्टाब्द की प्रारम्भिक शताब्दियों के युग की स्थिति से बहुत-कुछ मिलती जुलती है। यह भारत में प्रचलित उन भिन्न-भिन्न विश्वासों के ऊँचे-नीचे मत-समूहों के समक्ष एक निश्चित तथा व्यवस्थित धर्म है। उसकी शक्ति उसके सुनिश्चित मत-विश्वासों में है, जब कि उसके विरोधी (भारत में प्रचलित सम्प्रदायों) की कमज़ोरी उनमें ऐक्य का अभाव है। एक ईसाई एक सुनिश्चित मत को मानता है जब कि एक हिन्दू का कोई निश्चित मत-विश्वास नहीं होता। हम ईसाइयत के सम्बन्ध में व्यक्त की गई इस धारणा के प्रति कि एक ईसाई एक निश्चित धर्म-मत को मानता है, आशंका उपस्थित करते हैं। हम इस बयान की सचाई को भी स्वीकार करते हैं, जो हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में दिया गया है। आर्यसमाज के संस्थापक ने इस कठिनाई को अनुभव किया तथा हिन्दू धर्म को परिभाषित करने का प्रयत्न किया। इनके द्वारा प्रदत्त परिभाषा यद्यपि सर्वांगीण है तथा उसे परिस्थितियों के अनुकूल विश्वसनीय भी बनाया गया, तथापि इसकी अस्पष्टता तथा अनिश्चितता उन्हीं खतरों को ला उपस्थित करती है जिसके कारण हिन्दू धर्म के अनुयायी अपने विश्वासों को खो बैठते हैं। आर्यसमाज के प्रारम्भिक नेताओं ने अचेतन भाव से ही, हिन्दू धर्म की इस अनिश्चित प्रवृत्ति को समझा था, तथा इस मसले पर बिना अधिक विचार किये, जो कुछ न्यूनताएँ उन्हें दिखाई दीं, उनकी पूर्ति स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों को आर्यसमाज के सिद्धान्तों की आधारशिला के रूप में स्वीकार कर ली तथा इसी के बलबूते पर उन्होंने उन सभी मतपन्थों से संघर्ष किया जो

aryasamajjammagar.org

---

१. पृष्ठ 144.

इसके विरोध में उपस्थित हुए थे। इसलिये, जब उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशाब्द के आरम्भ में उन तथाकथित मांसभक्षण कर्ताओं द्वारा यह प्रश्न उठाया गया कि आर्यसमाज किस सीमा तक स्वामी दयानन्द की मान्यताओं के साथ अपने-आपको प्रतिबद्ध मानता है तो कुछ शाकाहारियों ने यह कहना आरम्भ कर दिया कि स्वामी दयानन्द निर्भ्रान्त थे; परन्तु उनमें से अधिकांश लोग उपर्युक्त कारणों से ही दयानन्द की प्रामाणिकता को अक्षुण्ण रखना चाहते थे। उनका विचार था कि एक निश्चित धार्मिक विचारधारा के अभाव में धर्मप्रचार का कार्य असम्भव है। उनकी यह भी धारणा थी कि आर्यसमाज ने सुनिश्चित रूप में स्वामीजी की मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है। जहाँ तक धर्मप्रचार के लिए स्वामीजी के मन्तव्यों को स्वीकार कर लेने की बात थी, मांसाहारियों को भी इसमें कोई प्रत्यक्ष आपत्ति नहीं थी, किन्तु वे आर्यसमाज के नियमों के दायरे से बहिर्भूत प्रतीत होनेवाली उस वैयक्तिक स्वतंत्रता में हस्तक्षेप करने के विरुद्ध थे, जो व्यक्तिगत मामलों में प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार वर्तन करने का आदेश देती है।

aryasamajjamnagar.org

दोनों पक्षों के मार्ग में निश्चित बाधाएँ हैं जिन्हें दोनों पक्षों के लोग जानते हैं। दोनों ही धार्मिक मामलों में व्यक्तिगत राय को एक सीमा तक छूट देने के लिए तैयार हैं, किन्तु वे अपनी धार्मिक आस्था से वंचित होने के लिए तैयार नहीं हैं। वे यह अनुभव करते हैं कि जिस क्षण उन्होंने यह निश्चय किया, उसी क्षण वे उस वस्तु को खो देंगे जो अब तक उनके आन्दोलन की प्रगति में सहायक तथा शक्ति और स्फूर्ति का अनमोल स्रोत रही है।

श्री रिसले की राय

अपनी 'इंग्लैंड का प्रसार' (Expansion of England) नामक पुस्तक में सर जॉन सीले ने हिन्दू धर्म की आपाततः प्रतीत होनेवाली सर्वग्राह्यता पर अपनी प्रतिकूल राय दी है, जो उनकी सम्मति में हिन्दू धर्म के एकीकरण में बाधक है तथा जिससे वास्तविक राष्ट्रीय भावना के उत्पन्न होने में भी बाधा पड़ती है। सर हर्बर्ट रिसले की सम्मति में, "यह स्वीकार करना होगा कि दार्शनिक समझौतापरस्ती की ठण्डी और धूसर राख से देशभक्ति से युक्त ज्वालाएँ नहीं निकल सकतीं तथा इससे पूर्व कि हिन्दू धर्म राष्ट्रवाद के जागरूक भावों को प्रेरित कर सके, उसे पर्याप्त सीमा तक कठोरता धारण करनी होगी

तथा अपने-आपको संगठित करना होगा।''[१] आगे वे कहते हैं—''ऐसा लगता है कि इस दिशा में प्रगति करने के लिए आर्यसमाज एक मार्ग का निर्माण कर रहा है, किन्तु हिन्दू धर्म का कंटकित अरण्य इस कार्य में बाधाएँ उपस्थित कर रहा है और यह रास्ता लम्बा भी है।'' अन्यत्र यह लेखक आर्यसमाज को इस बात का श्रेय देता है कि उसने अत्यन्त प्राचीन तथा उच्च प्रतिष्ठावाले शास्त्रों (वेदों) के आधार पर एक सुनिश्चित धर्म की रूपरेखा तैयार की है। उसने आर्यसमाज की शिक्षाओं को साहसपूर्ण तथा पुरुषोचित कहा है तथा उस लचकीले धार्मिक समझौतावाद से मुक्त स्वीकार किया है जो ब्रह्मसमाज के लिए घातक सिद्ध हुआ था।[२]

मि० ब्लण्ट की प्रशंसा

लगभग इसी प्रकार की सम्मति संयुक्त प्रांत के लिए १९११ की जनगणना का विवरण प्रस्तुत करते हुए श्री ब्लण्ट, आई०सी०एस० ने भी प्रस्तुत की है।[३] उनके अनुसार आर्यसमाज की शक्ति एक ओर हिन्दू बहुदेववाद की नीरूपता तथा अनिश्चितता से मुक्त रहने में तथा दूसरी ओर ब्रह्मसमाज जैसे सुधारवादी सम्प्रदायों की दुर्बल समझौतापरस्त नीति से दूर रहने में है।[४]

aryasamajjamnagar.org

सारांश रूप में हम कह सकते हैं कि दयानन्द के उपदेश यद्यपि आर्यसमाज के नियमों में पूर्णतया अन्तर्भुक्त नहीं हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे ही आर्यसमाज के मत को निश्चित रूप प्रदान करते हैं। दूसरी ओर दयानन्द की शिक्षाएँ वेदों पर आधारित प्राचीन भारतीय ऋषियों की शिक्षाएँ हैं।

३. आर्यसमाज के धर्म-सिद्धान्त

जिन धार्मिक सिद्धान्तों की ओर हमने संकेत दिया है, उनकी विशद चर्चा एक विगत अध्याय में हो चुकी है। यहाँ हम उनमें से कुछ प्रमुख शिक्षाओं का विशद अर्थ प्रस्तुत करना चाहते हैं, जो आर्यसमाज द्वारा स्वीकृत की गई हैं।

१. दि पीपल ऑफ इण्डिया, सर हर्बर्ट रिसले, १९०४, पृष्ठ २८०।
२. वही, पृष्ठ २४४।
३. वही, पृष्ठ १३३।
४. ''आर्यसमाज ने ही एक पुरुषोचित तथा स्पष्ट मत प्रस्तुत किया है जो अपनी सम्पूर्ण विशेषताओं के साथ समग्रतया हिन्दू है।''
—संयुक्त प्रान्तीय जनगणना की रिपोर्ट, १९११ (पृष्ठ १४३)

(१) आर्यों की ईश्वर-विषयक धारणा ही इनमें सर्वप्रथम गणनीय तथा उल्लेखनीय है। यह आर्यसमाज के अधिकृत नियमों में द्वितीय नियम में वर्णित हुई है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आर्यसमाज ईश्वर में विश्वास रखता है तथा यह मानता है कि एक वही हमारी पूजा और सत्कार का अधिकारी है। हिन्दू शास्त्रों तथा हिन्दू साहित्य के अधिकारी तथा पक्षपातहीन विद्यार्थियों के मनों में इस बात को लेकर कोई संदेह नहीं है कि हिन्दू धर्म में प्रतिपादित एकेश्वरवाद अत्यन्त उच्च कोटि का है, जैसा अन्यत्र नहीं मिलता, जैसा कि वेदों के निम्न उद्धरणों से प्रचुरतया सिद्ध होता है—

ऋग्वेद

१. **इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।**
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

—ऋ० १/१६४/४६

उस ईश्वर को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि तथा गरुत्मान् कहा जाता है। उस एक ईश्वर का बुद्धिमान् पुरुष अग्नि, यम तथा मातरिश्वन् आदि विभिन्न नामों से वर्णन करते हैं।

aryasamajjamnagar.org

२. **अग्ने भूरीणि तव जातवेदो देव स्वधावोऽमृतस्य नाम।**
याश्च माया मायिनां विश्वमिन्व त्वे पूर्वीः सन्दधुः पृष्टबन्धो॥

—ऋ० ३/२०/३

हे अग्नि तेरे अनेक नाम हैं—अमृत, देव, जातवेदा आदि।

३. **त्वामग्ने पितरमिष्टिभिर्नरस्त्वां भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्।**
त्वं पुत्रो भवसि यस्तेऽविधत् त्वं सखा सुशेवः पास्याधृषः॥

—ऋ० २/१/९

हे अग्नि, लोग तुझे पिता की भाँति स्तुति के लिए पुकारते हैं। हे प्रकाश के आधार, उपासक अपने पवित्र कर्मों से तेरा सहचर-भाव प्राप्त करते हैं। जो व्यक्ति विधिपूर्वक तेरी पूजा करते हैं, उन्हें तू पुत्रतुल्य स्नेह देता है तथा एक विश्वसनीय मित्र की भाँति उन्हें बाधाओं से बचाता है।

४. **यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव।**
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०/१२१/३

वही परमात्मा हमारी उपासना का अधिकारी है जो प्राणवाले और अचेतन पदार्थों का एकमात्र स्वामी है, वही दोपायों और चौपायों का भी शासक है।

५. त्वदि् विश्वा सुभग सौभगान्यग्ने वि यन्ति वनिनो न वयाः।
श्रुष्टी रयिर्वाजो वृत्रतूर्ये दिवो वृष्टिरीड्यो रीतिरपाम्॥

—ऋ० ६/१३/१

हे अग्नि, तुमसे ही सारे वरदान हमें उसी प्रकार प्राप्त होते हैं जैसे वृक्ष से शाखाएँ फूटती हैं। आप हमें धन, युद्ध में शत्रुओं से लड़ने की शक्ति, द्यौ लोक से प्राप्त होनेवाली वृष्टि तथा जलप्रवाहों को प्रदान करें।

६. इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत्।
इन्द्रो ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः॥

—ऋ० ८/३/६

इन्द्र ने अपनी शक्ति से द्यौ लोक तथा पृथिवी लोक का विस्तार किया है। उसकी शक्ति से ही सूर्य प्रकाशित होता है। उसी में सब प्राणियों तथा पवित्र सोम का निवास है।

aryasamajjammagar.org

७. पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति॥

—ऋ० १०/९०/२

वह पुरुष परमात्मा ही है जो पूर्व में था तथा भविष्य में सर्वत्र होगा। वह अमृतत्व का स्वामी है तथा अन्न से वर्द्धित होनेवालों से भी परे है।

८. ईशे ह्यग्निरमृतस्य भूरेरीशे रायः सुवीर्यस्य दातोः।
मा त्वा वयं सहसावन्नवीरा माप्सवः परि षदाम मादुवः॥

—ऋ० ७/४/६

अग्नि परमात्मा ही विशाल अमृत का स्वामी है, वही धनदाता तथा वीरता का प्रदाता है। हे विजयशील ईश्वर, हम तुम्हारे समीप शक्तिशून्य, सौन्दर्यहीन तथा उपासना से विरहित होकर न आएँ।

९. **यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः।**
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

—ऋ० १०/१२१/४

हम उसी ईश्वर की भक्ति करें जिसकी महिमा का गायन ये हिमाच्छादित पर्वत करते हैं तथा जलप्रवाहयुक्त समुद्र अपनी लहरों के व्याज से जिसका महत्त्व वर्णित करते हैं। विशाल दिशाएँ ही जिसकी भुजाएँ हैं, वही परमात्मा हमारा उपास्य है।

यजुर्वेद

१. **न तस्य प्रतिमाऽ अस्ति यस्य नाम महद्यशः।**
हिरण्यगर्भऽ इत्येष मा मा हिंऽसीदित्येषा यस्मान्न जातऽ इत्येषः॥

—यजु० ३२/३

उस महान् यशवाले परमात्मा की कोई प्रतिमा, उपमा, प्रतिकृति अथवा तुल्यता नहीं है। उसी का वर्णन 'हिरण्यगर्भ', 'मामाहिंसी' तथा 'यस्मान्न जात' आदि ऋचाओं में हुआ है।

aryasamajjamnagar.org

२. **अग्ने त्वं नोऽ अन्तमऽ उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः।**
वसुरग्निर्वसुश्रवाँ ऽ अच्छा नक्षि द्युमत्तमꣳ रयिं दाः॥

—यजु० ३/२५

हे अग्नि, तुम हमारे निकटतम मित्र बनो, तुम हमारे कृपालु सखा बन जाओ। हे उत्तम अग्नि, हमारे निकट आकर हमें प्रशंसित धन प्रदान करो।

३. **देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि**
पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यात्मकृतस्यैनसोऽवयजनमस्येनसऽ
एनसोऽवयजनमसि। यच्चाहमेनो विद्वाँश्चकार यच्चाविद्वाँस्तस्य
सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि॥

—यजु० ८/१३

हम उपासकगण देवकृत, मनुष्यकृत, पितरों के द्वारा किये गए तथा स्वयंकृत पाप को दूर करते हैं। जिस पाप-कर्म को हमने जानते हुए या अज्ञानपूर्वक किया है, उसे भी दूर करते हैं।

४. **तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।**
पूषा नो यथा वेदसामसद् वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

—यजु० २५/१८

हम उस परमात्मा की स्तुति करते हैं जो सर्वोपरि शासक है, जो चेतन तथा जड़ का स्वामी है, जो आत्मा का प्रेरक है। वह हमारी सम्पत्ति को बढ़ाए। वही हमारा रक्षक, शुभचिन्तक तथा कल्याणकर्ता है।

५. **एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः सऽ उ गर्भेऽ अन्तः।**
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः॥

—यजु० ३२/४

वही परमात्मा सब दिशाओं में विद्यमान है, वही प्रारम्भ में भी था तथा सभी के भीतर विद्यमान है। वह भूतकाल में था तथा भविष्य में भी रहेगा। हे मनुष्य, सर्वतोमुखी होता हुआ वह तुम्हारे समक्ष भी है।

६. **त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रꣳ हवे हवे सुहवꣳ शूरमिन्द्रम्।**
ह्वयामि शक्रं पुरुहूतमिन्द्रꣳ स्वस्ति नो मघवा धात्विन्द्रः॥

—यजु० २०/५०

इन्द्र परमात्मा ही हमारा रक्षक है, वही हमारा सहायक है, वह वीर इन्द्र ही हमारी पुकार सुनता है। मैं भी उसी इन्द्र को पुकारता हूँ जिसे अन्य बहुतेरे उपासकों ने पुकारा है। वह कल्याणदाता इन्द्र हम पर कृपा करे।

७. **तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।**
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ताऽआपः स प्रजापतिः॥ —यजु० ३२/१

वह परमात्मा ही अग्नि है, वह आदित्य है, उसे ही वायु कहते हैं और वही चन्द्रमा कहकर पुकारा जाता है। वही शुक्र है, वही ब्रह्म है, वही आपः और प्रजापति है।

८. **विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम्।**
विश्वो रायऽइषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥ —यजु० ४/८

प्रत्येक मनुष्य को चाहिए कि वह नेता परमात्मा की ही मैत्री स्वीकार करे।

उसे ही सब लोग धन के लिए पुकारते हैं, समृद्धि के लिए भी उसी का आह्वान करते हैं।

९. त्वमग्ने व्रतपा ऽ असि देव ऽ आमर्त्येष्वा। त्वं यज्ञेष्वीड्यः।
रास्वेयत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥

—यजु० ४/१६

हे अग्नि, आप मरणधर्मा मनुष्यों में व्रतों के रक्षक-पालक हैं। पवित्र यज्ञों में आप ही प्रशंसित हैं। हे सोम, आप हमें यह सब धन प्रदान कीजिये, इससे अधिक भी दीजिये। धनदाता सविता परमात्मा ने हमें धन प्रदान किया है।

१०. अभि त्यं देवꣳ सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि सत्यसवꣳ
रत्नधामभिः प्रियं मतिं कविम्। ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा ऽ
अदिद्युतत्सवीमनि हिरण्यपाणिरमिमीत॥

—यजु० ४/२५

aryasamajjamnagar.org

मैं उस सविता की प्रशंसा में स्तुतिगान करता हूँ जिसने पृथिवी और द्युलोक को घेर रखा है। जो बुद्धिमानों की बुद्धि से युक्त है तथा जो श्रेष्ठ गुणों से धन का दाता है। वही हमारा प्रिय, विचारशील उपास्य है। मैं उसी के लिए मंत्रगान करता हूँ जिसकी प्रेरणा से द्युलोक में प्रकाशमान नक्षत्र प्रकाशित होते हैं। वही अत्यन्त बुद्धिमान् तेजस्वी पदार्थों का धारक परमात्मा अपनी मेधा से द्युलोक की सीमाओं को नाप लेता है।

११. स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा ऽ अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥

—यजु० ३२/१०

वही परमात्मा हमारा बंधु, जन्मदाता तथा विधाता है। वही लोकों तथा स्थानों को जानता है। इस परमात्मा से ही अमरत्व प्राप्त कर देवलोग स्वेच्छापूर्वक उच्च धामों में विचरते हैं।

१२. यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामधा ऽ एक ऽ एव तꣳ सम्प्रश्नं भुवना यन्त्यन्या॥

—यजु० १७/२७

जो हमारा पिता तथा उत्पादक है, जो सबका विधाता है तथा प्रत्येक को स्वकर्मानुसार फल प्रदान करता है, जो सब नक्षत्रों तथा आकाशीय पदार्थों को जानता है, जो सभी दिव्य गुणोंवाले पदार्थों का नामकरण करता है, जो एक एवं अद्वितीय है, जिसमें सभी भूतपदार्थ विद्यमान हैं, हम उसी को नाना प्रकार के मैत्रीपूर्ण विचार-विमर्श के द्वारा जानने का प्रयत्न करें।

१३. तमिद् गर्भं प्रथमं दध्र ऽ आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकर्पितं यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुः॥

—यजु० १७/३०

वह परमात्मा जिसमें जीव अथवा प्राणवायु रहते हैं, जिसे प्राप्त करने की इच्छा पवित्रात्मा योगियों तथा प्रकाशित मस्तिष्कवाले साधकों को भी होती है, जो शाश्वत जीवों तथा अणु-परमाणुओं से भी सूक्ष्म होने के कारण उनमें विद्यमान है, जो स्वशक्ति से ही विराजमान है तथा जिसमें सम्पूर्ण लोक-लोकान्तर स्थित हैं, तुम उसे ही जानो।

aryasamajjamnagar.org

१४. परो दिवा पर ऽ एना पृथिव्या परो देवेभिरसुरैर्य्यदस्ति।
कꣳ स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र ऽ आपो यत्र देवाः समपश्यन्त पूर्वे॥

—यजु० १७/२९

वह परमात्मा जो प्रकाशमान पदार्थों से भी परे है, जो पृथिवी से भी परे है तथा जो बुद्धिमान् प्राणियों की पहुँच से भी दूर है, वही अज्ञ लोगों की बुद्धि से भी दूर है, उसी में प्राणशक्ति के द्वारा इच्छित पदार्थों को धारण किया जाता है। उसे ही, बुद्धिमान् लोग जो ज्ञान तथा बुद्धि में समृद्ध हैं, जान सकते हैं। तुम भी उसे ही जानने का प्रयत्न करो।

१५. यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय॥

—यजु० २६/२

परमात्मा जिस प्रकार अपनी कल्याणी वाणी लोगों के लिए प्रदान करता है, ब्राह्मण और क्षत्रिय के लिए, शूद्र के लिए तथा अन्य निम्न वर्णस्थ लोगों के लिए, उसी प्रकार मनुष्य का भी कर्तव्य है कि वह वेदवाणी का प्रचार सर्वत्र सब लोगों में करे।

अथर्ववेद

१. **यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।**
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ —१०/८/१

उस सबसे ज्येष्ठ परमात्मा को हमारा नमस्कार है जो भूत तथा भविष्य का शासक है, जो समस्त विश्व का शासक है, जो स्वयं सुखरूप है, तथा यह सुख एवं आनन्द ही जिसका अपना रूप है।

२. **यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।**
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ —१०/७/३२

यह भूमि जिसकी प्रमा (नापने का पैमाना) तथा अन्तरिक्ष जिसका उदरस्थानीय है, जिसने द्यौलोक को अपने मूर्धा (मस्तक) तुल्य बनाया है, उसी ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए हमारा नमस्कार है।

३. **यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।**
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ —१०/७/३३

aryasamajjamnagar.org

सूर्य और चन्द्रमा (जो बार-बार उत्पन्न होता है), जिसके चक्षु स्थानीय हैं तथा अग्नि को जिसने अपना सुख-स्थानीय बनाया है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म हमारा नमस्कार स्वीकार करे।

४. **यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरंगिरसोऽभवन्।**
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ —१०/७/३४

जिसने वायु को प्राण और अपान प्राणों का धारक बनाया तथा प्रकाश की किरणें जिसके नेत्रस्थानीय हैं, दिशाएँ ही जिसकी श्रोत्रेन्द्रियों के तुल्य हैं, उस ज्येष्ठ परमात्मा के लिए हम नमस्कार करते हैं।

५. **न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते।**
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते।
स सर्वस्मै विपश्यति यच्च प्राणति यच्च न।

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव।
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति॥ —अथर्व१३/४/१६-२१

वह परमात्मा एक ही है, वह न दूसरा और तीसरा, न चौथा और पाँचवाँ, न छठा और सातवाँ, न आठवाँ और न नवाँ तथा न ही दसवाँ है। वह उन सभी को देखता है जो प्राणधारी तथा प्राणशून्य हैं। यह विजयिनी शक्ति उसे ही प्राप्त है। वही सब-कुछ, सरलतम तथा एक है। उसी में सब देव एकवृत हो जाते हैं।

६. यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वम्॥
यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वम्॥
ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो॥
ततस्त्वम्॥

aryasamajjamnagar.org —अथर्व० ९/२/२०,२१,२३

पृथिवी और द्यौलोक की जो सीमा है, परमात्मा उससे भी महान् है। जहाँ तक जल प्रवाहित होते हैं तथा अग्नि प्रकाश करती है, परमात्मा उससे भी आगे है। जहाँ तक दिशा-प्रदिशाओं का फैलाव है तथा जहाँ तक प्रकाशमान नक्षत्रों का क्षेत्र है, हे परमात्मा, तू उससे भी बड़ा है। तू उनसे भी शक्तिशाली है, जो नक्षत्र आदि मेरे समक्ष खड़े हैं अथवा चमकते हैं। तू सागर से भी बलशाली है। तू ही काम है, तू ही मृत्यु है, हम तुझे ही अपनी भेंट-पूजा अर्पित करते हैं।

७. सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी निमिनोति तानि॥
—अथर्व० ४/१६/५

यह वरुण राजा उस सबको देखते हैं, जो पृथिवी तथा द्यौलोक के बीच तथा उससे परे भी है। वह मनुष्यों के नेत्रोन्मेषों की भी गिनती रखता है। द्यूतक्रीड़ा करनेवाले की भाँति वह भी पासों को फेंककर सब वस्तुओं को स्थिर बना देता है।

८. त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः।
तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुहूतस्तवेद्॥

—अथर्व० १७/१/१८

हे परमात्मा! तू इन्द्र है, तू ही महेन्द्र है, तू ही लोक है और तू ही प्रजापति है। तेरे लिए ही यज्ञ-कर्म किये जाते हैं। याज्ञिक लोग तेरे लिए ही हवि प्रदान करते हैं।

९. सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः॥ —अथर्व० १३/४/४-५

वह परमात्मा ही अर्यमा (नियामक), वरुण (शासक), रुद्र (दुष्टों का दमनकर्ता) तथा महादेव है। वही अग्नि (प्रकाशमान), सूर्य (द्युतिमान) तथा महायम (न्याय-विधाता) है।

इस प्रकार तीनों वेदों में एकेश्वर तथा उसी की उपासना के इन मंत्रों से यह स्पष्ट है कि वर्तमान हिन्दू धर्म का बहुदेवतावाद तथा मूर्तिपूजा वेद के सर्वथा विरुद्ध है।

aryasamajjamnagar.org

(२) आर्यसमाज यह मानता है कि कुछ व्यक्ति (स्त्री और पुरुष) अपने भीतर विशेष आध्यात्मिक शक्ति अनुभव करते हैं, परन्तु वे कभी ईश्वर के तुल्य नहीं हो सकते। उनमें अपूर्णता तो रहती ही है। इन व्यक्तियों को अन्य सामान्य कोटि के व्यक्तियों से अधिक पैगम्बर, गुरु, नेता अथवा महापुरुष के तुल्य सम्मान तो मिलना चाहिए। परन्तु पुरातन ईसाई मत की धारणा के अनुसार उन्हें ईश्वर और मनुष्य के बीच मध्यस्थ के रूप में नहीं माना जाना चाहिए। आर्यसमाज की मान्यता है कि ये उच्चशक्ति-सम्पन्न पुरुष मानव-जाति के उन्नायक तथा हितेच्छु होते हैं। इस कोटि के पुरुष चाहे किसी राष्ट्र, रंग अथवा मत-सम्प्रदाय के हों, प्रत्येक मनुष्य से सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं तथा ऐसे व्यक्तियों और उनके विचारों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप लोगों को सब प्रकार की सहायता तथा प्रकाश प्राप्त होता है। परन्तु साथ ही यह मानना होगा कि प्रत्येक व्यक्तिगत जीवात्मा का मोक्ष स्वयं उसके प्रयत्नों पर ही निर्भर है, किसी अन्य व्यक्ति में विश्वास करने-मात्र से उसकी मुक्ति नहीं होती। आर्यसमाज की यह मान्यता उसे प्रचलित हिन्दूधर्म तथा प्रचलित ईसाई मत के सीधे विरोध में प्रस्तुत करती है।

(३) आर्यसमाज यह नहीं मानता कि कोई व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचा होने पर पाप या भूल से सर्वथा मुक्त रह सकता है। "मनुष्य से भूल स्वाभाविक है" इस उक्ति को शाब्दिक तथा व्यापक अर्थों में स्वीकार किया गया है।

(४) उपासना की स्वीकृत प्रणालियों के रूप में स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना को स्वीकार किया गया है। इनके साथ मन, वचन और कर्म की पवित्रता भी अपेक्षित है। प्रायश्चित्त की एकमात्र स्वीकृत विधि पश्चात्ताप है जिसमें यह दृढ़ भावना निहित होनी चाहिए कि अब मैं पुनः कभी पाप नहीं करूँगा। इसके साथ ही पाप-कृत्यों के कारण प्रभावित जीवात्मा को पवित्र करने तथा उसे ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए उचित यज्ञ तथा अन्य विधान किये जा सकते हैं।

(५) आर्यसमाज कर्मसिद्धान्त में विश्वास रखता है[१] जिसके अनुसार सभी कर्मों के फल भोगने पड़ते हैं तथा कर्मफल से किसी भी प्रकार की मुक्ति नहीं मिल सकती। जैसा कि शास्त्रों में एक स्थान पर कहा गया है—कर्म अपने फल को उत्पन्न किये बिना समाप्त नहीं होता, यहाँ तक कि लाखों वर्षों के पश्चात् भी मनुष्य अपने अच्छे और बुरे कर्मों का फल भोगता है। इसी सिद्धान्त की परिणति पुनर्जन्म की मान्यता में होती है, जो आर्यसमाज के सिद्धान्त का एक प्रमुख तत्त्व है।

aryasamajjammagar.org

(६) आर्यसमाज भाग्य में विश्वास नहीं करता जब तक कि इस भाग्य को कर्माश्रित न स्वीकार किर लिया जाय। प्रत्येक मनुष्य ईश्वर की शाश्वत व्यवस्था के अनुकूल तथा कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत स्वयं अपने भाग्य का निर्माता है। उचित और ईमानदारी से किया कर्म, जो विश्वास तथा श्रद्धा पर आश्रित है, यही वह शक्ति है जो पहले किये कृत्यों के प्रभाव को नष्ट करती है। अकर्मण्यता तथा भाग्यवाद की शरण जाना तो मृत्यु ही है।

(७) स्वामी दयानन्द हिन्दुओं में प्रचलित रीति की पितृपूजा को नहीं मानते। उनकी सम्मति में मृत पितरों में वे ही हमारी स्नेहभरी याद, सम्मान तथा

---

१. वैदिक प्रमाणों के लिए स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश तथा १९११ का पंजाब का जनगणना विवरण (पृ० १०८ की पाद-टिप्पणी) द्रष्टव्य है।

श्रद्धांजलि प्राप्त करने के अधिकारी हैं जो अपने जीवन-काल में धार्मिक रहे, जो देश तथा जाति के महान् नेता तथा विद्वान् एवं शुभचिन्तक थे। परन्तु वे जीवित माता-पिता तथा पितामह आदि की सेवा-सत्कार करने का आदेश देते हैं।

(८) आर्यसमाज वेदों को निर्भ्रान्त एवं प्रामाणिक मानता है तथा प्रत्येक नर-नारी से यह अपेक्षा करता है कि वह वेदों को जाने तथा दूसरों के हित के लिए उनका प्रचार करे। जैसा पहले बताया जा चुका है, आर्यसमाज वेदों की व्याख्या करने की स्वतन्त्रता इस शर्त के साथ प्रत्येक व्यक्ति को देता है कि वह व्याख्या करने के सर्वज्ञात नियमों का पालन करेंगे। प्रगतिशील व्याख्या करने का यह सिद्धान्त आर्यसमाज के कतिपय नेताओं द्वारा स्वीकार किया जा चुका है।

आर्यसमाज के धार्मिक सिद्धान्त उपरिलिखित ही हैं।

४. धार्मिक कर्मकाण्ड और आचार-पद्धति

इनके अन्तर्गत आर्यसमाज निम्न नियमों को यथावत् स्वीकार करता है और उन पर चलने की आज्ञा देता है—

aryasamajjamnagar.org

१. दैनिक पञ्च महायज्ञ—पाँच प्रमुख धार्मिक कृत्य जो नित्यप्रति किये जाने चाहिएँ—

(अ) **ब्रह्मयज्ञ**—यह दो प्रकार का है—संध्या और स्वाध्याय। संध्या प्रातः और सायंकाल की जाने वाली ईश्वर की पूजा है जिसमें ध्यान, धारणा तथा प्रार्थना के तत्त्वों का समावेश है। स्वाध्याय के अन्तर्गत शास्त्रों के किसी अंश का नित्य पाठ आता है।

(आ) **देवयज्ञ**—इसे प्रसिद्ध 'होम' के नाम से जाना जाता है जिसमें घृत तथा अन्य सुगन्धित पदार्थों को अग्नि में डाला जाता है। हिन्दुओं का यह एक सर्वाधिक प्राचीन कृत्य है। हिन्दुओं का कोई भी संस्कार किसी न किसी रूप में हवन के बिना पूर्ण हुआ नहीं माना जाता। इस क्रिया के अन्तर्गत वेद के जिन मंत्रों को पढ़ा जाता है, वे इन ग्रन्थों के सर्वोत्कृष्ट तथा उदात्त अंश हैं। एक हिन्दू का दिन होम के कृत्य से प्रारम्भ होना चाहिए जो उसके गृहस्थ को भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से पवित्र कर देता है। हिन्दू इतिहास में कोई ऐसा युग नहीं था, जब इस यज्ञ-प्रथा को त्यागा गया। हिन्दू धर्म की अवनति के साथ-

साथ प्रत्येक गृहस्थ द्वारा नित्य हवन किये जाने की प्रथा भी समाप्त हो गई है, उसी प्रकार जैसे दैनिक यज्ञ समाप्त हो गए।[१]

(इ) **पितृयज्ञ (पितरों की पूजा)**—इस यज्ञ का अभिप्राय अपने माता-पिता की नित्य की जाने वाली सेवा से है। ऐसा न हो कि हम अपनी तथा अपने परिवार की देखभाल करते-करते माता-पिता के प्रति अपने कर्तव्य को विस्मृत कर बैठें। राज्य द्वारा वृद्धावस्था में पैन्शन मिलने की व्यवस्था के अभाव में यह प्रथा वृद्ध पुरुषों की रक्षा को सुनिश्चित कर देती है।

(ई) **अतिथियज्ञ**—किसी विद्वान् अथवा तपस्वी को जिसे पूर्व से आमंत्रित नहीं किया है, भोजन कराना अतिथियज्ञ है। परन्तु यह भी नैत्यिक कर्तव्य है। हिन्दू कानून में ब्रह्मचारी विद्यार्थी तथा तपस्वी विद्वान् वानप्रस्थी की सहायता के लिए कोई व्यवस्थित संगठन बनाने का विधान नहीं है। गृहस्थियों से ही यह आशा की जाती है कि वे इन लोगों की देखभाल तथा सेवा करेंगे। अपनी व्यक्तिगत स्वार्थवृत्ति अथवा उपेक्षावृत्ति पर नियंत्रण रखने के लिए प्रत्येक गृहस्थी के लिए यह आवश्यक समझा गया है कि वह एक या दो उन छात्रों अथवा विद्वानों का भोजन से सत्कार करे जो धर्मप्रचार में संलग्न रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जो विद्या-प्रसार तथा धर्म-प्रसार के कार्यों में लगे रहते हैं, उन्हें अपने परिजनों को भोजन कराने के पूर्व खिलाना तथा उनकी पूर्ण देखभाल करना एक पवित्र धार्मिक कर्तव्य समझा जाता था। प्राचीन हिन्दूधर्म में सुव्यवस्थित तथा आर्थिक दृष्टि से सुगठित संस्थाओं की परिकल्पना नहीं थी, परन्तु वह प्रत्येक से यह अपेक्षा रखता था कि एक व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भिक पच्चीस वर्ष अध्ययन में व्यतीत करे तथा अन्तिम वर्षों को धर्म-प्रचार तथा मानव-जाति की सेवा में बिताए। ऐसे लोगों के जीवन-धारण का दायित्व प्रत्येक गृहस्थी को एक या अधिक अतिथियों को भोजन कराने का कर्तव्य सौंपकर पूरा किया जाता था। यह स्वैच्छिक व्यवस्था ब्रिटिश गृहस्थों द्वारा स्कूली बच्चों को भोजन देने तथा शिक्षा प्रदान करने के लिए एकत्रित किये जाने वाले अनिवार्य चन्दे से कहीं श्रेष्ठ है। पुनः गृहस्थों को यह भी आदेश दिया गया

aryasamajjamnagar.org

---

१. यज्ञ की व्याख्या के लिए मैक्समूलर का ग्रन्थ Physical Religion (मैक्समूलर की ग्रन्थावली) १८९८, पृष्ठ १०७-१०८ द्रष्टव्य हैं।

है कि वे स्वयं बाहर जाकर ऐसे अतिथियों को अपने घर पर लाएँ तथा उन्हें भोजन कराएँ ताकि वे स्वयं को दूसरों की दया का पात्र न समझें तथा लज्जा का अनुभव न करें।

(उ) पञ्चम और अन्तिम नित्य का कर्तव्य यह बताया है कि मानव भी ग्राम्य पशुओं पर निर्भर रहता है, अतः दरिद्र, असहाय एवं अनाथ के प्रति भी उसका कुछ न कुछ कर्तव्य है। इस यज्ञ के विधान के अनुसार अपनी सामर्थ्य के अनुसार ऐसे ग्राम्य पशुओं तथा दीन-दुखियों को भोजन प्रदान किया जाता है।

२. **सोलह संस्कार**—गर्भाधान से लेकर मृत्यु के उपरान्त अन्त्येष्टि-पर्यन्त संस्कार धार्मिक पवित्र कृत्य हैं। यह कर्मकाण्ड सामान्यतया अत्यन्त सरल तथा प्रेरणादायी होता है। इसमें कुछ भी नवीनता नहीं है। यह आर्यों जितना ही प्राचीन है तथा पुरातन धर्मशास्त्र-प्रणेताओं ने इसके नियमों का निर्धारण किया है। संस्कारों में परवर्ती युग में किये गए सभी प्रकार के परिवर्द्धन, वृद्धि तथा रूपान्तरण त्याग दिये गए हैं। संस्कारों में उसी विधि को रखा गया है जो हिन्दू विचारधारा के सभी सम्प्रदायों में सामान्य रूप से स्वीकृत थी तथा जो सभी प्रकार की मूर्तिपूजा से मुक्त थी। सभी प्रकार के अन्धविश्वासपूर्ण कृत्य पृथक् कर दिये गए हैं। प्रत्येक मानव की जीवन-यात्रा में ये सोलह संस्कार सोलह मील के पत्थरों के तुल्य हैं, अतः प्रत्येक गृहस्थ को अपनी शक्ति के अनुसार इन्हें किञ्चित् महत्त्व प्रदान करते हुए, तथा निश्चित औपचारिकता एवं प्रदर्शनात्मक भाव के साथ आयोजित करने चाहियें।

aryasamajjamnagar.org

यही वह कर्मकाण्ड है जो आर्यसमाज द्वारा स्वीकृत है तथा जिसे स्वामी दयानन्द ने अपने संस्कारविधि नामक ग्रन्थ में एतद् विषयक प्राचीन प्रमाणों के आधार पर संकलित किया है। ❑

अध्याय ७

धार्मिक आदर्श और लक्ष्य

१. भारत का ईसाईकरण : क्या भारत ईसाई बनेगा?

१८२४ में जब स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ, उस समय भारत में अंग्रेजी शासन अपनी प्रारम्भिक स्थिति में था। इस देश का अधिकांश भाग जो आगे जाकर 'ब्रिटिश भारत' कहलाने लगा, अभी तक देशी शासकों के अधीन था। समस्त पंजाब, सिन्ध तथा मध्यप्रदेश को ब्रिटिश अधिकार में लाने में लगभग पच्चीस वर्ष लगे। यहाँ तक कि भारत का जो भूभाग ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकार में था, वहाँ भी ब्रिटिश शासन न्यूनाधिक रूप में अस्थिर स्थिति में था तथा अंग्रेजी संस्थाएँ अभी अपने शैशव में थीं। शिक्षा की सुविधाएँ अत्यन्त न्यून तथा सुदूरवर्ती थीं। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षा को जो किञ्चित् प्रगति दी, वह भारत के न्यायालयों में अभी तक प्रयुक्त होनेवाली फारसी तथा संस्कृत भाषाओं के अध्ययन को आगे बढ़ाने तक ही सीमित थी। इसका प्रयोजन युवा भारतीयों को सरकारी नौकरियों और मुख्यतः न्यायिक सेवाओं में अधीनस्थ कर्मचारियों के रूप में वृत्ति दिलाना था।[१] ईसाई प्रचार अपनी सर्वोच्च सीमा तक पहुँच गया था, विशेषतः कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास जैसे प्रेसीडेन्सी नगरों में। अपने कल्पना-चक्षुओं से हम सहज ही देख सकते हैं कि दयानन्द के जन्म से लगभग ६ वर्ष पूर्व १८१८ में राजा राममोहन राय ग्रीष्मऋतु में अपने कलकत्ता के उद्यानगृह में बैठे हुए श्री ऑर्नाट तथा श्री एडम से ईसाई धर्म की गुणवत्ता पर चर्चा कर रहे हैं। मिश्नरियों ने कुछ विद्यालय भी चलाए। सर वैलेन्टाइन शिरोल हमें बताते हैं कि "केरी तथा अन्य प्रारम्भिक ईसाई प्रचारकों का विरोध होते हुए भी डॉ० अलैग्जैण्डर डफ ने भारत के ईसाईकरण की प्रथम दिशा के रूप में भारतीय भाषाओं पर अंग्रेजी की वरिष्ठता स्थापित करना तय किया। यह डॉ० डफ तथा उतना ही लॉर्ड मैकाले का प्रभाव था कि लॉर्ड विलियम बैटिंक की सरकार ने ब्रिटिश शासन का महद्

---

१. वैलेन्टाइन शिरोल लिखित 'इण्डियन अनरेस्ट', पृष्ठ २०८.

उद्देश्य अंग्रेजी साहित्य तथा विज्ञान को समुन्नत करना निर्धारित किया।''[१]

राजा राममोहन राय के जीवनचरित तथा १८२० एवं १८३० के बीच में प्रकाशित उनकी लघु पुस्तिकाओं का अध्ययन हमें इस बात का संकेत देते हैं कि उन दिनों राजा राममोहन राय के नेतृत्व में हिन्दू धर्म के आचार्यों तथा ईसाई प्रचारकों के बीच एक ज़बरदस्त शास्त्रार्थ चल रहा था। ऐसा लगता है कि 'राजा' को ईसाई बनाने का कोई भी प्रयत्न छोड़ा नहीं गया था। प्रो० मैक्समूलर की साक्षी हमारे पास विद्यमान है जिन्होंने राजा राममोहन राय के एक मित्र और समकालीन अमेरिकन पादरी श्री आदम को उद्धृत किया है। मैक्समूलर लिखते हैं—''कलकत्ता के प्रथम लाट पादरी डॉ० मिडलटन ने राममोहन राय को ईसाई बनाने का भरसक प्रयत्न किया था और ऐसा करते हुए उसने न केवल अपने ईसाई धर्म की सचाई एवं श्रेष्ठता ही निरूपित की, अपितु यह भी बताया कि भारत में ईसाइयों का अग्रदूत बन जाने पर उन्हें कितना सम्मान, आदर, प्रभाव तथा लाभ प्राप्त होगा। राजा राममोहन राय ने इस प्रयत्न के प्रति अपना तीव्र रोष प्रकट किया तथा यह स्पष्ट कर दिया कि सत्य, प्रेम और अच्छाई जैसे गुणों की अपेक्षा उन्हें अन्य प्रकार के प्रलोभनों से प्रभावित करने की जो चेष्टा की गई है वह व्यर्थ है। इसके बाद वे उक्त बिशप से कभी नहीं मिले।''[२]

aryasamajjammagarh.org

इतिहास के क्षेत्रों में यह एक सुविदित तथ्य है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के प्रशासन पर ईसाई प्रचारकों का अत्यधिक राजनीतिक प्रभाव था। डॉ० वैलेन्टाइन शिरोल का कथन है कि डॉ० अलैग्जैण्डर डफ ने ही ब्रिटिश शासकों को सती प्रथा को समाप्त करने तथा ऐसे अन्य कदम उठाने के लिए प्रेरित किया जिनसे ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा पूर्व में दिया गया यह आश्वासन भंग हो जाता था कि गौरांग शासक भारतीयों के धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे तथा इन्हीं महाशय ने सरकार को अंग्रेजी शिक्षा के पक्ष में निर्णय लेने के लिए प्रभावित किया।[३] यह बताया गया है कि डॉ० डफ का ब्रिटेन तथा भारत दोनों देशों के

---

१. वही, पृष्ठ २०९

२. 'बायोग्रेफिकल एसेज़' पृष्ठ २४ (ले० प्रो० मैक्समूलर, १८८४ का संस्करण)

३. 'इंडियन अनरेस्ट' पृष्ठ २०९—''यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि इसी व्यक्ति (डफ) ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को हिन्दुओं की धार्मिक प्रथाओं में हस्तक्षेप करने की प्रेरणा दी थी। ईमानदार ईसाइयों की सम्मति में एक ईसाई नेता के लिए ऐसा करना उचित नहीं था।''

शासकीय क्षेत्रों पर बड़ा प्रभाव था। इसका पता डॉ० हार्डिंग के १८४४ में प्रचारित शिक्षा-विषयक उस आदेश से चलता है जिसके द्वारा अंग्रेजी बोलने वाले भारतीयों के लिए बड़ी संख्या में सेवा-सुविधाएँ उपलब्ध कराई गई थीं।

अतः यह स्पष्ट है कि दयानन्द के जन्म के वर्ष १८२४ तथा उनके गृहत्याग के वर्ष १८४५ के बीच की अवधि में ईसाई प्रचारक सरकारी नीतियों को अत्यधिक प्रभावित कर रहे थे। डॉ० डफ ने स्वयं १८३० में एक अंग्रेजी स्कूल खोला और अपने अनेक प्रतिभाशाली शिष्यों को ईसाई बनाने में सफल रहा।

मिश्नरी स्कूलों का जाल

स्वामी दयानन्द के सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने तक ईसाइयत ने भारत में अनेक लम्बी छलाँगें लगाई थीं। देश में सर्वत्र ईसाई स्कूलों, कॉलेजों तथा प्रचारकेन्द्रों का जाल बिछा हुआ था। ब्रह्मसमाज की आवाज तो अरण्यरोदनवत् थी। ब्रह्मसमाज के नेताओं का प्रमुख शास्त्र उनका बुद्धिवाद था, जो बहुत कम लोगों को आकृष्ट करता था। उस समय ब्रह्मसमाज को भी एक प्रकार की सुधरी हुई ईसाइयत का रूप माना जाता था जो वेदों के एकेश्वरवाद अथवा राममोहन राय के वैदिकवाद की अपेक्षा ईसाइयों के यूनेटेरियन चर्च[१] के अधिक निकट थी। उसके मूलरूप में हिन्दुत्व के जो कुछ तत्त्व थे, वे भी उस समय समाप्त हो गए जब ब्रह्मसमाज का नेतृत्व उन लोगों के हाथों में चला गया जो अंग्रेजी खाद्य तथा अंग्रेजी विचारधारा से पोषित हुए थे। ब्राह्म विचारधारा की यह स्थिति उस समय चरम सीमा पर पहुँच गई जब बाबू केशवचन्द्र सेन के ईसा एवं ईसाइयत-विषयक असंगत एवं असम्बद्ध विचारों ने पौराणिक ईसाइयत तथा ब्राह्मधर्म के बीच में विभाजन की एक अत्यन्त क्षीण रेखा ही छोड़ी।

मैक्समूलर ने 'टाइम्स' पत्र के २४ नवम्बर १८८० के अंक में एक पत्र लिखते हुए रेवरेण्ड चार्ल्स वोयसे को उद्धृत किया है—"केशवचन्द्र सेन के अनुयायियों ने ईश्वरवादियों के नाम को डुबो दिया है, क्योंकि यह ब्राह्म नेता

१. इसमें एकमात्र ईश्वर की सत्ता ही मानी जाती है। पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के त्रैत को अस्वीकार किया गया है।

aryasamajjamnagar.org

ईसाइयत की ओर अधिक से अधिक उन्मुख हो चुका है।''[१] केशव बाबू ने ईसा के प्रति अपने विश्वास की स्वीकृति १८६६ में ही व्यक्त कर दी थी। १८८० में ब्राह्म प्रचारक सम्मेलन के प्रवक्ता के रूप में बाबू डब्लू० एन० गुप्त ने मैक्समूलर को एक पत्र लिखा, जिसमें यह स्पष्ट किया गया कि ''हमारी संस्था के प्रति लोगों की नाराज़गी का एक प्रमुख कारण हमारे आचार्य (केशव) की ईसामसीह के प्रति निष्ठा का भाव है।''[२]

एक अन्य ईसाई लेखक श्री फ्रैंक लिलिंगटन ने १९०१ में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'दि ब्राह्मोसमाज एण्ड आर्यसमाज इन देयर बेयरिंग ऑन क्रिश्चियनिटी' में ''भारतवर्षीय ब्राह्मसमाज की ईसाइयत'' के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये हैं—''यह सत्य है कि ब्रह्मसमाज ने इतिहास-प्रसिद्ध ईसा की भगवदीय सत्ता को उस रूप में कभी स्वीकार नहीं किया, जिस रूप में पुरातनपन्थी ईसाई स्वीकार करते हैं, परन्तु इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि वह लगभग इस स्थिति तक आ चुका था।'' ब्रह्मसमाज की स्थापना वस्तुतः केशवकृत ईसाइयत की व्याख्या तथा उनके द्वारा गठित नवविधान के विरोध रूप में ही हुई थी। इस प्रकार के आन्तरिक विग्रह से विदीर्ण हुआ ब्रह्मसमाज ईसाई आक्रमणों से हिन्दू धर्म की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ सिद्ध हो चुका था। यही वह समय था जब १८६० के लगभग स्वामी दयानन्द ने गुरु विरजानन्द के निकट रहकर अपना अध्ययन समाप्त किया।

aryasamajjamnagar.org

राजा राममोहन राय के उपदेश आध्यात्मिक विषयों में पश्चिम की वरिष्ठता को नकारते थे। उनका कहना था कि हिन्दू ईश्वरवाद ईसाई ईश्वरवाद के सर्वोत्कृष्ट रूप के तुल्य तो है ही, चाहे उससे उत्कृष्ट न भी हो। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर भी इस बिन्दु पर अन्तिम क्षणों तक दृढ़ रहे, यद्यपि उन्होंने वेदों की निर्भ्रान्तता को इस आधार पर अस्वीकृत कर दिया था, क्योंकि उनके द्वारा वेदाध्ययन के लिए बनारस भेजे गए चार युवा शिष्यों ने वेदों के विषय में प्रतिकूल सम्मति दी थी। केशवचन्द्र सेन के ईसाइयत-विषयक विचारों का यह विकास एक प्रकार से हिन्दुओं के ईसाइयों से हीन और अवर होने की स्वीकृति

---

१. 'बायोग्राफिकल एसेज़' पृष्ठ ८९

२. वही, पृष्ठ ९८

था। इससे उन ईसाई प्रचारकों के हाथ मज़बूत हुए जो उस समय संस्कृत के पश्चिमी विद्वानों की राय के बलबूते पर हिन्दू धर्म के विरोध में एक ज़बरदस्त आंदोलन छेड़े हुए थे।

पश्चिम के इन संस्कृतज्ञों का यह आन्दोलन सर विलियम जोन्स तथा उनके साथियों द्वारा प्रवर्तित किया गया था जिसने भारत को द्विधा प्रभावित किया। इस आन्दोलन के द्वारा एक ओर तो भारतीय साहित्य की विपुलता और विविधता को प्रकाशित किया गया, जिससे यूरोपीय संसार को यह ज्ञात हुआ कि भारतीयों ने विगत काल में धर्म, दर्शन, काव्य, गणित आदि विषयों पर अमर ग्रन्थों की रचना की है तथा वे उस प्रकार के अशिक्षित, बर्बर नहीं थे जैसा कि प्रारम्भिक अंग्रेज उपनिवेशवादियों ने उन्हें चित्रित किया है। परन्तु साथ ही इस आन्दोलन ने ईसाई प्रचारकों के हाथ में एक मज़बूत हथियार भी दे दिया जिसे वे हिदू धर्म तथा उसकी मान्यताओं के विरुद्ध प्रयुक्त कर सकते थे। अतः यह कहा जा सकता है कि स्वामी दयानन्द के सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करने तक भारत में एक ऐसा परिवर्तन आ चुका था, जैसा कि पहले कभी नहीं देखा गया। यह था यहाँ के लोगों पर अंग्रेज जाति की बौद्धिक एवं नैतिक विजय। इस चित्र को आर्यसमाज के सर्वस्वीकृत नेता लाला हंसराज ने इस खूबसूरती के साथ चित्रित किया है कि मैं उनके शब्दों को उद्धृत करने से अधिक कुछ नहीं कर सकता। आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव पर बोलते हुए उन्होंने कहा—

"मुसलमानी शासन की विजय के दिनों में भी हिन्दू लोग कभी अपने स्वामियों से बौद्धिक तथा नैतिक प्रगति की दिशा में पराजित नहीं हुए। मुसलमान बाबर ने चाहे हिन्दू गंगा को उसके राज्य से अधिकारच्युत कर दिया, परन्तु उसे भी हिन्दू नानक के समक्ष झुकना पड़ा। अकबर, फ़ैज़ी, जहाँगीर तथा दाराशिकोह को हिन्दू भक्तों की विद्वत्ता तथा साधुता की साक्षी देनी पड़ी थी। परन्तु अंग्रेजों के आने के साथ ही परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गई हैं। शायद ही कोई दिन बीतता है जब हमें हमारी हीनता का बोध नहीं कराया जाता। रेलवे, तार तथा कारखाने शिक्षित तथा अशिक्षित भारतीय के समक्ष यह बात निर्विवाद रूप से कह देते हैं कि भौतिकशास्त्र के नियमों तथा उन्हें मानव-जीवन में उपयोगी बनाने के ज्ञान की दृष्टि से अंग्रेज लोग उनसे कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं। प्रशासन का

यह जटिल तथा आश्चर्यप्रद तंत्र, जो हमारी प्रवृत्तियों का नियंत्रण करता है, देश में संगठन और व्यवस्था स्थापित करने की उन उच्च शक्तियों की ओर निर्दिष्ट करता है जो हम पर शासन करती हैं। शेक्सपियर के नाटक, मिल्टन की कविताएँ तथा बेकन के निबंध हमारे शासकों की बौद्धिक वरिष्ठता के ज्ञापक हैं। अंग्रेज जाति का धैर्य, सचाई, साहस, देशभक्ति तथा आत्मत्याग हमारे मनों में उनके प्रति आदर एवं सम्मान का भाव पैदा करता है। तब क्या आश्चर्य है कि उनकी संगत में हम स्वयं को पराजित तथा तिरस्कृत अनुभव करें!

दुर्बलता के इसी क्षण में ईसाई प्रचारक हमारे निकट आता है और हमारे कानों में फुसफुसाता हुआ कहता है कि भारतीयों पर यूरोपियनों की वरिष्ठता ईश्वर के उस पुत्र की देन है जिसे उन्होंने अपना राजा और परित्राता स्वीकार कर लिया है। वे यह भी बताते हैं कि यदि भारतवासी उसके झण्डे के नीचे आ जाएँ, तो वे भी वस्तुतः महान् हो सकते हैं।''

यही विचार जो हममें इस प्रकार पैदा किया गया, नित्यप्रति उस शिक्षा के माध्यम से और बढ़ाया जाता है, जो इन प्रचारकों द्वारा संचालित सारे देश में फैले हुए स्कूलों और कॉलेजों के द्वारा दी जाती है। हमारे समाज में विगत काल में प्रविष्ट हुई विकृतियों की यह ईसाई प्रचारक कटु आलोचना करता है और गर्वपूर्वक अपने समाज की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करता है जो इन अभिशापों और विकृतियों से पूर्णतया मुक्त है। वह हमारे धर्मग्रन्थों की ईसाई शास्त्रों से तुलना करता है तथा अनेक भ्रान्त व्यक्तियों को यह सिद्ध कर संतुष्ट कर देता है कि हिन्दू शास्त्रों की तुलना में ईसाई श्रेष्ठ—अपरिमित रूप में श्रेष्ठ हैं। अपने धर्म को प्रसारित करने के कार्य में उसे हिन्दुओं की स्वधर्म के प्रति उपेक्षा के कारण अधिक प्रोत्साहन मिलता है। हिन्दू लोग अपने बच्चों की धार्मिक शिक्षा की घर या स्कूल में कोई व्यवस्था नहीं करते, परन्तु उन्हें लौकिक विषयों की शिक्षा के लिए मिश्नरी स्कूलों में भेजते हैं। परिणाम यह होता है कि हमारे बच्चे अपने ही शास्त्रों की धार्मिक शिक्षाओं से पूर्णतया अनभिज्ञ रह जाते हैं। कोई भी ईसाई पिता अपने बच्चों को उस व्यक्ति के सुपुर्द नहीं करेगा जिसे वह अपने धर्म का शत्रु समझता हो, परन्तु हम ऐसा नित्य करते हैं। जब कोई दुर्घटना घटित हो जाती है तो हम उस कारण विलाप करने लगते हैं। सरकारी स्कूलों और कॉलेजों की निरीश्वरवादी शिक्षा ने हमारी धर्म के प्रति उपेक्षा को इतना बढ़ा

aryasamajjamnagar.org

दिया है तथा हम लौकिक स्वार्थों से इस प्रकार पराभूत हो गए हैं कि थोड़े-से भौतिक लाभों के कारण हम अपने सर्वोच्च धार्मिक अधिकारों को त्यागने के लिए तैयार रहते हैं।

यूरोप के संस्कृत विद्वानों ने भी अचेतनरूप से मिश्नरियों के मार्ग को सरल बनाया है। बिना किसी संकोच के, पश्चिम से लौकिक सत्यों को ग्रहण करने में अभ्यस्त हमारा युवा वर्ग, हमारे ही शास्त्रों की सर्वोत्कृष्ट सचाइयों से अनभिज्ञ रहने के कारण हिन्दू धर्म के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की धारणाओं के प्रति सुनिश्चित विश्वास व्यक्त करने लगता है। मेरा अभिप्राय प्रो० मैक्समूलर तथा मोनियर विलियम्स जैसे प्रसिद्ध विद्वानों को दोषी ठहराना नहीं है और न मेरा इरादा वर्षों के परिश्रम के द्वारा संस्कृत-साहित्य के अध्ययन से अर्जित उनकी विश्वव्यापक ख्याति पर ही कोई दाग लगाने का है। वस्तुतः यूरोपीय विद्वान् उन भारतीय संस्कृत विद्वानों द्वारा लिखित व्याख्याओं से ही भ्रमित हुए हैं जिनका उन्होंने पूर्णतया अनुसरण किया है और इसमें उनका किञ्चित् मात्र भी अपराध नहीं है कि वे एक ऐसे क्षेत्र में असफल रहे हैं जहाँ उनसे भी अधिक अनुकूल परिस्थितियोंवाले व्यक्तियों को भी उसी असफलता का मुँह देखना पड़ा है।

aryasamajjamnagar.org

हमारे स्कूलों और कॉलेजों की ईश्वर-विरहित शिक्षा ने लोगों का ईश्वर तथा उसके द्वारा प्रदत्त ज्ञान के प्रति विश्वास की नीवों को हिला दिया है। हमारे बच्चों को अपनी ही धार्मिक पुस्तकों के प्रति घृणा करने तथा विदेशी ग्रन्थों की प्रशंसा करने की शिक्षा दी जाती है। सर्वोपरि बात यह है कि यूरोपीय विद्वानों के लेखों के द्वारा हमें यह विश्वास दिलाया गया है कि यद्यपि हमारे पास भी असीम मूल्य के कुछ दार्शनिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, किन्तु हमारे धर्मग्रन्थों में सत्यता के कुछ इन रत्नों के साथ-साथ बहुत-कुछ कूड़ा तथा मूर्खतापूर्ण बातें भी भरी हैं। हमें यह बताया गया है कि वेद, जो हमारे धर्म तथा विज्ञान के आधारभूत ग्रन्थ हैं, उनमें आदिकाल के मानव की बच्चों जैसी बचकाना उक्तियाँ भरी पड़ी हैं। ये वेद जड़ तत्त्वों की पूजा सिखाते हैं तथा ऐसे मूर्खतापूर्ण कर्मकाण्ड का आचरण सिखाते हैं जो बालकों को तो आकर्षित कर सकता है, परन्तु जो सभ्य पुरुषों के लिए वास्तव में घृणास्पद है।''

२. दयानन्द की विरोधी शक्तियाँ

दयानन्द का विरोध करनेवाली शक्तियाँ, जिनका उन्हें सामना करना पड़ा, संक्षेप में निम्न प्रकार वर्णित की जा सकती हैं—

१. शिक्षित तथा अशिक्षित ब्राह्मण स्वामीजी के प्रमुख विरोधी थे जिन्होंने हिन्दू पौरोहित्य-परम्परा में अपना सर्वोच्च स्थान बना लिया था तथा प्रस्तावित सुधार-आन्दोलन के कारण जिनके स्वार्थों को सबसे अधिक क्षति पहुँच सकती थी। सुस्थापित जाति-व्यवस्था ही इस ब्राह्मणवर्ग का अजेय दुर्ग थी तथा अज्ञान, अंधविश्वास, पूर्वाग्रह, रीति-रिवाज तथा कट्टरवादिता की शक्तियाँ इनकी सहायक थीं।

२. ईसाइयत की सुसंगठित शक्तियाँ भी उनकी विरोधिनी थीं जिन्हें एक ओर तो सभ्यता के नैतिक, बौद्धिक तथा राजनीतिक सभी प्रकार के साधनों की सहायता मिलती थी, तथा दूसरी ओर जिन्हें धन तथा जन की भरपूर सहायता भी उपलब्ध थी। ऐसे लोग जिन्होंने धर्म के लिए अपने जीवन को समर्पित कर दिया है तथा प्रत्येक स्थिति में स्वधर्म-प्रचार तथा धर्मरक्षा को जो अपना पवित्र कर्तव्य जानते हैं। इनके धन का कोष लोकहित के विभिन्न कार्यों का जाल बिछा सकता है, जिसके पीछे दानदाताओं की अपार सहानुभूति है तथा जो निर्बाध गति से ईसाई प्रचारकों की ओर बहता आ रहा है।

aryasamajjamnagar.org

३. आधुनिक विज्ञान की विश्लेषणात्मक प्रवृत्तियाँ भी स्वामी दयानन्द के विरोध में थीं। इस विज्ञान ने ईश्वर, ईश्वरीय ज्ञान तथा धर्म को नकारा तथा उस सिंहासन पर, जिस पर पहले परमात्मा विराजमान था, अब धर्मनिरपेक्षता, तथा भौतिकता को लाकर बिठा दिया।

४. पौराणिक ब्राह्मण धर्म तथा ईसाइयत के समक्ष प्रचलित हिन्दू चिन्तन तथा हिन्दू धर्म का सम्पूर्णतया क्षय हो जाना भी एक बाधा थी।

५. एक अन्य बाधा थी शताब्दियों की राजनीतिक तथा बौद्धिक पतनावस्था से उत्पन्न होनेवाली निराशावादिता तथा जड़ता की प्रवृत्ति। हिन्दुओं का औदासीन्य भाव तथा उनकी यह धारणा कि वे इस प्रकार कुचल दिये गए हैं जिससे उनका पुनः उठना असम्भव है, बौद्धिक एवं नैतिक पराधीनता तथा स्थितिस्थापकता से उत्पन्न होनेवाला लज्जाभाव तथा भाग्यवाद।

६. ईसाइयत का जागरूक प्रचार भी उनकी एक विरोधी शक्ति थी। इस ईसाइयत की शक्ति ने देश के प्रत्येक भाग में अपनी विजय-यात्राओं को वर्ष के प्रत्येक दिन में प्रदर्शित करना लक्ष्य बनाया था, जबकि हिन्दुओं को इस बात का गुमान तक नहीं था कि यह शक्ति किस प्रकार अपनी जड़ें मजबूत कर रही है।

३. स्वकार्य के प्रति दयानन्द की उपयुक्तता

स्वामी दयानन्द ने आजीवन हिन्दू धर्म का अध्ययन किया था। इस धर्म के विभिन्न रूपों और प्रकारों से वे भली-भाँति परिचित थे। १८६२ तक, जबकि उन्होंने धर्म-प्रचार का कार्य आरम्भ किया, वे ईसाइयत और इस्लाम से प्रायः अपरिचित थे, सिवाय इसके कि उन्होंने अपनी लम्बी-लम्बी यात्राओं में स्वदेशवासी ईसाइयों और मुसलमानों को जिस किसी रूप में अपने धर्म का आचरण करते देखा था। परन्तु ज्यों ही उन्होंने हिन्दू चिन्तन, हिन्दू जीवन तथा हिन्दू धर्म में क्रांतिकारी सुधार करने का सोचा, उन्होंने यह अनुभव किया कि ईसाइयत और इस्लाम के रूप में दो प्रबल प्रतिद्वन्द्वी हिन्दू धर्म के समक्ष खड़े हैं। इन दोनों ने हिन्दू धर्म के अस्तित्व को ख़तरे में डाल रखा है। यदि इन्हें यों ही छोड़ दिया गया, इनका प्रतिरोध नहीं किया गया तो ये प्रतिद्वन्द्वी अपने व्यवस्थित प्रयासों से हिन्दू धर्म को उस सर्वोच्च स्थान से निश्चय ही निर्वासित कर देंगे जो इस देश में उसे प्राप्त है। अतः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जब तक प्रतिद्वन्द्वी मतों को उनके द्वारा हिन्दू धर्म के विरोध में गृहीत सुविधाजनक स्थितियों से नहीं हटा दिया जाता, तब तक केवल प्रचलित हिन्दू धर्म के विरोध में आन्दोलन संचालित करने मात्र से उसका सुधरना कठिन है। इसलिए स्वामी दयानन्द ने अपने अंग्रेजी तथा अरबी जाननेवाले मित्रों की सहायता से इन विदेश में जन्मे धर्मों का आलोचनात्मक अध्ययन आरम्भ किया। इस अध्ययन में उन्होंने भारत की देशी भाषाओं में निबद्ध धार्मिक साहित्य से भी सहायता ली। इस अध्ययन के उपरान्त वे इस तर्कपूर्ण निर्णय पर पहुँचे कि वैदिक ईश्वरवाद अनेक दृष्टियों से इस्लामी ईश्वरवाद से श्रेष्ठ है तथा कट्टरपंथी ईसाइयों द्वारा मान्य ईश्वरवाद से तो वह कहीं अधिक श्रेष्ठ है। इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पश्चात् उन्हें यह निर्णय करने में अधिक समय नहीं लगा कि उन्हें केवल वैदिक हिन्दू धर्म की प्रतिरक्षा ही नहीं करनी है, अपितु एक कदम आगे बढ़

aryasamajjamnagar.org

कर धर्मप्रचार तथा विधर्मियों के हिन्दू धर्म में पुन: प्रवेश का एक नया प्रतिमान स्थापित करना है; दूसरे शब्दों में उन्हें आक्रामक भी होना पड़ेगा। हिन्दुओं के मानसिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोण में पूर्ण क्रान्ति लाना उनका लक्ष्य बन गया। उनका विश्वास था कि यद्यपि अन्य मत-सम्प्रदायों में भी कुछ सत्य है, किन्तु वेदों का धर्म ही सर्वोपरि सत्य धर्म है, यही धर्म सम्पूर्ण मानवता के लिए है तथा जाति, रंग तथा देश का बिना भेदभाव किये, मनुष्य-मात्र तक इस वैदिक धर्म को पहुँचाना उनका कर्तव्य है।

इस प्रकार प्रारम्भ में ही दयानन्द को एक सार्वभौम लक्ष्य की प्राप्ति हो गई थी, किन्तु जिस धर्म में उनका जन्म हुआ है, तथा जिसके वे अनुयायी हैं उसके प्रति उनका कर्तव्य सबसे पहले है—इस बात को भी वे नहीं भूले। आध्यात्मिक क्षेत्र में दिग्विजय करना उनके जीवन का लक्ष्य बन गया था, किन्तु वे यह भी जानते थे कि इस महत् कार्य का शुभारम्भ उन्हें अपने घर से ही करना होगा। उन्हें अपने प्रथम अनुयायी स्वदेश के लोगों में से ही चुनने होंगे जिन्हें उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञानालोक की अन्यों की अपेक्षा सर्वाधिक आवश्यकता है। अत: उन्होंने निश्चय किया कि उन्हें न केवल हिन्दुओं को हिन्दू धर्म का सही मर्म बताना है, किन्तु उन्हें यह भी समझाना है कि वे आक्रमणकारियों से अपना बचाव किस प्रकार कर सकते हैं। उन्होंने यह भी सोचा कि प्रभावशाली प्रतिरक्षा तभी सम्भव है जब बचाव करनेवाला, अपने आक्रमणकर्ता पर स्वयं आगे होकर आक्रमण करने के लिए सन्नद्ध रहे। स्पष्ट भाषा में कहें तो ऐसे व्यक्ति को केवल आलोचनाओं का मुकाबिला करने के लिए ही तैयार नहीं रहना चाहिए, अपितु बदले में उसे अपने आलोचकों की बखिया उधेड़ देनी चाहिए तथा उसे इस बात के लिए विवश करना चाहिए कि वे अपनी आँख के शहतीर को देख सकें।

वे चाहते थे कि हिन्दू-मस्तिष्क निष्क्रियता से हटकर कर्म की ओर प्रवृत्त हो, दुर्बलता के स्तर से उठकर शक्ति के स्तर तक पहुँचे।

हिन्दू धर्म और ईसाई-इस्लाम

भारत में हिन्दू धर्म के प्रतिद्वन्द्वी इस्लाम और ईसाइयत दोनों दूसरों को अपने मत में प्रविष्ट करानेवाले धर्म थे। अत: यह आवश्यक था कि हिन्दू धर्म को भी ऐसा ही रूप दिया जाय। विगत काल में हिन्दू धर्म ने अन्यों को अपने

भीतर प्रविष्ट किया था तथा वह शान्त एवं अचेतन भाव से प्रतिदिन अब भी अपने द्वारा दूसरों के लिए खुले रखता है।[१] आवश्यकता इतनी ही थी कि धर्म-प्रचार की एक सक्रिय भावना उत्पन्न की जाय, जिससे इस कार्य में लोग गर्व का अनुभव करें। संक्षेप में, अन्य धर्मों के प्रति स्वामीजी का सही दृष्टिकोण था। अन्य धर्मों के प्रति व्यक्ति किये गए उनके उद्‌गारों में यदि किसी को कोई त्रुटि प्रतीत होती है, तो यह उन धर्मों के बारे में उन्हें जानकारी देनेवालों का दोष है, अथवा उनका जिनकी पुस्तकों के आधार पर उन्होंने आलोचना की यह सामग्री ग्रहण की। संयुक्त प्रान्त की जनगणना की रिपोर्ट में श्री ब्लण्ट ने शिकायत करते हुए लिखा है कि आर्य लोग अन्य धर्मों का अध्ययन उनके विरोधियों द्वारा लिखे गए ग्रन्थों की सहायता से ही करते हैं। यह आरोप यदि सही है, यद्यपि हम इसे स्वीकार नहीं करते, तब भी हमें उत्तर में इतना ही कहना है कि यहाँ भी आर्यों ने ईसाई प्रचारकों का अनुकरण करने में ही तत्परता दिखाई है। हमारे कथन की पुष्टि में यदि साक्षी की आवश्यकता हो तो क्रिश्चियन लिटरेरी सोसाइटी मद्रास द्वारा प्रचारित उन लघु पुस्तकों को देखना होगा जो हिन्दू धर्म, आर्यसमाज तथा इस्लाम के विरोध में लिखी गई हैं। यद्यपि हम इस प्रकार की प्रवृत्ति को पसद नहीं करते, किन्तु उसे धर्मप्रचारकों के अत्युत्साह से सर्वथा पृथक् कर नहीं रखा जा सकता। यह नहीं भूलना चाहिए कि धार्मिक वाद-विवाद के क्षेत्र में ईसाई प्रचारक ने ही पहल की थी। उसी ने हिन्दू धर्म के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की तथा ऐसा करते हुए उसने कठोरतम भाषा का प्रयोग किया। उसने कृष्ण जैसे हिन्दू नायकों को व्यभिचारी तथा दुराचारी करार दिया था।

aryasamajjamnagar.org

अन्य धर्मों के प्रति दयानन्द का दृष्टिकोण युग की आवश्यकता के अनुकूल था। इसका एक कारण यह भी था कि इन धर्मों का श्रेष्ठ साहित्य जिन भाषाओं में उपलब्ध है, उनकी जानकारी उन्हें नहीं थी। परन्तु हमारी सम्मति में उनके अनुयायियों को अपने गुरु के एतद्‌विषयक दृष्टिकोण को अपनाए रखना आवश्यक नहीं है और जितना जल्दी आर्यसमाजी इस निष्कर्ष पर पहुँचे, उतना उनके साथ उनके कार्य में हितकारी होगा। संसार के अन्य धर्मों का अध्ययन,

१. द्रष्टव्य—जनगणना रिपोर्ट, साथ ही सर एच० रिसले की विद्वत्तापूर्ण पुस्तक 'दी पीपल्स ऑफ इंडिया' भी द्रष्टव्य है।

जिनमें भारतीय धर्मों का भी समावेश है, उनके सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्ताओं द्वारा लिखित ग्रन्थों के माध्यम से ही किया जाना चाहिए। चाहे इन्हें हम परिपूर्ण सत्य न मानें, तब भी इनके सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते समय संयम तथा आदर का भाव रखा जाना चाहिए।

४. राजनीतिक असन्तोष का जनक : आर्यसमाज

१९०७ में जब कुछ प्रतिष्ठित आर्यसमाजी एक प्रतिनिधिमण्डल के रूप में पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर से मिले तथा उन्हें यह कहकर आश्वस्त करना चाहा कि इस वर्ष जो राजनीतिक तथा कृषि को लेकर उपद्रव पंजाब में हुए, उनमें आर्यसमाज का संस्थारूप में कोई हाथ नहीं था, तो कहते हैं कि गवर्नर ने उनसे कहा कि उसके अधिकारियों की सूचना के अनुसार जहाँ भी आर्यसमाजें हैं, वहीं पर उपद्रव होते हैं तथा राजनीतिक अशान्ति फैल जाती है। हमें आश्चर्य है कि ऐसा कहकर गवर्नर ने आर्यसमाज के कार्य तथा उसकी भावना को सर्वश्रेष्ठ प्रशस्तिपत्र प्रदान किया है और यह प्रशंसापूर्ण सम्मति उससे कहीं अधिक है जिसकी इच्छा इस संस्था के प्रशंसित संस्थापक ने चाही होगी। मानसिक अशान्ति बड़ी पावन होती है। अशान्ति के बिना प्रगति भी नहीं होती। परन्तु न्याय की बात तो यह है कि भारत में राजनीतिक हलचल का एकमात्र कारण आर्यसमाज नहीं है। सरकार ने अपनी शिक्षा-नीति चलाकर तथा प्रशासन के पश्चिमी तरीक़ों को काम में लाकर इसी असंतोष को प्रोत्साहित किया है। आर्यसमाज को निश्चय ही उन परिस्थितियों का तार्किक परिणाम समझा जा सकता है जो पश्चिम से भारत में आयातित की गई थीं, अतः यदि भारत में जीवन की आधुनिक परिस्थितियों के अनिवार्य फलस्वरूप असंतोष का भाव उत्पन्न हुआ और आर्यसमाज ने उसे बढ़ाने या परिवर्धित करने में अपनी भूमिका का निर्वाह किया, तो इसके लिए उसके शर्मिंदा होने या पश्चात्ताप करने का कोई कारण नहीं है। कोई भी इससे इन्कार नहीं करेगा और न करना चाहिए कि आर्यसमाज राष्ट्रीय भावना की अभिवृद्धि करने में एक प्रबल शक्ति रहा है। आर्यसमाज का उद्देश्य लोगों के जीवन तथा चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना है। वैदिक ज्ञान तथा वैदिक जीवन के मूलाधारों पर एक नवीन राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण उसका लक्ष्य है। हिन्दू समाज की विद्यमान परिस्थितियों के प्रति असन्तोष उत्पन्न करना उसके लिए ज़रूरी था, अधिक अच्छे चिन्तन

aryasamajmumbai.org

और उच्चतर जीवन की प्राप्ति की तीव्र इच्छा जगाना भी आवश्यक था तथा इसी तीव्र इच्छा के परिणामस्वरूप असन्तोष उत्पन्न होना तो स्वाभाविक ही था। पुरातन भारत के गौरव और गरिमा को पुनः स्मृत करते हुए ही आर्यसमाज ने अपना कार्य आरम्भ किया। उसने हिन्दुओं को बताया कि वेदों और शास्त्रों के इस देश के लिए यह उचित नहीं है कि वह केवल यूरोपियन साहित्य तथा यूरोपियन जीवन-पद्धति का मात्र आलोचक अथवा अनुकरणकर्ता बनकर अपने 'स्व' को लुप्त कर ले। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी ही थी। जिस समय दयानन्द ने अपना धर्मप्रचार का कार्य आरम्भ किया, उस समय भारतीयों की मनोदशा इसी प्रकार की थी। इस बात की बहुत बड़ी आवश्यकता थी कि उस हिन्दू मस्तिष्क को व्यापक किया जाय जो उस समय तक बाह्य रूपों और रूढ़िबद्ध स्वभाव और आदतों के दुष्चक्र से अपने-आपको मुक्त नहीं कर सका था और आज भी वह रूढ़ियों की उसी कारा में बद्ध है। अतः यह कहना आवश्यक है कि चरित्र के विकास में स्वभाव एक अंग-मात्र है; वह अपने-आप में चरित्र नहीं है तथा केवल व्यक्तिगत सुशीलता एवं सज्जनता उन सक्रिय लक्ष्यों और आदर्शों का स्थान नहीं ले सकते जो व्यक्ति और सामाजिक घटकों में संजीवनी रसायन के तुल्य प्राणों का संचार करते हैं। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि केवल शान्ति, निष्क्रियता, समर्पण-भाव तथा आज्ञाकारिता ही राष्ट्रीय चरित्र का निर्माण नहीं करते, वरन् शक्ति, कार्य को आरम्भ करने में उत्साह, उत्तरदायित्व की भावना तथा विद्रोह की शक्ति भी आवश्यक होती है। इस समस्त विचार-परम्परा को स्व० भगिनी निवेदिता (कुमारी नोबल) ने, जिन्होंने हिन्दुओं के जीवन-लक्ष्य से अपना पूर्ण तादात्म्य कर लिया था तथा जिनसे बढ़कर ब्रिटिश द्वीपसमूह में हिन्दुओं का कोई अन्य सच्चा मित्र नहीं जन्मा, इतनी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है कि 'आक्रामक हिन्दू धर्म' पर लिखे गए उनके निबन्धों में से एक का यह लम्बा उद्धरण प्रस्तुत करते हुए हमें कोई संकोच नहीं हो रहा है। भगिनी निवेदिता ने हिन्दू धर्म को मात्र हिन्दू रीति-रिवाजों के रक्षक रूप में ही नहीं, अपितु हिन्दू चरित्र के निर्माता के रूप में देखा है। वह लिखती हैं—

aryasamajjamnagar.org

भगिनी निवेदिता

हमें यह सोचकर आश्चर्य होता है कि इस विचार से कितनी विभिन्न

दिशाओं में, विभिन्न प्रकार के क्रान्तिकारी परिवर्तन होते हैं। जब हम अपनी सामाजिक और धार्मिक चेतना पर लगाए जानेवाले नाना प्रकार के प्रतिबंधों की बात सोचते हैं तो हमें ईर्ष्या या भय के भाव नहीं सताते। अब हमारा काम मात्र अपनी रक्षा करना ही नहीं है, अपितु दूसरों को अपने धर्म में प्रविष्ट कराना भी है। बिन्दु-बिन्दु यदि अग्रसर हुआ जाय तो हम कहेंगे कि हमने यह निश्चय कर लिया है कि जो कुछ हमारे पास है, हम उससे ही संतुष्ट नहीं होंगे, अपितु उसे भी विजय कर लाएँगे जो उससे पूर्व हमें अप्राप्त था। अब यह प्रश्न नहीं रहा कि अन्य लोग हमारे बारे में क्या धारणा रखते हैं। अब तो प्रश्न यह है कि हम उनके बारे में क्या सोचते हैं? यह विचार नहीं करना है कि हमने क्या छोड़ा, सोचना यह है कि हमने क्या जोड़ा? अब और अधिक खोना हम नहीं चाहते, क्योंकि हमने अपनी सीमाओं के पार तक जाकर संघर्ष करने की शपथ ली है। अब हम दूसरों के प्रति समर्पित होने की बात नहीं सोचते, क्योंकि एक दूरगामी विजय को प्राप्त करने के मार्ग में संघर्ष तो हमारे द्वारा उठाया गया प्रथम कदम साबित हो रहा है।

aryasamajjamnagar.org

संसार में हिन्दू धर्म के तुल्य कोई अन्य धर्म नहीं है जो तीव्र गति से परिवर्तन की स्थिति में आ सकता हो। नागार्जुन और बुद्धघोष जैसे दार्शनिकों के लिए 'बहुत्व' ही वास्तविक था और 'अहं' अवास्तविक। शंकराचार्य की दृष्टि में 'एक' ही सत्य है तथा 'बहुत्व' और 'एक' वस्तुतः एक ही हैं। उनके विचारानुसार मानव-चेतना के द्वारा सत्य को विभिन्न कालों में विभिन्न प्रकार से देखा जाता है। क्या हमने इस कथन के अभिप्राय को समझा है? इसका अर्थ है कि आध्यात्मिक भावना ही चरित्र है। इसका अभिप्राय यह है कि क्या आलस्य और पराजय-भाव को हम त्याग नहीं कह सकते? इसका तात्पर्य यह है कि मुक्ति प्राप्त करने की अपेक्षा किसी अन्य प्राणी को बचाना महान् कार्य है। इसका अर्थ यही है कि मुक्ति की तृष्णा को जीत लेना ही मुक्ति है। इसका अभिप्राय यही होगा कि सर्वोच्च श्रेणी का संन्यास ही विजय है। संक्षेप में यह कहना है कि अब हिन्दू धर्म को आक्रामक होना है। हमारे बीच में कल्कि (आयामी युग) की तुरही बज उठी है तथा यह ध्वनि हममें से उन सभी को बुला रही है, जो महान् हैं, प्रिय हैं, तथा जो परिश्रमी तथा वीर हैं—उस युद्धक्षेत्र

में जाने के लिए, जहाँ से फिर लौटकर नहीं आना है।[१]

हमारे विचारानुसार उपर्युक्त शब्द दयानन्द की भावना तथा विचारों के सर्वथा अनुकूल हैं तथा उनकी यही भावना आर्यसमाज में भी काम कर रही है।

दयानन्द का वेद-विषयक दावा

प्रायः दुर्भावना से कभी-कभी यह कहा जाता है कि दयानन्द का वेदों के सम्बन्ध में यह दावा कि उनमें सभी प्रकार के वैज्ञानिक सत्य उपलब्ध होते हैं, विचारशून्य तथा असंगत है। दयानन्द के इस दावे की विस्तारपूर्वक परीक्षा करने का स्थान यहाँ नहीं है, किन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि—

१. दयानन्द का यह कथन अत्यन्त उचित है कि धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में पश्चिमी मस्तिष्क ने उतनी गहराई और उच्चता को कभी प्राप्त नहीं किया था, जितना कि पुरातन भारतीय मस्तिष्क ने, तथा इसी प्रकार के विषयों में उसे अभी भी पुरातन भारतीय ऋषियों से बहुत-कुछ सीखना है।

२. जहाँ तक सामाजिक मामलों का सम्बन्ध है, प्राचीन काल में भारत में जिन समाधानों को ढूँढ निकाला गया, वे पश्चिम के आधुनिक सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों द्वारा ढूँढे गए समाधानों के तुल्य ही श्रेष्ठ, दृढ़ तथा प्रभावशाली हैं।

aryasamajjammagat.org

३. जहाँ तक दर्शन का क्षेत्र है, भारत को पश्चिम से कुछ नहीं सीखना है। यूरोपीय चिन्तन का सारसत्त्व अभी तक भारतीय चिन्तन के सारभूत तत्त्व के स्तर तक नहीं पहुँच सका है। अत्याधुनिक पश्चिमी चिन्तन अभी तक अंधेरे में ही टटोल रहा है तथा शताब्दियों पूर्व भारतीयों ने चिन्तन की जिन ऊँचाइयों का स्पर्श किया था, वहाँ तक पहुँचने का प्रयास कर रहा है।

४. जहाँ तक भौतिक विज्ञानों का सम्बन्ध है, यूरोपियन लोग प्राचीन भारतीयों से कहीं आगे बढ़े हुए हैं। फिर भी यह बात न्यायपूर्ण एवं औचित्य-पूर्वक कही जा सकती है कि अधिकांश मौलिक सचाइयाँ जिन पर यूरोपीय विज्ञान का ढाँचा खड़ा है, भारतीयों को ज्ञात थीं। उदाहरणार्थ, उन्हें यह ज्ञात था कि पृथिवी गोल है, वे यह भी जानते थे कि धरती, सूर्य तथा चन्द्रमा एवं तारे गति करते हैं, उन्होंने सैनिक विज्ञान में पर्याप्त प्रगति की थी, वे बीजगणित तथा दशमलव रीति के आविष्कारक थे। शताब्दियों से हिन्दुओं का यह विश्वास था

---

१. भगिनी निवेदिता लिखित 'एग्रेसिव 'हिन्दुइज़्म, पृष्ठ १०,११,१२, नटेसन एण्ड कम्पनी, मद्रास।

कि वनस्पतियों को भी जीवित प्राणियों एवं पशुओं की ही भाँति प्राणवान् तथा सचेतन माना जाना चाहिए। अब जब कि उन्हीं भारतीयों के एक वंशज कलकत्तावासी प्रो० जे०सी० बोस ने यह आविष्कृत एवं प्रमाणित कर दिया है कि जड़ प्रकृति के प्रत्येक परमाणु में भी जीवन होता है, तो यह श्रेय भारतीयों को द्विगुणित भाव से मिलना चाहिए। यूरोपीय विद्वानों ने निर्व्याजभाव से यह स्वीकार कर लिया है तथा यही बात पर्याप्त प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि हिन्दू लोग शरीररचना-विज्ञान एवं शल्यविज्ञान के अच्छे जानकार थे तथा उच्चकोटि के रसायनवेत्ता भी थे।

अरविन्द घोष

अतः यही कहना समीचीन होगा कि दयानन्द के उपर्युक्त सभी दावे एक ठोस आधार पर प्रतिष्ठित हैं। उनका प्रयोजन केवल हिन्दुओं को डींगें हाँकने का अवसर प्रदान करना नहीं था, परन्तु वे हिन्दुओं में न्यायोचित गौरव का भाव तथा अपनी विरासत के प्रति विश्वास का भाव पैदा करना चाहते थे। ऐसा करने में उनका प्रयोजन यही था कि गौरव के इन भावों को धारण कर वे उस परम्परा की रक्षा तथा उसे धारण करने में पूर्ण समर्थ हो सकेंगे एवं उसकी रक्षा हेतु बड़े से बड़ा बलिदान करने में भी सक्षम होंगे। दयानन्द उस पुनर्जागृत भारत का स्वप्न देखते थे जो अपने शानदार अतीत की भाँति आध्यात्मिक, प्रबुद्ध, महान्, विद्वान् तथा वीर हो। यदि उस आदर्श को तुरन्त कार्यान्वित करना सम्भव न हो, तो वे इतना तो चाहते ही थे कि उनके देशवासी उस आदर्श की प्राप्ति हेतु पूर्ण विश्वास तथा शक्ति के साथ आगे बढ़ें। उन्हें इस बात में कोई आपत्ति नहीं थी कि पश्चिम भारतवासियों को जो कुछ सिखा सकता है, उसे वे अवश्य सीखें, परन्तु वे यह भी चाहते थे कि यदि सम्भव हो तो समय आने पर भारतवासी उसी पाठ को, जो उन्होंने पश्चिम से सीखा है, पश्चिम को पढ़ाने में समर्थ हो सके। वे यह भी चाहते थे कि अन्य राष्ट्रों की बिरादरी में भारतवासियों को आदर का स्थान प्राप्त हो, ताकि वे एक बार फिर मानवता के शिक्षक बन सकें तथा मानवजाति के सम्मुख उच्च एवं शानदार आदर्शों के प्रतिष्ठापक बनें। उनकी यह इच्छा थी कि ये सब उपलब्धियाँ वे पूर्व की ही भाँति प्राप्त करें। इन उपलब्धियों को अर्जित करते समय उनमें सत्य के प्रति अनन्य निष्ठा, लोकहित तथा विनम्रता का भाव हो। वे यह जानते थे कि इस महत्त्वाकांक्षी कार्यक्रम को केवल अनुकरण करके ही पूरा नहीं किया जा सकता और न पश्चिम पर निर्भर

aryasamajjamnagar.org

रहने से यह पूरा हो सकेगा। यूरोपियन देशवासियों के पूर्वजों के प्रति घृणा प्रदर्शित कर, किन्तु उन्हीं की आदतों तथा तरीकों का अनुकरण करके भी यह कार्य नहीं किया जा सकता। स्वामी दयानन्द चाहते थे कि भारतवासी उपर्युक्त प्रकार के अस्थिर आधारों पर नहीं, किन्तु आत्मसम्मान तथा स्वावलम्बन की मौलिक आधारशिला पर अपने भावी राष्ट्रवाद को खड़ा करें और उसे स्वजाति एवं स्वधर्म की सच्ची भावना से पनपाएँ। लक्ष्य के महान् होने पर भी उसकी प्राप्ति हेतु वे किसी अनुचित साधन को प्रयुक्त करने के विरोधी थे। वे चाहते थे कि हिन्दू लोग समस्त विश्व पर विजय प्राप्त करें, परन्तु यह विजय धर्म और सत्य के साधनों से ही प्राप्तव्य है। उन्होंने पश्चिम की आसक्ति तथा भोगवादी प्रवृत्ति के विरुद्ध भारतवासियों को चेतावनी दी तथा उस धारा के अनुकूल बहने का विरोध किया जो उनके शक्तिशाली एवं साहसी पूर्वजों के वारिस होने की शान के विरुद्ध था।

यह तो समय ही बताएगा कि क्या दयानन्द अपने विचारों की दृष्टि से सही था या ग़लत, परन्तु इस तरह के संकेतों का अभाव नहीं है कि उसके देशवासी उसकी भावनाओं के प्रशंसक तथा उन्हें ग्रहण करने के लिए उत्सुक हैं। न तो दयानन्द और न उनके अनुयायियों ने ही कभी इस बात की परवाह की कि विदेशी लोग उनके बारे में क्या फैसला देते हैं। दूसरों से घृणा करना या उन्हें पीड़ा देना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। उनके साथ कठिनाई यह नहीं है कि वे अत्यधिक दृढ़, हठी तथा अपनी स्थिति से न डिगनेवाले व्यक्ति हैं, इसके विपरीत, स्थिति यह है कि वे अधिक कोमल, लचीले तथा किसी-किसी समय अत्यधिक उदारता तथा आत्मत्याग प्रदर्शित करनेवाले हो जाते हैं। उनकी उदारता कभी-कभी तो इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वे उदारता की बलिवेदी पर अपने देश के सर्वोत्कृष्ट हितों का बलिदान करने के लिए तत्पर रहते हैं। दयानन्द का जो ध्येय और आदर्श है वही आर्यसमाज का भी है तथा ऊपर हमने जो कुछ दयानन्द के बारे में लिखा है, उसमें और अधिक जोड़ने के लिए कुछ नहीं है। ❑

aryasamajjammagar.org

अध्याय ८

सामाजिक आदर्श तथा लक्ष्य

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताꣳ
श्रोत्रं यज्ञेन कल्पतां पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्।
प्रजापतेः प्रजा ऽ अभूम स्वर्देवा ऽ अगन्माऽमृता ऽ अभूम॥

—यजु० ९/२१

१. आर्यसमाज का सामाजिक आधार

आर्यसमाज के सामाजिक आदर्श वे ही हैं जो प्राचीन भारतीय ऋषियों के थे। वे निम्न बिन्दुओं पर आधारित हैं—

(अ) ईश्वर में पिताभाव तथा मनुष्यमात्र में भ्रातृभाव।

(आ) स्त्री और पुरुष में समानता का भाव।

(इ) मनुष्य–मनुष्य तथा राष्ट्र–राष्ट्र के बीच सर्वथा न्यायोचित तथा भद्र व्यवहार। प्रत्येक को उसके स्वभाव, कर्म तथा गुणों के अनुसार अवसर मिलने चाहिएँ।

aryasamajjamnagar.org

(ई) सबके प्रति प्रेम तथा दया का व्यवहार।

२. जातिप्रथा

हिन्दुओं की जाति–व्यवस्था उनके लिए एक–साथ ही अभिशाप तथा मुक्ति के तुल्य सिद्ध हुई है। एक ओर यह उनके लिए सामाजिक एवं राजनीतिक पतन का प्रमुख कारण रही है तो दूसरी ओर यह एक सामाजिक तथा राष्ट्रीय संगठन भी बनी जिसने हिन्दुओं को पूर्ण रूप से अव्यवस्थित होने तथा सर्वांगीण रूप से विनष्ट होने से बचाया। इस प्रथा ने हिन्दुओं को उन सामाजिक–राजनीतिक व्यवस्थाओं में सम्पूर्णतया घुल–मिल जाने से बचा लिया जो विदेशी थीं तथा जिन्होंने इतिहास के विभिन्न युगों में भारत में प्रभुत्व स्थापित कर लिया था।

विगत दो हजार वर्षों से यह व्यवस्था हिन्दूधर्म के दुर्ग की सुरक्षात्मक प्राचीर के तुल्य सिद्ध हो रही है। आर्यसमाज जन्मना जाति का विरोधी है।

जातियों और उप-जातियों ने जिस प्रकार हिन्दू समाज का सहस्रधा विघटन कर दिया है, आर्यसमाज उसकी निंदा करता है। आर्यसमाज के अनुसार जातिप्रथा ने भारत में जिस प्रकार की कृत्रिम बाधाएँ उत्पन्न कर मनुष्य को उसके साथी मनुष्य से पृथक् किया है, इससे इस व्यवस्था का विघटनात्मक रूप ही व्यक्त होता है। उसकी सम्मति में समाज को इस प्रकार के संकुचित कक्षों में विभाजित कर देना सर्वथा अस्वाभाविक है तथा एक जाति के अनुयायी को विजातीय व्यक्ति से सामाजिक सम्बन्ध स्थापित न करने देना अनुचित है। परन्तु इतना होने पर भी वह जीवन की वास्तविकताओं को ओझल नहीं कर सकता। उसे यह मानना पड़ता है कि जन्म से सब मनुष्य बराबर नहीं हैं। वे एक-दूसरे से शारीरिक शक्तियों में, बौद्धिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों में, नैतिक अवधारणाओं में तथा आध्यात्मिक विकास में भिन्न हैं। मनुष्यों का जन्म भिन्न प्रकार के वातावरणों में होता है तथा इसी कारण वातावरणजन्य कारणों से उनकी स्थिति तथा स्तर में भी अन्तर हो जाता है। जन्म और जीवन को प्रभावित करने में आनुवंशिकता भी अपना योगदान करती है।

aryasamajjamnagar.org

आर्यसमाज, फिर भी, सभी लोगों को—स्त्री और पुरुष को समान रूप से ज्ञान प्राप्त करने तथा जीवन-क्षेत्र में किसी भी लक्ष्य को पूरा करने के कार्य को स्वीकार करने की समान सुविधा देता है। वह प्रत्येक व्यक्ति को—नारी तथा पुरुष को अपने मनोनुकूल क्षेत्र को चुनने तथा उसी क्षेत्र में संघर्ष कर मानवता के सर्वोच्च स्तर तक पहुँचने का अधिकार स्वीकार करता है। आर्यसमाज यह मानता है कि वैदिक युग में भारत में जन्म के आधार पर जातिव्यवस्था का प्रचलन नहीं था, यद्यपि वेदों में गुणों तथा व्यवसायों की दृष्टि से मानवजाति का चार प्रकार से विभाजन करने का उल्लेख है। महाभारत में लिखा है—न तो जन्म से और न संस्कारों से, न अध्ययन से और न ही पूर्वजों की संतान होने से मनुष्य का द्विज होना (तथा त्रिविध द्विजाति में वह जिस वर्ण का है) जाना जाता है। केवल चरित्र और आचरण से ही उसके द्विज होने का ज्ञान होता है। मनु ने भी कहा है—तपस्या अर्थात् श्रेष्ठ कर्म, तप तथा संस्कारों के प्रभाव से प्रत्येक युग में मनुष्यों में जाति-सम्बन्धी उच्चता और निम्नता को लोग प्राप्त होते हैं, अर्थात् कर्म एवं स्वभाव से जातियाँ बदल जाती हैं। पवित्र रहनेवाले, परिश्रमी, सेवा करने में चतुर, मधुरभाषी तथा अहंकाररहित ब्राह्मण आदि द्विजों

की नित्य सेवा करनेवाले शूद्र भी उच्च गति को प्राप्त करते हैं।

जो लोग जातिप्रथा का मूल वेदों में देखते हैं, वे ऋग्वेद के दशम मण्डल सूक्त ९० के निम्न मंत्र का प्रमाण देते हैं, जिसका शब्दार्थ इस प्रकार है—

ब्राह्मण मानव-जाति के शिरोभाग के तुल्य हैं। क्षत्रियों को उसकी भुजा बताया गया है। उसकी जंघाएँ ही वैश्य हैं तथा उसके पाँवों को शूद्रों के तुल्य बताया गया है। प्रसंग देखने से ज्ञात होता है कि मंत्र का यही अर्थ सही है। इस सूक्त के नवें मंत्र में मानव-जाति को एक पुरुष के रूप में कल्पित किया गया है। दसवें मंत्र में पूछा गया है—इस मानव-जातिरूपी पुरुष का सिर क्या है, उसकी भुजाएँ कौन-सी हैं, तथा उसकी जंघाओं और पाँवों को क्या कहा जाता है? विचाराधीन मंत्र इसी प्रश्न के उत्तर रूप में कहा गया है।

मंत्र में जातिप्रथा का किसी भी रूप में उल्लेख नहीं है। यह तो मानव-शरीर तथा मानव-जाति में समानता प्रतिपादित करते हुए मानव समाज के आदर्श संगठन का वर्णन करता है। ब्राह्मणों को मनुष्य-जाति का जो सिर या मस्तिष्क कहा गया, वह उचित ही है क्योंकि वे स्वयं ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा अन्य लोगों को भी स्वकर्तव्य के पालन का उपदेश देते हैं। क्षत्रियों को मानव-जाति की भुजा कहना समीचीन ही है, क्योंकि वे शक्ति एकत्र कर मानव-समाज की रक्षा करते हैं। वैश्यों को मानव-समाज की जंघाएँ कहना भी उपयुक्त है क्योंकि व्यापार और व्यवसाय के लिए वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर पर्यटन करते हैं, तथा शूद्रों को मानव-समाज का पाँव इसीलिए कहा क्योंकि वे अशिक्षित होने के कारण जीवन के उच्चतर कर्तव्यों का पालन करने में असमर्थ हैं। श्रमविभाजन के सिद्धान्त पर आधारित यह मानव-समाज का एक आदर्श विभाजन है। यह जन्म पर आश्रित न होकर गुणाश्रित है।

aryasamajjamnagar.org

हम और अधिक उद्धरण नहीं देंगे, क्योंकि यूरोपीय विद्वानों ने भी पूर्ण सहमति से यह मान लिया है कि वैदिक युग में वंशानुगत जातिप्रथा विद्यमान नहीं थी। हम यहाँ केवल दो विख्यात संस्कृतज्ञों से निष्कर्ष उद्धृत करेंगे—

प्रो० मैक्समूलर कहते हैं—"तब जो प्रमाण हमारे सम्मुख उपस्थित हैं, उनके आधार पर यदि हम यह प्रश्न करें कि क्या जाति जिस रूप में मनुस्मृति में वर्णित है तथा आज जिस रूप में मौजूद है, क्या उसी रूप में वह आर्यों के सर्वाधिक प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ वेद में भी उपलब्ध होती है? तो इसके उत्तर में

हमें यही कहना होगा कि नहीं।''[१] वैदिक युग के सम्बन्ध में जर्मन विद्वान् वेबर ने कहा है—''इस युग तक जातिप्रथा विकसित नहीं हुई थी। सभी लोग और तथा संगठित थे तथा 'विस्' नाम से पुकारे जाते थे।''[२] श्री रमेशचन्द्र दत्त भी यही कहते हैं कि वेदों में कहीं एक भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जो यह बता सके कि समाज वंशानुगत जातियों में विभक्त हो चुका था। हम निम्न प्रमाणों के आधार[३] पर यह कह सकते हैं कि जन्मना अब्राह्मणों ने भी प्राचीन भारत में अपने गुणों के कारण ब्राह्मण का गौरव एवं स्तर प्राप्त कर लिया था—

१. छान्दोग्य उपनिषद् में वर्णित सत्यकाम जाबाल जो एक निम्न जाति की स्वैरिणी का पुत्र था।

२. ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित कण्व।

३. ऐतरेय ब्राह्मण तथा उपनिषद् का रचयिता ऐतरेय तो इतरा नाम की शूद्रा स्त्री का पुत्र था।

४. वेदान्त दर्शन तथा महाभारत के रचयिता व्यास जो एक धीवरी के पुत्र थे।

aryasamajjamnagar.org

५. पाराशर स्मृति के रचयिता पराशर चाण्डाली के पुत्र थे।

६. वैदिक ऋषियों में प्रमुख वसिष्ठ वेश्या-पुत्र थे।[४]

७. विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे।[५]

८. अरष्टि श्रेन, सिंधुद्विप, देवापि आदि सभी क्षत्रिय थे।[६]

९. जन्म से वैश्य नाभाग के दो पुत्र थे।[७]

---

१. 'Chips from a German Workshop', Vol II, p. 807.

२. 'Indian Literature' p. 38.

३. 'The Caste System' Ganga Prasad, p. 2–4.

४. यह तथ्य महाभारत में उल्लिखित है।

५. यह बात भी महाभारत में कही गई है।

६. यह बात भी महाभारत में कही गई है।

७. 'हरिवंशपुराण' अध्याय ११ में उल्लिखित है।

हिन्दू समाज के सुधार का एक महान् कार्य जो आर्यसमाज द्वारा किया गया, वह है हिन्दुओं में दलित तथा अस्पृश्य मानी जाने वाली जातियों के अधिकारों की रक्षा करना तथा अन्य उच्च जातियों के तुल्य उन्हें समान स्तर पर आर्यसमाज में प्रवेश दिलाना। परन्तु इस विषय पर हम आगामी अध्याय में लिखेंगे।

३. स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध

यह स्पष्टतया स्वीकार किया जाना चाहिए कि जिस समय आर्यसमाज अस्तित्व में आया, उस समय हिन्दू नारी की दशा अतीव शोचनीय थी। कुछ बातों में तो वह पुरुषों से भी अधिक दुर्गति में थी। पुरुषों की संख्या के एक अनुपात ने तो (यद्यपि जनगणना की दृष्टि से अत्यन्त न्यून प्रतिशत) सरकारी स्कूलों, ईसाई प्रचारकों द्वारा स्थापित अथवा अन्य निजी संस्थाओं द्वारा स्थापित विद्यालयों में किसी न किसी प्रकार की शिक्षा प्राप्त की थी, परन्तु भारतीय नारी को शिक्षित करने के लिए नगण्य-सा ही कार्य हुआ था। अंग्रेजों ने प्रशासन की जो व्यवस्था स्थिर की थी, उसके अनुसार सरकार को चलाने के लिए भारतीय पुरुषवर्ग का शिक्षित होना आवश्यक था। शिक्षा के विकास में सरकार से भिन्न जिन संस्थाओं ने पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त में उल्लेखनीय कार्य किया है, उनमें आर्यसमाज को सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इस शिक्षा के प्रचार से ही नारी के प्रति पुरुषवर्ग के दृष्टिकोण में एक उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ।

aryasamajjamnagar.org

इस परिवर्तन को लाने में निश्चय ही अंग्रेजी शिक्षा तथा पश्चिमी विचारों ने एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, परन्तु उससे बढ़कर चाहे न भी हो, उसके तुल्य कार्य नारी-विषयक प्राचीन हिन्दू आदर्शों को ग्रहण करने की प्रेरणा देने, तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के विषय में पुरातन हिन्दू धर्म की शिक्षाओं को प्रचारित करने से भी सम्पन्न हुआ। प्राचीन हिदू साहित्य के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नारी की वर्तमान अधोगति का कारण उसकी प्राचीन आदर्शों से च्युति ही है। प्राचीन भारत में सिद्धान्त और व्यवहार की दृष्टि से समाज में नारी को पुरुषों के तुल्य धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया था। उन्हें पुरुषों की बराबरी का दर्जा प्राप्त था, चाहे उससे अधिक ऊँचा न हो। जहाँ तक शिक्षा और विवाह का सम्बन्ध है, उन्हें समान स्तर प्राप्त था। कन्याओं को भी लड़कों के तुल्य शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था और इस क्षेत्र में उनकी

आकांक्षाओं एवं उमंगों पर किसी प्रकार का अंकुश नहीं था। लड़कों और लड़कियों, दोनों को शिक्षा ग्रहण करने का तुल्य अधिकार था। दोनों में अन्तर था तो इतना ही कि लड़कों की अपेक्षा लड़कियों की शिक्षा ग्रहण करने की अवधि शीघ्र समाप्त हो जाती थी। विवाह की आयु लड़कियों के लिए सोलह तथा लड़कों के लिए पच्चीस वर्ष नियत थी। यही नियम स्त्री और पुरुष की हिन्दू शास्त्रों में वर्णित शरीरशास्त्र-सम्बन्धी भिन्नताओं के कारण लागू किया गया था। यह माना जाता था कि वर और वधू का चुनाव करने में दोनों पक्षों को समान स्वतन्त्रता तथा समान अवसर मिलने चाहिएँ। आदर्श विवाह वही माना जाता था जो एक पति और एक पत्नी के आदर्श को लेकर चलता था तथा दोनों पक्षों की पारस्परिक सहमति पर आधारित होता था। तथापि हिन्दू धर्मशास्त्र में विभिन्न प्रकार के वैध विवाहों का उल्लेख हुआ है। इसका कारण यही है कि भिन्न परिस्थितियों में स्त्री एवं पुरुष पर एक ही प्रकार का कानून नहीं लादा जा सकता। विवाह-संस्था के कुछ भेद यह सूचित करते हैं कि विवाह से पूर्व लड़के और लड़की का परस्पर परिचय हिन्दू समाज के लिए सर्वथा नई वस्तु नहीं थी तथा इसे गम्भीर सामाजिक अवमानना नहीं समझा जाता था। यद्यपि नियमतः हिन्दू माताएँ, पत्नियाँ, बहनें तथा पुत्रियाँ—माता-पिता, पति यहाँ तक कि पुत्रों के अधीन रहती थीं, तथापि उन्नीसवीं शताब्दी के ईसाई यूरोप की नारियों की तुलना में उनकी स्थिति उच्चतर तथा संतोषप्रद थी। परिवार में भी पिता की अपेक्षा माता की स्थिति उच्चतर थी। मनु के अनुसार पिता की अपेक्षा माता सहस्र गुणा आदर और सत्कार की अधिकारिणी होती है। उसे गृहकार्यों का सर्वोपरि नियंत्रण प्राप्त था तथा वित्तीय मामलों सहित सभी प्रकार की घरेलू बातों पर उसका पूर्ण अधिकार होता था।

aryasamajjamnagar.org

हिन्दू कानून संयुक्त परिवार में रहने पर भी माता, विधवा, पुत्री तथा बहिन को पृथक् अधिकार प्रदान करता है तथा अपने हिस्से की सम्पत्ति पर उसका पूर्ण प्रभुत्व तथा नियन्त्रण स्वीकार करता है। सन्तान के संरक्षण में पिता के तुल्य माता का भी अधिकार होता है। पिता की मृत्यु पर माता का अधिकार परिपूर्ण रहता है। एक आदर्श हिन्दू पत्नी से यह आशा नहीं की जाती कि वह स्वयं जीविकोपार्जन करेगी। अपने मातृपद के दायित्व की दृष्टि से उसे इस बोझ से मुक्त रखा गया है। अविवाहित कन्याओं तथा विधवाओं के पालन का

दायित्व भी परिवार के पुरुषों पर होता है, यद्यपि कन्या और विधवा को पैतृकदाय से गृहीत, दान से प्राप्त अथवा स्वयं उपार्जित धन के अधिकार से वंचित नहीं किया गया है। नारियों की सम्पत्ति पर पुरुषों का कोई कानूनी स्वत्व नहीं होता।

मनु के अनुसार विवाह एक संस्कार है, अतः सिद्धान्ततः उसे अविच्छेद्य मानना चाहिए। उनके अनुसार—संक्षेपतः स्त्री और पुरुष का एक-दूसरे के प्रति कर्तव्य यही है कि उन्हें मनसा, वाचा, कर्मणा एक-दूसरे के सर्वथा अनुकूल रहते हुए मृत्युपर्यन्त धर्माचरण करना चाहिए। जो स्त्री मन, वचन और कर्म से पति के अनुकूल आचरण करती है, वह साध्वी कहलाती है और वह पति के साथ सुख प्राप्त करती है।[१]

स्वामी दयानन्द ने पुरातन ऋषियों के वाक्यों की व्याख्या करते हुए पुरुष और स्त्री की मृत्यु हो जाने के उपरान्त उनके दूसरे या तीसरे विवाह को अनुचित माना है। (मनु यह प्रतिबन्ध केवल विधवा पर ही लगाते प्रतीत होते हैं)[२] किसी भी रूप में, दयानन्द नारियों के लिए कोई ऐसा विधान नहीं बताते जिसे वे पुरुषों पर भी लागू न करते हों, और ऐसा करते हुए वे केवल प्राचीन धर्मशास्त्रकारों के भावों का ही अनुसरण करते हैं। कुछ विशिष्ट स्थितियों में अपनी वैध पत्नी के जीवित रहते हुए भी पुरुष को पुनर्विवाह करने की स्वीकृति है, यदि वह (पत्नी) बंध्या हो[३], मादक द्रव्यों का सेवन करती हो, दुराचारिणी हो, यहाँ तक कि उसमें स्वभावगत दोष भी हों। इन्हीं स्थितियों में पत्नी को भी अपने पति के जीवित रहते पुनर्विवाह करने का अधिकार है, जब कि उसका पति नपुंसक हो[४], अपनी पत्नी को त्याग दे, दुराचारी और व्यसनी हो, अथवा बिना सूचना दिये लम्बी अवधि के लिए कहीं चला जाए। कुछ विशिष्ट मामलों

aryasamajjamnagar.org

---

१. मनुस्मृति 91, 101, 51, 165; द्रष्टव्य—श्री भगवानदास लिखित 'The Science of Social Organization', p. 211.

२. द्रष्टव्य—मनुस्मृति 51, 158, 159, 160; भगवानदास के अनुसार ये श्लोक स्त्री तथा पुरुष पर समान रूप से नियन्त्रण लगाते हैं। उपर्युक्त पुस्तक का पृष्ठ 213.

३. मनुस्मृति ९—१८, ८०; याज्ञवल्क्य, पृष्ठ ४१८, अ० ५/७३

४. मनुस्मृति अ० ९.

में हिन्दू कानून बहुविवाह की भी स्वीकृति देता है, परन्तु केवल अत्यन्त असामान्य परिस्थितियों में ही। उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि आर्यसमाज बाल-विवाह के सख्त खिलाफ है। इस अस्वाभाविक रीति के विरोध में उसने प्रबल आन्दोलन का संचालन किया है तथा सार्वजनिक राय को बाल-विवाह के विरोध में केन्द्रित करने के लिए उसे साधुवाद दिया जाना चाहिए। आर्यसमाज विवाह के लिए कन्या की न्यूनतम आयु १६ और लड़के की पच्चीस निर्धारित करता है तथा अड़तालीस वर्ष तक यथासाध्य ब्रह्मचर्य पालने के लिए भी प्रोत्साहित करता है। १८८० में जब स्वामी दयानन्द ने यह बात लिखी थी, तब उन्होंने वर और वधू के फोटो के परस्पर मिलान का भी सुझाव किया था, परन्तु तब से समय ने और अधिक प्रगति की है। शिक्षित वर्ग में माता-पिता द्वारा लड़के-लड़कियों के एक-दूसरे को देखने पर ही जोर नहीं दिया जाता, अपितु वर-वधू पक्ष विवाह के किसी समझौते को पक्का करने से पूर्व स्वयं भी एक-दूसरे को अच्छी प्रकार देखना तथा समझना आवश्यक मानते हैं। तथापि हिन्दुओं की विवाह-विधि अभी तक अनिश्चयात्मक स्थिति में है, और हम यह नहीं कह सकते कि उसका अन्तिम रूप कैसा होगा? ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय ९

आर्यसमाज का शुद्धिकार्य

अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा।
वेशं वा नित्यं वरुणारणं वा यत्सीमागश्चकृमा शिश्रथस्तत्॥

—ऋ० ५/८५/७

१. धर्मान्तरण और धर्म में पुनःप्रवेश

शाब्दिक दृष्टि से शुद्धि[१] का अर्थ है पवित्रीकरण, परन्तु आर्यसमाजी लोग इसे धर्म में पुनः प्रविष्ट होने तथा प्रविष्ट कराने के अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। वैदिक सम्प्रदाय होने के कारण आर्यसमाज हिन्दू संगठन ही है, अतः इसका प्रयोजन उन लोगों को हिन्दू धर्म में पुनः प्रवेश दिलाना है, जो इस धर्म से पृथक् हो चुके हैं। इसके अतिरिक्त कोई अन्य भी इस धर्म में आस्था रखते हुए प्रवेश पा सकता है। शुद्धि के दायित्व को ग्रहण कर लेने के कारण आर्यसमाज को मुसलमान मुल्लाओं तथा ईसाई पादरियों के साथ सीधे संघर्ष में उतरना पड़ा है। कट्टरपंथी मुसलमान और ईसाई शुद्धि-कार्य को घृणा की दृष्टि से देखते हैं, यहाँ तक कि गम्भीर विचारोंवाले मौलवी तथा उदारमना ईसाई भी इसे पसन्द नहीं करते। फिर भी अन्य धर्मों में गए हिन्दुओं को स्वधर्म में प्रविष्ट कराने में आर्यसमाज को पर्याप्त सफलता मिली है तथा उसने हिन्दुओं के धर्मान्तर-प्रवेश को रोक दिया है। आर्यसमाज की सर्वाधिक सफलता तो हिन्दुओं में विद्यमान दलित जातियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने तथा उन्हें हिन्दू धर्म को त्यागकर अन्य धर्मों में प्रवेश करने से रोकने में है। हिन्दू धर्म में इस पुनः प्रवेश के सम्बन्ध में आगरा एवं अवध के जनगणना-आयुक्त का कहना है—

---

१. शुद्धि एक संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ है पवित्र करना। धार्मिक शब्दावली में अब इसका अर्थ होता है—(१) विधर्मी लोगों को हिन्दू धर्म में प्रवेश कराना, (२) उन लोगों को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराना जो अभी थोड़े समय पूर्व अथवा वर्षों पूर्व अन्य धर्मों में चले गए थे, (३) दलित जातियों के स्तर को उन्नत बनाकर उन्हें पुनः ग्रहण करना।

(१९११ की पंजाब जनगणना की रिपोर्ट—पृष्ठ १४८)

"जो लोग हिन्दू धर्म को त्यागकर ईसाई या मुसलमान बन गए थे उन्हें पुनः हिन्दू बनाने के विशेष प्रयत्न किये गए हैं, तथा जो जन्मना ईसाई या मुसलमान हैं उन्हें भी हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराने के प्रयत्न प्रायः आर्यसमाज द्वारा किये गए हैं·····।" मुसलमान बने लोगों को हिन्दू धर्म में प्रविष्ट कराने के प्रयत्नों में से एक का ज्ञान मुझे भी है, इसी प्रकार के अन्य प्रयत्न भी हुए हैं। 'राजपूत शुद्धि सभा' नामक एक संस्था आर्यसमाज से सम्बन्धित है। इसका मुख्य लक्ष्य मुसलमान बने राजपूतों को आर्यसमाज के माध्यम से हिन्दू धर्म में लाना है। एक ही दिन में ऐसे ३७० नौमुस्लिम राजपूतों को आर्य धर्म में दीक्षित किया गया। १९०७ से १९१० की त्रिवर्षीय अवधि में इस संस्था द्वारा १०५२ मुसलमान राजपूतों को शुद्ध किया गया।[१]

२. शुद्धि संस्कार

इसी प्रान्त के एक दूसरे जनगणना-आयुक्त (श्री बर्न्स) कहते हैं कि शुद्धि संस्कार अत्यन्त सरल है। आर्य धर्म में प्रविष्ट होनेवालों को पहले १५ दिनों[२] तक केवल दूध पर रखा जाता है। यह प्राचीन काल का चान्द्रायण व्रत है। शुद्धि-संस्कार को एक बड़े सामाजिक उत्सव का रूप दिया जाता है। शुद्धि करनेवाले लोग आर्यसमाज के दस नियमों में अपनी आस्था प्रकट करते हैं, यज्ञ होता है, वेद के मंत्रों का पाठ किया जाता है तथा उपस्थित लोगों को शुद्ध हुए व्यक्तियों के द्वारा मिठाई बाँटी जाती है। कभी-कभी शुद्ध हुए लोगों को एक प्रमाणपत्र भी दिया जाता है, ताकि हिन्दुओं से उनका सामाजिक मेल-मिलाप सहजतया हो सके।[३]

aryasamajjamnagar.org

३. दलित जातियों का उत्थान-कार्य

परन्तु आर्यसमाज ने सर्वाधिक रुचि दलित लोगों के सामाजिक उत्थान में ली है। दलितों की शुद्धि दो पृथक् सरणियों पर हुई है—(अ) जिन जातियों को यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार नहीं है, उन्हें यह अधिकार देकर

---

१. संयुक्त प्रान्त की १९११ की जनगणना की रिपोर्ट, पृ० १३४, श्री उदयवीरसिंह, बैरिस्टर एट लॉ० (अलीगढ़) इस सभा के मंत्री हैं।

२. अब यह व्रत केवल ३ दिन तक ही रखना होता है और यह भी अनिवार्य नहीं है।

३. १९०१ की जनगणना की रिपोर्ट, पृष्ठ ८७.

उनका सामाजिक स्तर उठाना, (आ) अछूतों को स्पर्श्य बनाना, उन्हें उच्चतर सामाजिक आदर्शों की शिक्षा देना, ताकि वे अन्य हिन्दुओं के तुल्य सामाजिक स्तर प्राप्त कर सकें। यह कार्य आर्यसमाजों द्वारा तो सम्पन्न होता ही है, इसको वे विशिष्ट संगठन भी पूरा करते हैं जो आर्यसमाज से सहायता तथा मार्गदर्शन प्राप्त करते हैं तथा प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में उससे सम्बन्धित हैं।

दो वर्ष पूर्व लेखक ने हरिद्वारीय गुरुकुल के वार्षिकोत्सव पर एक बृहत् सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए शुद्धि के प्रश्न की चर्चा तीन दृष्टिकोणों से की थी—(१) हिन्दू समाज की दृष्टि से शुद्धि का महत्त्व, (२) अखिल भारतीय दृष्टि से महत्त्व, (३) मानवीय दृष्टि से। अखिल भारतीय दृष्टिकोण से शुद्धि का विवेचन करते हुए उसने कहा था—"यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्र का पतन देशबंधुओं को अधोगति में रखने से होता है। अतः यदि हम भारतवासी राष्ट्रीय स्वाभिमान तथा गौरव प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमें अपने उन अभागे दलित वर्ग के भाई-बहिनों को स्वीकार करने के लिए तैयार रहना चाहिए तथा उनमें मानवोचित गरिमा का संचार करने में सहायता करनी चाहिए। जब तक इस देश में अछूतवर्ग के लोगों की बड़ी संख्या रहेगी, हम अपने राष्ट्रीय मसलों में कोई वास्तविक उन्नति नहीं कर सकेंगे। इस प्रगति के लिए उच्च नैतिक प्रतिमानों की आवश्यकता होती है। जिस देश में कमज़ोर वर्ग के लोगों के साथ अनुचित व्यवहार होता है, वहाँ ऐसी उन्नति असम्भव है।"

aryasamajjamnagar.org

गत दिसम्बर में ही लेखक ने कराची (सिन्ध) में आयोजित एक बृहत् सम्मेलन के अध्यक्ष पद से बोलते हुए इस विषय की चर्चा की थी। अपने भाषण के दौरान उसने कहा-"दलित जातियों का उत्थान-कार्य अपने भीतर धर्म, मानवता तथा राष्ट्रीयता के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों को समाविष्ट किये हुए है। यह कार्य भारत के अधिसंख्यक उन पुत्रों तथा पुत्रियों द्वारा होना सम्भव है जो आवश्यक शक्तियों से युक्त हैं तथा अनेक कठिनाइयों-भरे प्रयत्नों को करने की क्षमता रखते हैं, साथ ही जो जीवन को एक प्राप्तव्य लक्ष्य मानते हैं तथा कर्तव्यपालन को सर्वोच्च नियम। इस कर्तव्यपालन का सर्वश्रेष्ठ रूप उन लोगों की सेवा करना तथा उनकी स्थिति को सुधारना है, जिन्हें मानवीय अत्याचारों तथा पूर्वाग्रहों ने मानव-समूह से बहिष्कृत कर दिया है तथा दुर्भाग्यवश जो इस अन्यायपूर्ण विचार के शिकार हुए हैं कि ऐसी स्थिति में रहने के अतिरिक्त

उनके भाग्य में और कुछ नहीं है।''

वक्ता ने आगे कहा—''मेरी राय में किसी मनुष्य के प्रति इससे अधिक अत्याचार और कुछ नहीं हो सकता कि उसे ऐसी परिस्थितियों में डाल दिया जाय जिससे वह यह समझने लगे कि उसे तो सदा के लिए अज्ञान, गुलामी तथा दुखभरे जीवन को ही व्यतीत करना होगा तथा किसी अच्छी जिन्दगी की अभिलाषा करना उसके लिए पाप है।''

''मानसिक दासता से बढ़कर कोई गुलामी नहीं है तथा मनुष्यों को स्थायी बंधनों में रखने से बढ़कर कोई पाप नहीं है। लोगों को गुलाम बनाना तो बुरा है ही, परन्तु ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करना जिनसे कि उन्हें अपने बन्धनों को तोड़कर स्वतन्त्र बनने से रोका जा सके, कलंकपूर्ण है। किसी भी मनुष्य या मनुष्य-समूह को ऐसा करने का कोई अधिकार नहीं है। जो ऐसा प्रयत्न करता है, वह उन सभी लोगों के द्वारा निंदा का पात्र बनेगा, जिनमें आत्मा की आवाज़ को सुनने की शक्ति है। यह मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो लोग अपने ही समाज के लोगों के साथ अन्याय और अत्याचार करते हैं, उनकी उचित मानवीय आकांक्षाओं को अवरुद्ध करते हैं, तथा जो अपने स्वार्थ एवं लाभ के वशीभूत होकर दूसरों को पतित अवस्था में ही रखना चाहते हैं, ताकि उनकी ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से वे स्वयं लाभ उठा सकें, उनके ये अन्याय और अत्याचार समय आने पर करनेवालों को ही प्रभावित करेंगे। निकट या दूरवर्ती भविष्य में उन्हें भी ऐसी ही दुर्गतिपूर्ण परिस्थिति में पड़ने से कोई नहीं बचा सकता, सिवाय इसके कि वे समय रहते अपने पापपूर्ण कृत्यों की गुरुता के प्रति सचेत हो जाएँ तथा जो कुछ दुष्टताएँ उनसे हो चुकी हैं उनके निराकरण का वे प्रबल प्रयत्न करें।''

''मैं हिन्दू हूँ और कर्म-सिद्धान्त में दृढ़ता से विश्वास रखता हूँ। मैं यह भी मानता हूँ कि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्मों का स्वयं निर्माण करता है तथा इस प्रकार स्वयं अपने भाग्य का निर्णायक बनता है। अतः इस प्रश्न को मैं इस प्रकार देखता हूँ—हिन्दुओं के पूर्वजों ने अपने धन और शक्ति के मद में उन लोगों के साथ दुर्व्यवहार किया, जिन्हें ईश्वर ने रक्षा और आशीर्वाद हेतु उनके अधीन रख छोड़ा था। इन जातियों की दुर्गति ने ऐसी प्रतिक्रिया उत्पन्न की जिसके कारण वे शताब्दियों तक पराधीनता का अभिशाप भोगते रहे। इस

प्रकार दुहरी अधोगति ने हिन्दू जाति के मानवोचित भावों को नष्ट कर दिया है। हम यह अनुभव करते हैं कि सुधार की प्रबल तथा वास्तविक इच्छा होने पर भी प्रगति के चक्र को उन शक्तियों द्वारा पीछे की ओर ही घुमाया जाता रहा है जिन पर हमारा नियंत्रण सम्भव नहीं है। अतः राष्ट्र का सर्वोच्च हित इसी में है कि हम या हमारे पूर्वजों द्वारा इन दलित जातियों पर जो भी अत्याचार किये गए हैं, उनका उन्मूलन करने के लिए समाज के सर्वश्रेष्ठ लोग जुट जाएँ। इन जातियों के प्रति हम ऋणी हैं तथा यह ऋण जितना जल्दी चुका दिया जाय उतना ही अच्छा है। उन लोगों के बीच रहकर हम उन्नति की ओर नहीं बढ़ सकते, जिन्हें अपने इन्सान होने का भी ज्ञान नहीं है। छूत की बीमारी के वातावरण में रहनेवाले व्यक्ति के लिए आवश्यक होगा कि वह उन रोगाणुओं के खिलाफ जबरदस्त लड़ाई लड़ता रहे, अन्यथा ये कीटाणु उसी के शरीर में प्रविष्ट होकर उसे नष्ट कर देंगे। अतः हमें यह अनुभव करना होगा कि हम राष्ट्रीय प्रगति के अपने कार्यक्रमों को सफल बनाने हेतु जो भी उच्च और श्रेष्ठ त्याग करें, उसका तब तक कोई सुनिश्चित परिणाम नहीं निकल सकता, जब तक कि दलित वर्ग की दशा को न सुधारा जाए। तब हमें स्वीकार करना होगा कि दलितों का प्रश्न राष्ट्रीय महत्त्व का है। सामाजिक पुण्य को प्राप्त करने में हमें जो सुधार करने होंगे, उनमें दलितों के सुधार को सर्वोच्च स्थान देना होगा। यह कोई दया या सद्भाव प्रदर्शित करने का प्रश्न नहीं है, बल्कि आत्मरक्षा का सवाल है। इसका एक दूसरा पहलू भी है, जिसकी उपेक्षा करना हिन्दुओं के लिए सम्भव नहीं है। दलित जातियाँ हिन्दू ही हैं, वे हिन्दू देवताओं की पूजा करती हैं, हिन्दू रीति-रिवाजों को मानती हैं तथा हिन्दू धर्मशास्त्र (कानून) का अनुसरण करती हैं। इनमें से अधिकांश गाय को पूजती हैं तथा अपने ब्राह्मण पुरोहितों की आज्ञाओं का पालन करती हैं। वे हिन्दू धर्म का परित्याग करने की कदापि इच्छुक नहीं हैं, जब तक कि उनकी धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति को अवरुद्ध न कर दिया जाय। वे यह जानने पर भी कि हिन्दू धर्म को त्यागने तथा अन्य मतों को स्वीकार कर लेने पर सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से समुन्नत बनने की तात्कालिक सम्भावनाएँ बन सकेंगी, ये लोग हिन्दू धर्म से चिपके हुए हैं। यदि ये लोग अपने पूर्वजों के धर्म का त्याग करने के लिए तत्पर हों, तो अन्य मत वाले लोग खुले हाथों उनका स्वागत करने के लिए तैयार बैठे

aryasamajjamnagar.org

हैं। इस बात के भी संकेत मिलते हैं कि इनमें से अधिकांश यह जान गए हैं कि हिन्दू समाज में वे किस दुर्दशा में जी रहे हैं। तब क्या हिन्दू समाज के लिए यह अत्यावश्यक नहीं है कि जो लोग अपने को हिन्दू कहते हैं, न केवल उनके समुचित शिक्षण की व्यवस्था की जाय, अपितु उन्हें यह भी समझाया जाय कि समाज में ऐसी कोई स्थिति नहीं है, जिसे उपयुक्त गुणों के होने पर भी प्राप्त करने की आकांक्षा वे न करें।''

''उस समाज के लिए कोई आशा नहीं है, जो अपनी संस्था के चौथाई भाग को स्थायी बंधनों में रखे, उनसे अस्वच्छ काम कराए, गंदे जीवन को व्यतीत करने तथा बौद्धिक दृष्टि से अतृप्त रहने के लिए उन्हें विवश करे, साथ ही उन्हें समाज के अन्य सदस्यों से मेलजोल रखने से भी वंचित कर दे। मैं यह स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हूँ कि ऐसी स्थिति हिन्दू धर्म का कोई आवश्यक अंग है। यह हमारे लिए अत्यन्त शर्मनाक है कि ऐसी स्थिति को वर्तमान हिन्दू धर्म के साथ जोड़ा गया है। यह प्रसन्नता की बात है कि पौराणिक हिन्दू धर्म के नेताओं में भी कुछ चेतना आई है। कट्टरपंथी काशी नगरी की उदासीनता को भंग करने में गेट सर्क्युलर ने रामबाण औषधि का काम किया है। एक सुनहरे प्रातःकाल जब काशी के विद्वान् पण्डित उठे, तो उन्हें ज्ञात हुआ कि उनकी कट्टरपंथी प्रवृत्ति के कारण ६ करोड़ व्यक्तियों के हिन्दू धर्म के प्रति निष्ठा को त्याग देने के आसार उत्पन्न हो गए हैं। इसका कारण यह है कि जैसा कि सरकार तथा उसके परामर्शदाताओं को बताया गया है, ये लोग हिन्दू नहीं हैं, क्योंकि अन्य हिन्दू उन्हें स्वधर्मवर्ती मानने के लिए ही तैयार नहीं है, यहाँ तक कि वे इन्हें छूने से भी परहेज़ करते हैं। ईश्वरीय विधान विचित्र तथा अनिर्वचनीय है। गेट सर्क्युलर ने अप्रत्याशित प्रभाव उत्पन्न किया तथा पौराणिक हिन्दू धर्म के निर्जीवप्राय शरीर में ऐसी स्फूर्ति का संचार किया है जिसके कारण उसकी अपने अस्पृश्य वर्ग के लोगों के प्रति सहानुभूति जाग्रत हुई है। हिन्दू समाज के प्रबुद्ध समुदाय को अछूतों के पृथक् हो जाने की आशंका ने प्रश्न की सम्पूर्ण गहराई तक पहुँचने का अवसर दिया है। यह सत्य है कि यदि दृढ़ पूर्वाग्रह तथा परम्परागत विचार मार्ग में बाधक नहीं बनते तो अस्पृश्यता शीघ्र ही अतीत की वस्तु बन गई होती। अतः हिन्दुओं के दृष्टिकोण से भी यह प्रश्न प्राथमिक महत्त्व का है तथा हिन्दू धर्म, शरीर और आत्मा को गम्भीर हानि

aryasamajjaipur.org

पहुँचाए बिना इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अतः मैं प्रत्येक हिन्दू से अपील करूँगा कि वह इस सम्बन्ध में गम्भीरता से सोचे; तुच्छ बातों के लिए अब समय नहीं है। ईसाई प्रचारक अछूतों को ईसाई बनाने के लिए तैयार बैठे हैं और ऐसा करने के लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह प्रचारक अपने ईश्वर का संदेश लेकर इस देश में आया है। यदि हिन्दू स्वयं अपने ही लोगों को त्यागने के लिए तैयार हों तो ईसाई प्रचारक उन्हें अपनाने में संकोच नहीं करेगा। यदि मानवोचित सरणि पर प्रगति करने का अवसर मिले तो दलित जातियाँ भी हिन्दू धर्म को त्यागना नहीं चाहतीं। परन्तु यदि अपनी मूर्खता के कारण हिन्दू लोग उन्हें अपनाने में संकोच करते रहे, तो वे लोग भी इनसे नत्थी रहना कदापि पसन्द नहीं करेंगे।''

आर्यसमाज ने अब तक इस क्षेत्र में जो कार्य किया है, उसका विवरण निम्न उद्धरण से मिलता है—''..... पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त में शुद्धि का उल्लेखनीय कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया है। मेरी दृष्टि में इस कार्य की मुख्य विशेषता दलित जातियों का सामाजिक स्तर उठाकर उन्हें हिन्दू धर्म में पूर्णतया सम्मिलित कर लेने के लिए हिन्दू समाज को प्रेरित करने अथवा उस पर दबाव डालने में है। इस दृष्टि से भारत के अन्य भागों में प्रयुक्त उपायों की अपेक्षा आर्यसमाज के प्रयत्न अधिक प्रभावशाली हैं। आर्यसमाजियों को हिन्दू समाज में निश्चय ही उच्च स्थान प्राप्त है।''

aryasamajjamnagar.org

हिन्दू-रक्षक आर्यसमाज

उत्तर भारत में आर्यसमाज के बिना हिन्दू धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह संस्था हिन्दू धर्म तथा हिन्दुओं के लिए न केवल शक्ति का स्रोत है, बल्कि हिन्दुओं की प्रत्येक समय तथा प्रत्येक स्थान पर रक्षा करने, बचाने तथा उनकी सेवा करने का एक प्रमुख प्रभावशाली साधन भी है। पौराणिक कट्टरपंथी लोग आर्यसमाज द्वारा दलित एवं अस्पृश्य वर्ग के लोगों को अपने भीतर प्रवेश कराने के कारण क्रुद्ध हैं। वे इसे एक धृष्टतापूर्ण कार्य मानते हैं। वे आर्यसमाजियों को समाज से बहिष्कृत करने की धमकी देते हैं, तथा कई बार ऐसा कर भी देते हैं, परन्तु अन्ततः वे अनुभव करते हैं कि ऐसा करना चट्टान से सिर टकराने के तुल्य है। इस प्रकार की परिस्थितियों से उत्पन्न निराशा के कारण वे अछूतों पर नाना प्रकार के अत्याचार करते हैं, अपने

क्रोधावेश को प्रकट करते हैं, किन्तु इसी समय कानून अपना कार्य करता है और उन्हें अनिवार्य परिस्थिति के समक्ष झुकना पड़ता है।

आर्यसमाज इन दलित जातियों को द्विजातियों के समस्त अधिकार प्रदान कर उन्हें हिन्दू धर्म में पुनः प्रविष्ट कर लेता है। इनमें से कतिपय लोगों को गायत्री मंत्र की दीक्षा दी जाती है, कइयों को यज्ञोपवीत दिलाया जाता है, उन्हें यज्ञ करने का अधिकार भी दिया जाता है, उनके साथ भोजन करने में किसी को कोई आपत्ति नहीं होती तथा कभी-कभी तो उनके साथ वैवाहिक सम्बन्ध भी स्थापित किये जाते हैं। यह हिन्दुओं को चौंकानेवाली बात है। जहाँ भी प्रथम बार इस प्रकार का विवाह सम्पन्न होता है, समाज में भूकम्प-सा आ जाता है। लोग नाना प्रकार से सोचते और चर्चा करते हैं। प्रायः अनुदार लोग ऐसे मामलों में हिंसा का सहारा ले लेते हैं, जिसके परिणामस्वरूप मुकद्दमेबाजी भी होती है, परन्तु अन्ततः सत्य, न्याय तथा धैर्य की विजय होती है। जम्मू और कश्मीर राज्य के एक ज़िले की एक दलित जाति के सम्पूर्ण लोगों को, जिनकी संख्या लगभग १०००० है, आर्यसमाज के भीतर प्रविष्ट कर लिया गया है। यह कार्य तीन वर्षों के प्रयत्न से पूरा हुआ। अछूतों के उद्धार से उत्पन्न होनेवाला विरोधी आन्दोलन अब धीरे-धीरे समाप्त हो रहा है तथा परिस्थितियाँ सामान्य बन रही हैं। स्यालकोट ज़िले में एक अन्य दलित जाति के लगभग ३६ हजार लोगों की शुद्धि की गई। इन लोगों की शिक्षा आदि की व्यवस्थाओं को देखने के लिए एक विशिष्ट सभा—मेघ उद्धार सभा की स्थापना की गई है। इस सभा के द्वारा एक केन्द्रीय विद्यालय तथा कई अन्य प्राथमिक पाठशालाएँ चलाई जा रही हैं। केन्द्रीय विद्यालय का अपना शानदार भवन है, जिस पर उन्होंने लगभग ४० हजार रुपया लगाया है।

aryasamajjamnagar.org

अछूतोद्धार का महान् कार्य

एक अन्य ज़िला गुरदासपुर में पं० रामभजदत्त ने कई हजार अछूतों की शुद्धि विगत दो वर्षों में की है जहाँ का पौराणिक समाज इस शुद्धि-कार्य से आज तक क्षुब्ध है। जो शुद्ध किये गए हैं उनकी देखभाल के लिए अब तक कोई संगठन नहीं बनाया जा सका है। जिला होश्यारपुर में भी हजारों अछूतों को शुद्ध किया तथा उनकी शिक्षण-संस्थाओं एवं अन्य आवश्यकताओं की

देखभाल के लिए एक संस्था कार्य कर रही है। लाहौर में चमारों तथा भंगियों के बीच अच्छा कार्य हो रहा है। जुलाई मास में मैंने रावी नदी के दूसरे तट पर दलितोद्धार सभा द्वारा संचालित केन्द्रीय विद्यालय तथा भवन के लिए २१००० रुपये में एक भूमि-क्षेत्र क्रय किया है। मैंने १९०८ में जो अकाल राहत कोष एकत्रित किया था, उससे बचे हुए धन को दलितोद्धार के काम में व्यय किया है तथा इन वर्गों की दशा को सुधारने के लिए कुछ प्राथमिक पाठशालाएँ समस्त प्रान्त में चलाई जा रही हैं। इनमें से कुछ विद्यालयों को सरकारी अनुदान मिल रहा है, तथा अन्यों को भी शीघ्र मिलने लगेगा। इस प्रकार जो धन एकत्रित होगा, उसे अन्य स्कूलों को जारी करने में व्यय किया जाएगा। पंजाब प्रान्त में शायद ही कोई ऐसा ज़िला हो, जहाँ दलित जातियों की उन्नति के लिए कोई न कोई कार्य न किया जाता हो, यद्यपि यह कार्य आर्यसमाज के सामान्य कार्यक्रम का एक अंश-मात्र है। इस कार्य का सबसे अधिक आनन्ददायी पहलू तो यही है कि कुछ स्थानों पर पौराणिक वर्ग के लोग भी दलितों के प्रति अपने कर्तव्य के प्रति जागरूक बन गए हैं तथा आर्यसमाज से पूर्ण सहानुभूति रखने लगे हैं। पंजाब हिन्दू सम्मेलन के विगत अधिवेशन में एक पौराणिक साधु के सुझाव पर एक सर्वसम्मत प्रस्ताव स्वीकार कर दलित वर्ग के लोगों को भविष्य में इस सम्मेलन में अपने प्रतिनिधि भेजने के लिए कहा गया। लाहौर तथा अन्यत्र भी हम देखते हैं कि उच्च वर्णस्थ हिन्दुओं को अपने बच्चों को उन स्कूलों में भेजने में कोई संकोच नहीं होता, जिन्हें हम प्रमुखतः दलित जातियों के लिए चला रहे हैं। सभी बच्चे एक-दूसरे से सभी प्रकार का मेलजोल रखते हैं। हिन्दू पौराणिकता के गढ़ संयुक्त प्रान्त में कार्य और भी कठिन है, परन्तु गत वर्ष मैंने पौराणिक दुर्ग में एक बड़ा छिद्र कर दिया जब मेरे द्वारा अनेक डोमों (उत्तर प्रदेश की सर्वाधिक दलित जाति) को आर्यसमाज में प्रविष्ट कराया गया।

aryasamajjamnagar.org

कट्टरपंथियों की चुनौती

मैं पर्वतीय प्रदेशों के भीतरी भागों में उनके घरों में गया, उच्च वर्ण वाले आर्यसमाजियों के साथ उनके द्वारा बनाए गए भोजन को ग्रहण किया तथा उनके हाथों से लाए गए पानी को पिया। गत वर्ष मैं हिन्दू पौराणिकता के केन्द्रस्थल बनारस गया तथा इस विषय पर आयोजित एक बड़ी सभा में भाषण

करते हुए मैंने वहाँ पण्डितों को चैलेंज देते हुए कहा कि वे मुझे तथा मेरे साथ के कार्यकर्ताओं को समाज से बहिष्कृत करने की हिम्मत दिखाएँ। यही चुनौती मैंने बरेली तथा मुरादाबाद में भी दी। इन जिलों में आर्यसमाजियों द्वारा चमारों के बच्चों के लिए स्कूल चलाए जा रहे हैं। संयुक्त प्रान्त में अकेली इस जाति की संख्या ६० लाख है। उत्तर प्रदेश में अछूतों की संख्या लगभग एक करोड़ है जो सम्पूर्ण हिन्दू-जनसंख्या का चतुर्थ भाग है तथा उनके उत्थान की समस्या विशाल है।''

इन उद्धरणों से हमें यह ज्ञात हो जाता है कि समाज-सुधार के कार्य में आर्यसमाज का कितना योगदान है। यह इनका शानदार काम है कि कोई अकेला भारतीय संगठन इस पर गर्व कर सकता है। परन्तु हमारा यह मानना है कि इस क्षेत्र में अभी तक बहुत कम कार्य हुआ है। हम तो अभी इस क्षेत्र की सीमा पर ही खड़े हैं जिस पर हमें विजय प्राप्त करनी है तथा विजय-प्राप्ति के पूर्व हमें अनेक लड़ाइयाँ लड़नी हैं। संस्था के रूप में आर्यसमाज इस कार्य की विशालता तथा गुरुता से भली-भाँति परिचित है। उसकी भावनाओं को कवि के निम्न शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है-

aryasamajkanpur.org

यह सम्भव है कि जलप्रवाह हमें बहा कर ले जाए।
यह भी सम्भव है कि हम किनारों को स्पर्श कर लें।
.....परन्तु अन्त से पूर्व,
कोई महत्त्व का कार्य तो पूरा करना ही है।

(टेनिसनकृत 'यूलिसिस' में) ❑

अध्याय १०

आर्यसमाज के लोकहितकारी कार्य

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः॥

—ऋ० १०/११७/५

१. लोकहित के कार्य

अपने धार्मिक तथा शैक्षिक कार्य के अतिरिक्त आर्यसमाज बहुत बड़े स्तर पर लोकोपकारी कार्यों में भी लगा हुआ है। ईसाई क्षेत्रों के अतिरिक्त आर्यसमाज ही एकमात्र ऐसा भारतीय संगठन था, जिसने अनाथालय तथा विधवाश्रमों की स्थापना की। आर्यसमाज के संस्थापक के जीवनकाल में ही पंजाब के फिरोज़पुर नगर में प्रथम हिन्दू अनाथालय की स्थापना हुई। आज भी यह भारत के प्रमुख हिन्दू अनाथालय के रूप में प्रतिष्ठित है जिसके पास ऐसे शानदार भवन हैं जिन्हें व्यक्तिगत दान से निर्मित किया गया है। इसी अनाथालय में स्कूल तथा कारखाने भी हैं जहाँ लड़कों और लड़कियों को विभिन्न प्रकार का शिक्षण दिया जाता है। उत्तर भारत में इसी प्रणाली पर अन्य अनेक अनाथालयों का संचालन हो रहा है जो पूर्णतया आर्यसमाजों द्वारा ही नियंत्रित हैं। इनके अतिरिक्त समस्त भारत में अनेक हिन्दू संस्थान तथा अनाथालय विद्यमान हैं जो आर्यसमाज से प्रभावित हैं, जिनकी स्थापना तथा कार्य-नैपुण्यता के पीछे आर्यसमाजियों का श्रम तथा शक्ति लगी है।

aryasamajjamnagar.org

२. १८७७-८८ तथा १८९९-१९०० की अवधि में अकाल-राहत-कार्य

भारत प्रायः अकालों की भूमि कहा जाता है। १८७७ तथा १९१० के बीच लगभग १० बार सूखा पड़ा जिनमें पाँच सूखों का प्रकोप अत्यन्त गम्भीर तथा व्यापक था। भारत में प्रायः सूखे पड़ने का कारण वर्षा का न होना ही होता है, परन्तु वस्तुतः अकाल का एक अन्य कारण यह भी है कि भारतीय कृषक तथा मजदूर वर्ग चढ़े हुए मूल्यों पर भोजन की वस्तुएँ क्रय करने में असमर्थ हैं। सामान्य वर्षों में भारत खाद्यान्नों का इतनी मात्रा में उत्पादन करता है कि यदि

उनका निर्यात न किया जाय तो इनके द्वारा भारत की जनसंख्या को दो वर्षों तक खिलाया जा सकता है। परन्तु (अविभाजित) भारत में प्रतिवर्ष बहुत बड़ी मात्रा में अन्न का निर्यात होता था, सामान्य वर्षों में ही नहीं, अपितु अकाल के वर्षों में भी। १८९९-१९०० के वर्ष में जब कि भारत इस शताब्दी के भयंकरतम सूखे का शिकार बना हुआ था, लाखों टन गेहूँ विदेशों को भेजा गया। १८७७-७८ में जबकि ५२२०००० व्यक्ति भूख से मर गए थे, १६००००० क्वार्टर चावल अकेले कलकत्ता बन्दरगाह से बाहर भेजा गया था। हमारे देश की जनता का बहुसंख्यक भाग घोर दरिद्रता में जीवन-यापन करता है। एक वर्ष में ही सामयिक वर्षा का न होना कीमतों में असाधारण वृद्धि का कारण बन जाता है तथा हज़ारों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। भारत में दुष्कालों का प्रमुख कारण इस देश के लोगों की सामान्य दरिद्रता है तथा यही प्रायः सूखा पड़ने पर उत्पन्न होने वाली स्थिति के मूल में है।

आर्यसमाज ही प्रथम गैर-ईसाई तथा गैर-सरकारी संस्थान था, जिसने अकाल से उत्पन्न विपत्ति से त्राण हेतु गैर-शासकीय आन्दोलन प्रारम्भ किया। aryasamajjammagar.org इस सहायता-कार्य के प्रथम संगठनकर्ताओं में इस पुस्तक का लेखक भी था। आर्यसमाज द्वारा जो प्रथम दो अकाल-सहायता-कार्य संचालित किये गए, उनमें प्रमुख कार्य अनाथों की सहायता का था, जिसे 'हिन्दू अनाथ सहायता आन्दोलन' कहा गया। यह कार्य फरवरी १८९७ में प्रारम्भ किया गया और इसका प्रयोजन १८९६-९७ के अकाल से पीड़ित एवं त्रस्त हिन्दू बालकों की सहायता करना था। आर्यसमाज के तत्त्वावधान में सहायता हेतु जो अपीलें जारी की गईं, उन पर हिन्दू जाति ने सामान्यतया तथा आर्यसमाज के सदस्यों तथा शुभचिन्तकों द्वारा विशेषतया अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त की गई। इस आन्दोलन द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के द्वारा लगभग २६० हिन्दू बालकों को बचाया गया तथा उन्हें पंजाब में भेजा गया, जहाँ उन्हें रखने के लिए फिरोज़पुर से भिन्न अन्य चार अनाथालयों की स्थापना की गई।

१८९९ में वर्षा न होने के कारण अन्य दुष्काल की स्थिति उत्पन्न हुई। यह अकाल अपने पूर्ववर्ती सूखे से अधिक भयानक तथा त्रासदायक था। फिर

१८९७ के सूखे के प्रभावों से अविचलित रह जाने का उनके पास कोई उपाय भी नहीं था। अक्टूबर १८९९ से ही अकाल की वेदना तीव्रता से राजपूताना, मध्यभारत, बम्बई, काठियावाड़ तथा पंजाब के कई भागों में अनुभव की जाने लगी। अत: 'अनाथ सहायता आन्दोलन' को पुनरुज्जीवित करने का निश्चय किया गया ताकि अधिक से अधिक बच्चों को बचाने तथा उन्हें सहायता पहुँचाने का कार्य अत्यन्त वेग के साथ किया जा सके। आर्यसमाज लाहौर ने प्रस्ताव को क्रियान्वित करने में स्वल्प समय भी नष्ट नहीं किया और अपने एक सबसे कम आयु वाले युवक (दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज का एक वरिष्ठ विद्यार्थी तथा स्थानीय युवक आर्यसमाज का सचिव) सदस्य को यह कहकर राजपूताना भेजा कि वह वहाँ जाकर पता लगाए कि किस प्रकार तथा किस सीमा तक अकालपीड़ितों की सहायता की जा सकती है। उसे यह भी ज्ञात करना था कि इस कार्य में अकालग्रस्त क्षेत्रों के निवासियों को स्थानीय सहायता किस सीमा तक उपलब्ध हो सकती है? इस लक्ष्य को लेकर लाला दीवानचन्द जोधपुर गए तथा 'अकाल सहायता शिविरों' का निरीक्षण करने के लिए मार्ग में किशनगढ़, अजमेर, ब्यावर, पाली आदि अनेक स्थानों पर ठहरे। उन्होंने लगभग एक मास राजपूताना में व्यतीत किया तथा लौटकर जिस प्रकार अपने अनुभवों का यथार्थ एवं मार्मिक चित्रण किया, उससे अनेक लोगों के नेत्रों में आँसू आ गए। इस विवरण ने सम्पूर्ण लाहौर को हिला दिया, जिसके फलस्वरूप राजपूताना के अभागे गृहहीन लोगों तथा अनाथ बालकों की सामयिक सहायता करने के लिए प्रबल प्रयत्न किये जाने का निश्चय किया गया।

aryasamajjamnagar.org

अनेक देशी राज्यों में आर्यसमाजी कार्यकर्ता उच्च अधिकारियों से मिले तथा इन क्षेत्रों के अनाथों एवं अन्य निराश्रित बालकों के प्रति उनके कर्तव्य का ज्ञान कराया। उन्हें यह बताया कि उनके रजवाड़ों के इन बालकों का उनके ही राज्य की धरती पर रहना क्यों आवश्यक है। उन्हें यह भी समझाया गया कि इस विपत्ति के समय में इन बालकों को बचाना आवश्यक है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो ये बच्चे भूख से मर जाएँगे तथा बचे हुओं को विधर्मी बनाने के लिए दूरस्थ अंचलों में ले-जाया जाएगा।

राजपूताने में ईसाई मिश्नरी अकाल के विरुद्ध शानदार लड़ाई लड़ रहे थे। हमारे लिए यह उचित नहीं था कि हम उनके विरोध में कोई आन्दोलन खड़ा करते। इन अनाथ बालकों में कुछ सैकड़ों को ही बचाने के लिए यह आवश्यक था कि हम उन्हें पंजाब भेज देते जहाँ उन्हें अकाल के समाप्त होने तक पर्याप्त भोजन एवं वस्त्र दिये जाने की पूरी सम्भावना थी। परन्तु उस समय पंजाब स्वयं भी सहायता की अपेक्षा कर रहा था, क्योंकि उसके अनेक भाग भयंकर सूखे की चपेट में थे। सरकार के प्रयत्नों के बावजूद, कुछ लोग ऐसे थे जिन्हें भुखमरी अथवा धर्मांतरण से बचाने हेतु बाहरी सहायता की आवश्यकता थी।

हिसार आर्यसमाज तथा भिवानी के हिन्दू अनाथालय द्वारा महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य किया गया। लाला चन्दूलाल प्रधान तथा लाला चूड़ामणि मंत्री के नेतृत्व में सैकड़ों बच्चों को बचा लिया गया तथा भूख एवं विपत्ति से शानदार लोहा लिया गया। राजपूत बच्चों की सहायता के लिए इस सहायता-समिति ने अजमेर मेरवाड़ा के आयुक्त (जो एजेन्ट टु दि गवर्नर-जनरल, राजपूताना भी थे) तथा ब्यावर के उपायुक्त को प्रार्थनापत्र तथा स्मरणपत्र दिये गए, परन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकला। आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने 'अकाल सहायता शिविरों' के स्थानीय अधिकारियों से मिलकर प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किये, परन्तु उनको असफलता ही मिली, हालाँकि यह मानने के कारण थे कि हिन्दू बालकों में से अधिकांश को समय-समय पर ईसाई प्रचारकों को सौंप दिया जाता है ताकि भारत के दूरस्थ स्थानों पर भेजकर उन्हें ईसाई धर्म में दीक्षित किया जा सके। बम्बई प्रान्त में ये कार्यकर्ता सूरत तथा बड़ौदा गए तथा उन्होंने वहाँ जाकर अपनी जाति के उन अवयस्क बच्चों के प्रति हिन्दू जनता की कर्तव्य-भावना को जागृत करने का प्रयास किया जो आज इस भीषण विपत्ति के समय उनकी सहायता एवं सहानुभूति के इच्छुक हैं। इन यात्राओं तथा आर्यसमाज की इस भावना तथा तत्परता से कि उसको जितने बच्चों की साज-संभाल का काम सौंपा जाय, वह करने के लिए तैयार है, इच्छित प्रभाव दिखलाया। सरकारी सहायता-शिविरों से बालकों को न ले सकने की हमारी असफलता को विस्तार से बताना आवश्यक नहीं है। इसका प्रमुख कारण तो

सर्वत्र मिश्नरियों का हमसे अधिक शक्तिशाली होना था।

इसी प्रकार हमने काठियावाड़, मध्यप्रदेश तथा बम्बई के कुछ भागों में सफल आन्दोलन चलाया तथा लगभग १७०० बच्चों को बचा सकने में सफल हुए। इनकी सुरक्षा तथा शिक्षण के लिए हमने पंजाब में अनेक नए अनाथालय स्थापित किये जिनमें से कुछ अस्थायी निवास थे। इस कार्य में बिना किसी जाति या सम्प्रदाय का भेद किये, हिन्दू समाज के सभी वर्गों ने हमारी सहायता की तथा यह आन्दोलन एकाधिक रूप में वरदान सिद्ध हुआ। इसने हिन्दुओं के सभी वर्गों में एकता की भावना का प्रचार किया। इससे पठित वर्ग के लोग आम जनता के सम्पर्क में आए जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था। फलतः दोनों वर्गों के बीच सहानुभूति का भाव उत्पन्न हुआ। इससे समाज के समक्ष अनेक ऐसी समस्याएँ भी आईं जिनका समाधान आवश्यक था। समान क्षेत्र में शक्तिशाली ईसाई मिश्नरियों के संगठनों से प्रतिद्वन्द्विता का स्वस्थ भाव पनपा। समाज सेवा के अछूते क्षेत्रों में हिन्दू युवकों को प्रशिक्षित किये जाने का अवसर उपलब्ध हुआ। अन्ततः उस सेवा-कार्य ने सस्ती तथा समय की बचत करने वाली मशीनों की सहायता से ग्रामोद्योगों को पुनरुज्जीवित करने के अनेक प्रयोग करने की प्रेरणा भी दी जो सामान्य साधनों से स्थापित किये जा सकते हैं, तथा जिनसे इन अनाथों को आजीविका का साधन उपलब्ध कराया जा सकता है। १८९७-९८ तथा १८९९-१९०० की अवधि में बचाई गई सभी बालिकाओं का उचित प्रकार से, प्रायः उनकी जाति से ऊँची जाति के पुरुषों से विवाह करा दिया गया।

अन्ततः आर्यसमाज का यह सहायता-आन्दोलन सरकार के द्वारा अधिकृत स्वीकृति प्राप्त कर सका। कुछ बच्चों को उन विभिन्न अनाथालयों में भेजा गया जो आर्यसमाज द्वारा स्थापित किये गए थे तथा इन संस्थाओं को स्वल्प आर्थिक सहायता 'अराजकीय अकाल सहायता कोष' की अप्रयुक्त राशि से दी गई।

अकाल-राहत-कार्यों में लगे हुए नवयुवक कार्यकर्ताओं ने इस उच्च आदर्श के लिए अपने प्राणों को भी खतरे में डाल दिया था, क्योंकि राजपूताना तथा मध्य प्रदेश में अनाथ बालकों की तलाश में यत्र-तत्र भ्रमण करना आसान

कार्य नहीं था। इन प्रदेशों में न केवल भोजन एवं जल का सर्वत्र अभाव था, अपितु हैज़ा, बुख़ार आदि महामारियों का भी प्रकोप था। उनकी कठिनाइयाँ तब और बढ़ गईं जब वे अपनी वैयक्तिक सुविधाओं के लिए किये गए व्यय को न्यूनतम राशि तक ले आए। ऐसा इसलिये आवश्यक था और वे जानते थे कि उनको यहाँ भेजनेवालों तथा स्वयं उनके पास धन की इतनी कमी है कि मितव्ययता कठोर आवश्यकता ही बन गई है। तथापि अपने समाज के दुध-मुँहे बच्चों को भयंकर विपत्ति के समय में बचाने के उत्साह में मग्न, कार्य हेतु समर्पित स्वयंसेवकों की कमी कभी नहीं हुई जो इन कठिनाइयों को सहन करने के लिए सदा तत्पर रहे। इन कार्यकर्ताओं में से कइयों ने इस सार्वजनिक कोष के एक पैसे का भी उपयोग स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नहीं किया। इस प्रकार मानवता के हित के लिए आत्म-त्याग का एक अपूर्व उदाहरण प्रस्तुत किया गया जिसका अनुकरण आनेवाली पीढ़ी के द्वारा किया जा सकेगा। मानवीय सेवा-कार्य की एक ऐसी परम्परा स्थापित की गई जो भविष्य में भी मार्गदर्शन करती रहेगी। हिन्दू जनजागरण के सूर्योदय में सेवा-कार्य का यह अभिलेख एक ज्योतिष्मती किरण के तुल्य है जिसका हम सब आशा और प्रसन्नता के साथ स्वागत करते हैं।

aryasamajmajanmagar.org

३. १९०८ में अकाल-सहायता

१९०८ में सहायता-कार्य का विस्तार किया गया तथा सूखे से प्रभावित सर्वसामान्य लोगों की सहायता की गई। १९११ की संयुक्त प्रान्त की जनगणना-रिपोर्ट से यहाँ जो उद्धरण दिया जा रहा है उससे अकाल के समय किये गए व्यापक सहायता कार्य का कुछ ब्यौरा उपलब्ध होता है—

१९०७-०८ के अकाल के समय, आर्यसमाज के एक सुविख्यात नेता का एक प्रतिनिधि सहायता-वस्तुओं को बाँटता हुआ उस ग्राम के निकट आया जहाँ मेरा शिविर लगा हुआ था। उसके चले जाने के बाद सहायता-सामग्री ग्रहण करनेवाले लोगों का एक दल मेरे पास यह पूछने के लिए आया कि जब सरकार की ओर से उन्हें सहायता पहुँचाई जा रही है तो क्या उनके लिए इस अन्य प्रकार की सहायता को स्वीकार करना उचित होगा? मैंने अपनी ओर से

उन्हें वह सहायता स्वीकार करने के लिए कह दिया। तब उस ग्राम के मुखिया ने मुझसे पूछा कि इस प्रकार प्रभूत द्रव्य-सहायता देनेवाला वह व्यक्ति (आर्य नेता) कौन है?

४. समाजसेवा

आर्यसमाज का लोकोपकारी कार्य केवल अकाल-सहायता तक सीमित नहीं है। इसमें विभिन्न प्रकार की समाजसेवा के कार्य भी सम्मिलित हैं। महामारी के प्रकोप के अवसर पर यह डाक्टरी सहायता की व्यवस्था करता है, रोगियों के उपचार तथा मृतकों की अन्त्येष्टि की व्यवस्था भी करता है। १९०४ में कांगड़ा घाटी के भूकम्प के अवसर पर आर्यसमाज ने व्यापक स्तर पर भूकम्प-पीड़ितों की सहायता की व्यवस्था की तथा सरकार एवं जनता के साधुवाद का पात्र बना। इस विपत्ति के समय आर्यसमाजी ही सर्वप्रथम प्रभावित स्थान पर पहुँचे थे। अन्य संगठनों ने भी इन वर्षों में सेवा के इस उदाहरण को स्वीकार किया है तथा आज समस्त भारत में इस प्रकार की समाजसेवी संस्थाओं का जाल-सा बिछ गया है। इसमें एक प्रमुख कारण तो पूर्व का पश्चिम से सम्पर्क है तथा दूसरा कारण ईसाई प्रचारकों के साहसी प्रयासों का अनुकरण भी है। प्राचीन भारत में ऐसे स्वयंसेवी संगठनों का शायद कोई महत्त्व नहीं था, क्योंकि उस समय का सामाजिक जीवन भिन्न प्रकार से संगठित था, किन्तु आधुनिक भारत का काम इन संगठनों के बिना चल नहीं सकता तथा इनसे आवश्यकताओं की उचित पूर्ति भी हुई है। कम से कम उत्तर भारत में तो इस प्रकार के सामाजिक सेवाकार्य को संगठित एवं व्यापक रूप में प्रारम्भ करने में आर्यसमाज ने ही पहल की है। ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय ११

आर्यसमाज का शिक्षा-कार्य

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत॥
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

—अथर्ववेद ११/५/१९

तप और ब्रह्मचर्य से देवों ने मृत्यु पर विजय प्राप्त की तथा मुक्ति-लाभ किया। ब्रह्मचर्य से ही उन्होंने ईश्वर से स्वर्गिक ज्योति प्राप्त की।

आर्यसमाज का आठवाँ नियम प्रत्येक आर्य को विद्या की वृद्धि तथा अविद्या के नाश की प्रेरणा देता है। अतः आर्यसमाज एक संस्था के रूप में तथा उसके सदस्य व्यक्तिगत तौर पर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शैक्षिक कार्यों में संलग्न हैं। पंजाब तथा उत्तरप्रदेश में, विस्तार तथा घनत्व की दृष्टि से आर्यसमाज का शिक्षा-कार्य सरकार के बाद द्वितीय स्थान पर आता है। ईसाई प्रचार-संस्थाएँ विभिन्न श्रेणियों के विद्यालयों का संचालन करती हैं, किन्तु उनमें से कोई एक संस्था यह दावा नहीं कर सकती कि उसके पास आर्यसमाज की तुलना में लड़कों और लड़कियों के विद्यालय अधिक हैं। आर्यसमाज के द्वारा संचालित छात्रों के महाविद्यालय दो श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—वे कॉलेज, जो राजकीय विश्वविद्यालयों से सम्बन्धित हैं तथा दूसरे वे जो शासकीय नियंत्रण से मुक्त हैं।

aryasamajjamnagar.org

१. लाहौर-स्थित दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज

इस संस्था के शैक्षिक उद्देश्यों को उसके आधिकारिक विवरणों से जाना जा सकता है। इनमें से एक वह मूल्यवान् दस्तावेज़ है जिससे इस महत्त्वपूर्ण संस्था की स्थापना का विवरण उसके संस्थापकों के शब्दों से ही जाना जा सकता है। हम इसी अभिलेख के दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। १८८५ में संस्था के स्थापित होने से पूर्व योजना का एक प्रारूप जनसाधारण के विचारार्थ प्रचारित किया गया था। इसकी भूमिका में अग्रांकित बातें कही गई हैं—

सभी विचारशील पुरुष इस बात से सहमत होंगे कि शिक्षा के सर्वोच्च लाभों को प्राप्त करने के लिए उसे राष्ट्रीय तथा चरित्रोन्मुखी बनाना आवश्यक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि, मोटे तौर पर, शिक्षा का प्राथमिक उद्देश्य मानसिक शक्तियों को विकसित करना, उन्हें पुष्ट करना तथा उचित एवं स्वस्थ अभ्यास के द्वारा उन्हें व्यवहार में लाना है। यह तो प्रायः अव्यावहारिक प्रतीत होता है कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति सर्वांगीण रूप से शिक्षा प्राप्त कर सके , अतः यह आवश्यक है कि जो लोग राष्ट्रीय व्यय से शिक्षा प्राप्त करते हैं, उन्हें इस प्रकार से शिक्षित किया जाना चाहिए, जिससे वे समाज के अत्यन्त अपयोगी सदस्य बन सकें। वस्तुतः शिक्षा की योजना को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए जिससे वह व्यक्ति को समान राष्ट्रीय भावना से सुदृढ़ रूप में जोड़ सके।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश में अंग्रेजी साहित्य के आगमन और प्रचार ने विदेशी विचारों को तीव्रता से प्रवाहित किया है, तथा यह भी स्वीकार करना होगा कि इससे हजारों व्यक्तियों के मस्तिष्कों को नवप्रेरणा प्राप्त हुई है। इनमें से कई व्यक्ति ऐसे हैं, जिन पर हमारा देश गर्व कर सकता है। परन्तु विदेशी शिक्षा ने समाज में एक ऐसा विघटन भी उत्पन्न किया है जो वस्तुतः निन्दनीय है। इससे एक ऐसे शिक्षित वर्ग का निर्माण हुआ है, जो स्वयं अपनी प्रेरणाओं से ही संचालित होता है। यह ऐसा वर्ग है जो इस देश के अशिक्षित जन-समूह को न तो वस्तुनिष्ठ रीति से प्रभावित कर सकता है और न उससे प्रभावित होता है। ऐसा वर्ग किसी भी अन्य देश में, यहाँ तक कि भूमण्डल पर भी कठिनाई से मिलेया। यह निराशाजनक परिणाम, एक विदेशी संस्था द्वारा संचालित एकांगी शिक्षा-पद्धति की अनिवार्य परिणति है।

परन्तु यह त्रुटि ऐसी नहीं है जिसका उपाय न तलाशा जा सके। अभी भी स्थिति को सुधारने का पर्याप्त समय है। हमारे लिए इतना ही जानना आवश्यक है कि हम अपने अवसरों को कैसे ठीक प्रयोग में लाएँ। सर्वत्र राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान की जाने की आवश्यकता अनुभव की जा रही है तथा राष्ट्रीय साहित्य के अध्ययन की माँग सतत बढ़ रही है। यह स्थिति हमें समस्या का समाधान तलाशने का भी संकेत देती है, जिसके आधार पर हम राष्ट्रभाषा तथा उसके साहित्य का व्यवस्थित अध्ययन करें तथा राष्ट्रीय भावना एवं चरित्र के अनुकूल

अपने युवकों के मनों में स्वभाव एवं प्रवृत्तियों का विकास करें। इसके अतिरिक्त इस देश में सम्प्रति कोई ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे आर्थिक और भौतिक प्रगति के लिए आवश्यक तकनीकी तथा प्रायोगिक शिक्षा दी जा सके।

इन्हीं महत्त्वपूर्ण विचारों से प्रभावित एवं प्रेरित होकर हम एक ऐसे शिक्षण-संस्थान की स्थापना का प्रस्ताव करते हैं जो प्रचलित शिक्षा-व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करेगा, किन्तु विशिष्टताओं को अपने भीतर समाविष्ट करेगा। अतः इस योजना का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रभाषा तथा अन्य स्वदेशी भाषाओं के अध्ययन को प्रोत्साहित कर पठित एवं अपठित जनसमुदाय को जोड़ना, संस्कृत के प्राचीन साहित्य के अध्ययन पर बल देकर नैतिक तथा आध्यात्मिक सत्यों का ज्ञान कराना, व्यवस्थित जीवनपद्धति को क्रियान्वित कर सुदृढ़ एवं शक्तिशाली प्रवृत्तियों का निर्माण करना, अंग्रेजी साहित्य से गम्भीर परिचय प्राप्त कराना तथा भौतिक एवं प्रायोगिक विज्ञानों के ज्ञान को प्रसारित कर देश की भौतिक उन्नति को प्रोत्साहित करना होगा।[१]

किसी राष्ट्र की शिक्षण-संस्थाएँ ही उस देश की बौद्धिक उन्नति की परिचायक तथा प्रतीक होती हैं। वे किसी देश की सभ्यता के मार्ग पर बने विभिन्न विश्राम-स्थलों की प्रतीक होती हैं। ये शिक्षण-संस्थाएँ किसी आकस्मिक घटना का परिणाम नहीं होतीं, किन्तु ये उन प्रबुद्ध कारणों के सुनिश्चित परिणाम होती हैं जो राष्ट्रों की नियति का सतत निर्धारण करती हैं। स्वामी दयानन्द ने कुछ ही वर्षों में हिन्दू समाज के बौद्धिक तथा सामाजिक चिन्तन में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। शायद ही कोई ऐसी चिन्तन-पद्धति और सामाजिक प्रणाली रही होगी, जो उनके प्रचार तथा लेखन से प्रभावित न हुई हो।

उनमें एक ऐसी शक्ति थी, जिसने हिन्दुओं के जीवन को अग्रगामी बनाया है तथा उनमें कुछ ऐसी प्रवृत्तियों का संचार किया है जो समय पाकर अनेक ऐसे संस्थानों तथा आन्दोलनों को जन्म देंगी, और ये आन्दोलन तथा संस्थाएँ आगे चलकर बढ़ते रहेंगे तथा आनेवाली शताब्दियों तक राष्ट्र के भविष्य का निर्धारण करेंगे। इन प्रवृत्तियों में से एक प्रमुख प्रवृत्ति लोगों के

---

१. यह स्मरणीय है कि ये बातें १८८५ में लिखी गई थीं।

दिमाग में शास्त्रीय संस्कृत साहित्य के कोशों का अन्वेषण करने की तीव्र इच्छा उत्पन्न करना भी है। भारत की इस विस्मृत किन्तु मूल्यवान् थाती की ओर जन-सामान्य का ध्यान आकृष्ट करने के लिए दयानन्द सरस्वती के तुल्य मानसिक शक्तियों तथा योग्यताओं वाले व्यक्ति की शक्ति एवं प्रेरणा की आवश्यकता है। इस जागरण से उत्पन्न प्रभाव अत्यन्त प्रचण्ड था। आर्यसमाज के तत्त्वावधान में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए यत्र-तत्र संस्कृत-शिक्षण हेतु कक्षाएँ प्रारम्भ कर कुछ प्रयत्न अवश्य किये गए, परन्तु स्पष्ट ही ऐसे प्रयत्न अपर्याप्त तो थे ही, बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति में अक्षम भी थे।

नवजागरण का यह आन्दोलन जनमानस में व्यापक आधार बना रहा था, परन्तु इससे पहले कि पर्याप्त व्यापक स्तर पर उसे प्रसारित करने हेतु व्यावहारिक कदम उठाए जाते, आर्यसमाज के संस्थापक का आकस्मिक देहान्त हो गया। १८८३ में उनकी मृत्यु ने गहरी निराशा उत्पन्न की। परन्तु निराशा का वह अन्तराल अस्थायी था। सुदृढ़ कर्तव्य-भावना ने निराशा की बदली को हटा दिया और स्वामीजी की मृत्यु ने आन्दोलन को निरुत्साहित करने की अपेक्षा उसमें दुगुनी शक्ति उत्पन्न कर दी। आर्यसमाज-आन्दोलन के साथ समाज के उस महान् हित-साधक पुरुष का कोई स्थायी स्मारक बनाने की भावना, उसके प्रति जनता की कृतज्ञता ज्ञापित करने की इच्छा के कारण जुड़ गई। पुरातन-संस्कृत साहित्य तथा वेदों के अध्ययन हेतु इस आन्दोलन को व्यावहारिक रूप देने की आवश्यकता को अब अधिक समय तक स्थगित रखना कठिन हो गया। परिणाम यह हुआ कि स्वामीजी के निधन के तुरन्त बाद उनकी स्मृति में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज स्थापित करने का प्रस्ताव एक साथ फिरोज़पुर, मुलतान तथा लाहौर में प्रस्तुत किया गया। लाहौर आर्यसमाज द्वारा ९ नवम्बर १८८३ को बुलाई गई सभा में यह प्रस्ताव सार्वजनिक रूप में उपस्थित किया गया—"इस अवसर पर स्वामीजी के निधन से उत्पन्न शोक की भावना कृतज्ञता के रूप में बदल गई तथा ऐसा ज्ञात हुआ कि प्रत्येक व्यक्ति की धमनी तथा हृदय में उत्साह का भाव लहरें मार रहा है। इस जनसमूह का एक ही उद्देश्य था कि दिवंगत स्वामीजी के महान् जीवन को अमर बना दिया जाय, अतः उनकी स्मृति में दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज स्थापित करने का प्रस्ताव

aryasamajjamnagar.org

सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ। यद्यपि इस सभा में अधिकांश उपस्थित व्यक्ति मध्यम वर्ग के थे, किन्तु उसी समय ७०००-८००० के बीच धन एकत्रित कर लिया गया। स्त्रियाँ और बच्चे, यहाँ तक कि दरिद्र व्यक्तियों ने भी उत्साहपूर्वक अपना अंश प्रदान किया।'' इस प्रकार शिक्षा का यह आन्दोलन, जो लाहौर में अत्यन्त प्रसन्नतापूर्ण एवं उत्साह के वातावरण में प्रारम्भ किया गया था, सम्पूर्ण प्रान्त में शीघ्र फैल गया तथा अन्य समाजों द्वारा भी इसी प्रकार के प्रस्ताव तुरन्त स्वीकार किये गए।

दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज के उद्देश्य, जो उसके पंजीकृत अभिलेख में प्रस्तुत किये हैं, इस प्रकार हैं—

१. इस संस्था का उद्देश्य पंजाब में ऐंग्लो वैदिक संस्थान की स्थापना करने का है, जिसके अन्तर्गत एक स्कूल, एक कॉलेज तथा एक छात्रावास स्वामी दयानन्द सरस्वती के स्मारक के रूप में निम्न लक्ष्य की सम्मिलित पूर्ति की दृष्टि से संचालित किये जाएँगे—

(अ) हिन्दी-साहित्य के अध्ययन को प्रोत्साहित करना तथा उसे उन्नत बनाना।

aryasamajjammagat.org

(आ) शास्त्रीय संस्कृत तथा वेदों के अध्ययन को जारी रखना तथा प्रोत्साहित करना।

(इ) अंग्रेजी साहित्य तथा विभिन्न विज्ञानों के अध्ययन को सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक दृष्टि से उत्साहित करना।

२. दयानन्द ऐंग्लो वैदिक संस्थान के अन्तर्गत छात्रों को तकनीकी शिक्षा हेतु साधन उपलब्ध कराना, परन्तु यह कार्य प्रथम उद्देश्य की पूर्ति में बाधक नहीं होना चाहिए।

यह प्रयोग इस प्रान्त में पूर्णतया नवीन था। प्रारम्भ में निराशा के कुछ कारण भी बने। कुछ लोगों की धारणा थी कि अन्य स्वदेशी प्रयत्नों की भाँति यह योजना भी अव्यावहारिक है तथा असफलता में परिणत होगी। परन्तु इस योजना का प्रारम्भ एक ऐसे व्यक्ति की स्मृति के रूप में किया गया था जिसका नाम और काम कभी मरनेवाला नहीं था, अतः उस महापुरुष से इस संस्था के

सम्बन्ध तथा इस शैक्षिक आन्दोलन के राष्ट्रीय रूप ने ही उसे नाज़ुक क्षणों में असफल होने से बचाया तथा इसके संचालकों को अनेक विपत्तियों से बच निकलने का साहस प्रदान किया।

ये प्रयत्न और त्याग किसी भी परिणाम पर न पहुँच पाते, यदि एक युवक ने इस संस्था के लिए बिना कोई वेतन लिए सेवा करने की घोषणा न की होती। यह युवक था लाला हंसराज, जिसने विश्वविद्यालय में प्रतिभाशाली विद्यार्थी के रूप में नाम कमाया था। अब उसके समक्ष उतना ही उज्ज्वल भविष्य भी था। धर्म तथा मातृभूमि के प्रति कर्तव्य-पालन का आह्वान इतना प्रबल था कि उस युवक के लिए इसकी उपेक्षा करना कठिन था, अतः उसने एक अध्यापक के रूप में इस संस्था को निःशुल्क सेवाएँ प्रस्तुत कीं। उसके बड़े भाई ने अपने स्वल्प ८० रु० के मासिक वेतन में ही उसके परिवार का पोषण करने का दायित्व भी अपने ऊपर ले लिया। प्रथम दो वर्षों तक यह युवक डी०ए०वी० स्कूल का अवैतनिक मुख्याध्यापक रहा और बाद में २४ वर्षों तक अवैतनिक रूप से उसने प्राचार्य का कार्य किया।

aryasamajjamnagar.org

इस अपूर्व त्याग से संस्था के प्रायोजकों के लिए १८८६ में डी०ए०वी० कॉलेज का प्रथम विद्यालय-विभाग स्थापित करना सम्भव हो सका। लाला हंसराज इस संस्थान का निर्देशक नक्षत्र तथा प्रमुख आश्रय बना। कॉलेज के हित के लिए उसने अपने को अत्यन्त मितव्ययी बनाया है। आधुनिक पंजाब के इतिहास में उसका व्यक्तित्व अद्वितीय है। यदि किसी अन्य व्यक्ति से उसकी तुलना की जा सकती है, तो वह है गुरुकुल कांगड़ी का संस्थापक लाला मुन्शीराम। इन दो व्यक्तियों के बिना आर्यसमाज के बारे में सोचना भी सम्भव नहीं है। स्वामी दयानन्द (समाज के संस्थापक) के नाम के बाद उनके ही नाम स्मरण किये जाते हैं। उसी प्रकार लाला हंसराज के बिना दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज के बारे में भी सोचना उतना ही असम्भव है। कुछ अन्य नाम भी स्मरणीय हैं, जिन्होंने अपनी लगन तथा सेवा से कॉलेज को उन्नत बनाया। इनमें से एक हैं पंजाब चीफ कोर्ट के किसी समय न्यायाधीश का कार्य करनेवाले रायबहादुर लाला लालचन्द। परन्तु कॉलेज के संस्थापकों में लाला हंसराज़ ही अकेले ऐसे व्यक्ति हैं जिनका नाम अत्यन्त आदर तथा गर्व के साथ ऐसे लोगों

में लिया जाएगा जो कॉलेज से प्यार करते थे तथा जिनका नाम तथा काम कॉलेज के उत्थान अथवा पतन के साथ जुड़ा हुआ था। जहाँ अन्य लोगों के जीवन के विविध पहलुओं में व्यवसायगत, सामाजिक, राजनीतिक अथवा वाणिज्य-व्यापार-सम्बन्धी दिलचस्पियाँ थीं, इस व्यक्ति की रुचि केवल डी०ए०वी० कॉलेज तथा आर्यसमाज की सेवा में थी। ऐसे अन्य व्यक्ति भी सम्भवत: होंगे जिन्होंने इस संस्था के लिए अपने जीवन का बेहतरीन समय दिया, परन्तु यही व्यक्ति ऐसा है जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन कॉलेज के लिए दे दिया। अपने कार्यकाल में उसे सब प्रकार के दुर्भाग्य, विरोध तथा आलोचना को सहना पड़ा। उसे अन्यथा समझा गया, अन्यथा रूप में उसकी धारणाओं को प्रस्तुत किया गया तथा उसकी निंदा भी की गई। यदा-कदा उसके श्रेष्ठ मित्रों ने भी उससे मतभेद व्यक्त किया, परन्तु अत्यधिक सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए, नितान्त आडम्बरहीन दरिद्रता की ज़िन्दगी बिताते हुए, बिना किसी दिखावे के त्याग को स्वीकार करते हुए तथा एकांगी भाव से संस्था के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए उस व्यक्ति ने दृढ़ता का प्रदर्शन किया। ऐसा था उसका जीवन, व्यक्तिगत रूप में नितान्त अनवद्य तथा जनसेवा की दृष्टि से अद्वितीय।

aryasamajjamnagar.org

इस प्रकार १८८६ में जिस दुर्बल बीज का वपन किया गया, जिसके बोने वाले लोग तो और भी कमजोर थे, समय पाकर वही दुर्बल बीज एक विशाल वृक्ष के रूप में खड़ा हो गया। १९१४ में यह कॉलेज उत्तर भारत का सबसे बड़ा महाविद्यालय था तथा छात्रों की संख्या की दृष्टि से इसे सम्भवत: समस्त भारत में द्वितीय कॉलेज कहा जा सकता था। यहाँ लेखक द्वारा जून १९१४ में लंदन में इस कॉलेज के स्थापना-दिवस के उपलक्ष्य में दिये गए एक भाषण का उद्धरण दिया जा रहा है[१] जो इस संस्था की स्थापना के आधारभूत सिद्धान्तों तथा उसकी सफलताओं को स्पष्ट कर सकेगा—

"मैं कॉलेज के प्रमुख उद्देश्यों को पहले ही स्पष्ट कर चुका हूँ। अब मैं उन कतिपय सिद्धान्तों के विषय में कहूँगा जिनके आधार पर कॉलेज को संचालित किये जाने का प्रयत्न किया गया था। इनमें से कुछ का उल्लेख संस्था

---

१. इस शैली को अपनाना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि यह अधिक प्रभावोत्पादक है।

के संविधान में हुआ है, कुछ अन्य परोक्ष रूप से विद्यमान रहे हैं। नियमों में यह उल्लिखित कर दिया गया था कि—

प्रथम सिद्धान्त के अनुसार कॉलेज की प्रबन्ध-व्यवस्था उन आर्यसमाजों के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथों में रहेगी, जो इसके कोष में नियमित रूप से दान दिया करेंगे; इनके साथ ही विभिन्न व्यवसायों तथा वर्गों के कुछ हिन्दुओं को भी प्रबन्ध में सम्मिलित किया जाएगा। बिना किसी अपवाद के इस नियम का बराबर पालन किया गया है। कॉलेज की प्रबन्ध-व्यवस्था में किसी अहिन्दू को समाविष्ट नहीं किया गया है।''

द्वितीय सिद्धान्त, जो यद्यपि अलिखित है, तथापि सामान्यत: स्वीकृत रहा हैऔर वह यह है कि कॉलेज में अध्यापन-कार्य एकान्तत: भारतीय प्राध्यापकों द्वारा किया जाएगा—इस बिन्दु को भी निरपवाद रूप से माना गया है। कॉलेज में संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, फारसी, दर्शन (भारतीय तथा पाश्चात्य), इतिहास, राजनीति विज्ञान, तर्कशास्त्र, प्रारम्भिक प्राणिशास्त्र तथा उच्चतर गणित का अध्ययन होता है। परीक्षा-परिणाम बहुत बढ़िया रहे हैं। हमारे विद्यार्थी सामान्य सफल विद्यार्थियों तथा संस्कृत एवं गणित में विशेष योग्यता प्राप्त कर सफल होनेवाले विद्यार्थियों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करते हैं। अनेक बार उन्होंने अंग्रेजी, राजनीतिशास्त्र, इतिहास, दर्शन, रसायन, फारसी तथा अन्य विषयों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है। विश्वविद्यालय के परिणामों के आधार पर घोषित होनेवाली छात्रवृत्तियों की एक बड़ी संख्या प्रतिवर्ष हमारे विद्यार्थियों द्वारा ली जाती रही है तथा उन्हें विभिन्न पदक तथा पुरस्कार भी मिले हैं। एम०ए० कक्षा में हमारे यहाँ केवल संस्कृत का शिक्षण होता है बिना किसी विदेशी सहायता-सूत्र से। यह सब भारतीय अध्यापकों के श्रम से प्राप्त किया गया फल है।

aryasamajjamnagar.org

तृतीय सिद्धान्त (यह भी एक अलिखित नियम ही है) कॉलेज के व्यवस्थापकों पर एक नैतिक बन्धन आरोपित करता है कि वे इस संस्था के संचालन हेतु सरकार से वित्तीय सहायता ग्रहण नहीं करेंगे। इस सिद्धान्त का पूर्णतया पालन किया गया है; किन्तु विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त कुछ हजार रुपयों की एक अल्प सहायता-राशि को अपवाद माना जा सकता है।

चतुर्थ सिद्धान्त के अनुसार इस कॉलेज में नि:शुल्क शिक्षा का प्रावधान

रखा गया है। धन की कमी तथा सरकार एवं विश्वविद्यालय के नियमों ने हमें इस सिद्धात के अनुपालन में बाधा दी, तथापि हमारे द्वारा लिया जानेवाला शिक्षा-शुल्क राजकीय स्कूलों एवं कॉलेजों में लिये जानेवाले शुल्क से ५० प्रतिशत कम है।

अब एक शब्द इन सिद्धान्तों के निर्धारण की कारणभूत बातों की विवेचना में लिखना आवश्यक है—यह नहीं समझना चाहिए कि इन सिद्धान्तों के निर्धारण के पीछे ब्रिटिश सरकार अथवा किसी अन्य जाति के प्रति शत्रुता तथा प्रतिद्वन्द्विता की कोई भावना रही है। इसके पीछे मुख्य भावना यही रही है कि पूर्ण स्वदेशी प्रयत्नों से इसे संचालित किया जाना चाहिए। द्वितीय अभिप्राय यह था कि हिन्दू जाति में स्वावलम्बन तथा 'स्वयं की सहायता स्वयं करने का भाव' विकसित किया जाय, जो अवसर के अभाव तथा दीर्घकालीन अन्तराल के कारण समाप्त हो चुका है। जो भी व्यक्ति पंजाब से परिचित है, यह भलीभाँति जानता है कि हम अपने लक्ष्य में कितने सफल हुए हैं। सम्भवतः भारत के किसी अन्य प्रान्त में शिक्षा के क्षेत्र में निजी तौर पर ऐसे सफल प्रयोग, इतनी उपलब्धियों के साथ कहीं नहीं किये गए हैं, जैसा हमने पंजाब में कर दिखाया है। स्वावलम्बन की यह भावना, जिसे हमारे आलोचकों ने एक शासन-विरोधी प्रवृत्ति कहा है, हमारे लिए बड़ी महँगी साबित हुई है, क्योंकि इसी कारण सरकार का हमारे प्रति दृष्टिकोण आशंका एवं अविश्वास का रहा है। कोई भी नौकरशाही शासन यह कभी नहीं चाहेगा कि उसकी सहायता अथवा मार्गदर्शन के बिना लोग किसी बड़े कार्य को करने में सक्षम हो जाएँ। विदेशी शासन तो यह कदापि पसन्द नहीं करेगा। सरकार यही चाहती है कि सम्पूर्ण सार्वजनिक प्रवृत्तियों का नियंत्रण उसके हाथों में रहे, अथवा यह उन लोगों के हाथ में रहे जो उसके आज्ञानुवर्ती शस्त्र के रूप में प्रयुक्त किये जा सकें। हमने शिक्षण में एक भिन्न स्तर स्थापित किया था, अतः हमारी उपेक्षा तथा अवगणना की गई। तथापि समग्रतः शिक्षा-विभाग एवं विश्वविद्यालय का रवैया हमारे प्रति अनुचित नहीं रहा है। उन्होंने हमारे कार्य के लिए सामान्यतः हमारा आभार माना है, हमारी जनभावना की प्रशंसा भी की है, परन्तु उनके हमारे प्रति सम्बन्ध पूर्ण सन्तोषप्रद कभी नहीं रहे। एकाधिक बार जब हमने भवन-निर्माण तथा खेलों के मैदानों की भूमि प्राप्त करने के लिए उनकी सहायता चाही,

aryaSamajJammagar.org

उन्होंने भूमि के एक ऐसे टुकड़े को अवाप्त कर दिया है जिसे अनेक कठिनाइयों तथा देर तक चली मुकद्दमेबाजी के बाद हमने प्राप्त किया था। इसके बदले में हमारी दीवारों से संलग्न एक अन्य सरकारी भूमि के टुकड़े को भी देने से इन्कार कर दिया। परन्तु यह तो एक प्रासंगिक बात है, अन्यथा शिक्षा-विभाग तथा विश्वविद्यालय का हमारे प्रति सामान्य व्यवहार संतोषजनक रहा है, यद्यपि यह भी सत्य है कि उपर्युक्त दोनों (विभाग तथा विश्वविद्यालय) पर ऐसे नए नियम बनाए जाने के लिए दबाव डाला जाता रहा है, जो स्पष्टत: हमारे लिए अहितकर है। इसके पीछे यही कारण है कि हमारा स्कूल तथा कॉलेज सरकारी तथा उसी प्रकार के अन्य अनुदान-प्राप्त संस्थानों का कट्टर प्रतिद्वन्द्वी समझा जाता रहा है।

स्कूल-विभाग जून १८८६ में प्रारम्भ किया गया और खुलने के साथ ही उसने लोकप्रियता प्राप्त कर ली। कॉलेज-विभाग जून १८८९ में एक दर्जन से भी कम छात्रों से प्रारम्भ किया गया। संस्था की लोकप्रियता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि ३१ दिसम्बर १९१२ को १७३७ छात्र विद्यालय विभाग में तथा ९०३ कॉलेज-विभाग में अध्ययनरत थे। इसके अतिरिक्त कॉलेज के वैदिक विभाग, आयुर्वेद संकाय, अभियांत्रिकी तथा सिलाई कक्षाओं के विद्यार्थियों की संख्या इनसे पृथक् है।

फिर भी हमने ये सब सफलताएँ बहुत न्यून धन से अर्जित की हैं। कॉलेज की सम्पूर्ण सम्पत्ति (अचल सम्पत्ति तथा भवनों के मूल्य सहित) १० लाख से कुछ अधिक की है। १८८६ में चालीस हजार से भी कम रुपयों में कार्य का आरम्भ किया गया था तथा किसी भी व्यक्ति की दानराशि १० हजार से अधिक नहीं थी। हमारी सफलता का प्रमुख कारण आत्मत्याग की वह भावना है जिससे हमारे कार्यकर्ता अनुप्राणित हुए हैं। १९११ तक कॉलेज का आचार्य अवैतनिक कार्यकर्ता था। वर्तमान प्राचार्य भी प्राय: अवैतनिक ही है। उसे प्रतिमास अपने निजी व्यय के लिए पाँच पौण्ड[१] दिये जाते हैं, और यह

---

१. लाला साईंदास, एम०ए० (कलकत्ता) बी०एस०सी० (Cantab.)प्राचार्य हैं। अन्य प्राध्यापक हैं—लाला दीवानचन्द एम०ए० (अंग्रेजी तथा दर्शनशास्त्र), बाबू राम रतन, बी०ए०बी०टी० तथा मेहरचन्द एम०ए०।

बात दूसरे प्राध्यापकों पर भी लागू होती है।[१] विश्वविद्यालय ने अपने नए नियमों के अनुसार हमें अपनी अधिकांश धनराशि को भवनों पर व्यय करने के लिए बाध्य किया है, जो आज की स्थिति में विशाल, शानदार तथा सब प्रकार से उपयुक्त हैं। प्रारम्भिक वर्षों में हम प्राय: मासिक चंदों तथा यदा-कदा एकत्रित की गई दानराशि पर निर्भर रहते थे, अत: हमें साधारण स्थिति के भवनों से ही काम चलाना पड़ता था।

फिर भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि जिस समय कॉलेज की स्थापना प्रस्तावित की गई थी, उस समय यदि लॉर्ड कर्ज़न की शिक्षानीति प्रचलित रही होती तो इस संस्था का जन्म ही न हुआ होता। इसलिये हम स्वयं को बधाई देने के पूर्ण अधिकारी हैं कि हमने कॉलेज का शुभारम्भ जल्दी किया और उसमें पूर्ण सफल रहे। मैं यह कहने में कोई संकोच नहीं करता कि जो कुछ हमने प्राप्त किया है, उससे हम पूर्णतया संतुष्ट नहीं हैं। यह सत्य है कि हमने विश्वविद्यालय-शिक्षा को लोकप्रिय बनाया है तथा इन वर्षों में सैकड़ों स्नातक तथा हजारों अन्य छात्र तैयार किये हैं। इसका प्रमाण आपको इसी बात से मिलेया कि आज उत्तर भारत में निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र का कोई ऐसा विभाग नहीं है जिसमें डी० ए० वी० कॉलेज के पुराने छात्र सम्मानपूर्वक प्रशंसनीय कार्य न कर रहे हों। यह भी सत्य है कि हमने हिन्दी तथा संस्कृत के अध्ययन को प्रबल प्रोत्साहन दिया है जो कि इस प्रान्त में, जब कि हमने यह कॉलेज प्रारम्भ किया, नितान्त नगण्य था। यह भी उतना ही सत्य है कि हमने राष्ट्रीयता का वातावरण बनाया है तथा देशवासियों में स्वावलम्बन तथा आत्मनिर्भरता की भावना उत्पन्न की है, परन्तु यह सब कह देने के उपरान्त भी हम यह कहने की स्थिति में नहीं हैं कि हमने अपने समक्ष जो आदर्श निर्धारित किये थे, उन तक हम पहुँच गए हैं। डी०ए०वी० के पुराने छात्रों में से कुछेक तथा इस कॉलेज से सम्बन्धित अनेक व्यक्ति आज इस प्रान्त के सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यन्त विश्वसनीय सार्वजनिक नेता हैं। इनमें से कुछ लोग साहित्यिक तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं, कुछ अन्यों ने व्यापार एवं व्यवसाय के क्षेत्र में अग्रगामित्व प्राप्त किया है और कर रहे हैं। कुछ व्यक्ति उच्च राजकीय पदों पर प्रतिष्ठित हैं, कई लोग अन्य व्यवसायों में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुके

aryasamajjammagar.org

१. तत्कालीन दर से लगभग ५०० रु० मासिक।

हैं। तथापि हम यह नहीं कह सकते कि हमने उच्चकोटि के लेखक और विद्वान् उत्पन्न किये हैं। अभी तक हमने मौलिक अनुसंधान के क्षेत्र में भी कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं किया है।

डी०ए०वी० कॉलेज के छात्रावासों में रहनेवाले विद्यार्थियों की संख्या ६९७ है। लगभग इतने ही छात्र विद्यालय-विभाग में भी हैं, परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि गुरुकुल कांगड़ी के छात्र वास्तविक हिन्दू आदर्शों के अनुकूल जैसा अनुशासनबद्ध जीवनयापन कर रहे हैं, वैसा वातावरण यहाँ कॉलेज में नहीं है।

२. गुरुकुल

एक अन्य महाविद्यालय आर्यसमाज के शाकाहारी विभाग के द्वारा स्थापित तथा संचालित है। इसी स्थापना के पीछे भी वैसी ही विद्रोह-भावना कार्य कर रही है, जिसने दयानन्द को अपने घर को त्यागकर सत्य की तलाश में भटकने के लिए प्रेरित किया था। गुरुकुल के संस्थापकों ने भी डी०ए०वी० कॉलेज की स्थापना में प्रारम्भ में तो भाग लिया, परन्तु कुछ वर्षों पश्चात् उन्होंने यह अनुभव किया कि जो शिक्षा-प्रणाली कॉलेज में प्रचलित है वह उनके मनोनुकूल नहीं है। यह पद्धति शिक्षा के वैदिक आदर्शों के अनुसार नहीं है। उनका यह भी कहना था कि कॉलेज के व्यवस्थापक सुदृढ़ राष्ट्रीय शिक्षा की अपेक्षा विश्वविद्यालय के परीक्षा-परिणामों की अधिक चिंता करते हैं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि राजकीय विश्वविद्यालय के साथ इस कॉलेज के सम्बन्धित होने से इसकी पाठ्य-प्रणाली में वे अपेक्षित क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं कर सकेंगे तथा इससे उनकी स्वतन्त्रता में बाधा पड़ेगी।

aryasamajmagan.org

कुछ समय तक उन लोगों ने कॉलेज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने हेतु आन्दोलन चलाया, परन्तु उन्होंने शीघ्र यह अनुभव कर लिया कि जिन व्यक्तियों के हाथ में कॉलेज का प्रबन्ध है, उनमें से अधिकांश इस प्रकार के परिवर्तन लाने के इच्छुक नहीं हैं। फलतः उन्होंने इस संस्था से पृथक् होकर अपना पृथक् मार्ग बनाने का निश्चय किया। पहले तो उन्होंने अपना सम्पूर्ण समय तथा शक्ति प्रचार-कार्य में लगाने का निश्चय किया, परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह पता लग गया कि प्रचार-कार्य में भी प्रभावशाली सफलता तभी मिल सकती है जब उनके पास स्वयं के शिक्षा-आदर्शों से अनुप्राणित कोई शिक्षण-संस्था हो। अब

इन लोगों का प्रधान विचार स्वामी दयानन्द द्वारा रचित ग्रन्थों में प्रस्तुत किये गए शिक्षण के तरीके को क्रियान्वित करने का हुआ। इस योजना का प्रमुख लक्ष्य वैदिक संस्कृत में उच्च नैपुण्य प्राप्त करना तथा चरित्र निर्माण करना निश्चित किया गया।

इस संस्था के उद्देश्यों को उसके संस्थापक के शब्दों में ही प्रस्तुत किया जा रहा है।

गुरुकुल एक ऐसा शिक्षण-संस्थान है जिसकी स्थापना के पीछे ब्रह्मचर्य के प्राचीन आदर्श को पुनरुज्जीवित करने का लक्ष्य काम कर रहा है। इसका उद्देश्य है प्राचीन भारतीय दर्शन तथा साहित्य का पुनरुद्धार, भारत के पुरातात्त्विक क्षेत्रों का अन्वेषण तथा एक ऐसे हिन्दू साहित्य का निर्माण करना निर्धारित किया गया जिसमें पाश्चात्य विचारधारा के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों का समावेश हो। साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि इस शिक्षणालय से वैदिक धर्म के ऐसे प्रचारक तथा श्रेष्ठ नागरिक तैयार होकर निकलेंगे, जिनमें उन दोनों (भारतीय तथा पाश्चात्य) सभ्यताओं के उदात्त तत्त्वों का सम्मिश्रण होगा, जो ऋषि-मुनियों के इस पुरातन देश में अपना घर बना चुकी हैं।

aryasamajjamnagar.org

मैं गुरुकुल कांगड़ी के इतिहास, प्रगति तथा सफलता का विवरण एक अमेरिकन यात्री श्री मायरन फेल्स के शब्दों में दूँगा जिसके एतद्विषयक पत्र उत्तर भारत के एक अत्यन्त प्रभावशाली ऐंग्लो-इण्डियन दैनिक 'पायनियर' में प्रकाशित हुए थे तथा इन्हें गुरुकुल के संस्थापक ने स्वयं एक लघु पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया था। इन पत्रों में इस संस्था का सही विवरण दिया गया है। संस्था के इतिहास के सम्बन्ध में श्री फेल्स का कथन है- "गुरुकुल की स्थापना १९०२ में उसके वर्तमान आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता श्री मुन्शीराम के प्रयत्नों से हुई थी जो अपने प्रारम्भिक जीवन में जालंधर के एक सफल वकील रहे हैं। श्री मुन्शीराम प्रकृत्या ईमानदार तथा धार्मिक प्रवृत्ति के पुरुष हैं। वे १८८५ में आर्यसमाज के सभासद बने थे। गुरुकुल किस प्रकार प्रारम्भ किया गया, यह उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करना उचित होगा—"हमारा उद्देश्य एक ऐसे विद्यालय की स्थापना थी, जहाँ विशुद्ध वैदिक शिक्षण के आधार पर सुदृढ़ धार्मिक चरित्र का निर्माण किया जा सके। हमने लोगों की दो आवश्यकताओं को अनुभव किया, ऐसे लोग जो चरित्र तथा धार्मिक प्रवृत्ति के हैं, तथा हमने

इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु जो कुछ सम्भव था, करना आरम्भ किया। हमारा प्रथम लक्ष्य अपने बालकों को यथासम्भव सर्वश्रेष्ठ नैतिक तथा आचरणविषयक शिक्षा प्रदान करना है, उन्हें उत्तम नागरिक तथा धार्मिक प्रवृत्ति का बनाना तथा ज्ञानोपार्जन के ध्येय से विद्याध्ययन करने में प्रवृत्त करना है। हमारे समक्ष प्राचीन भारत के उस तक्षशिला विश्वविद्यालय का आदर्श प्रस्तुत है, जिसमें सहस्त्रों छात्र विद्याध्ययन हेतु एकत्रित होते थे तथा जिनकी सभी आवश्यकताएँ राज्य तथा सम्पन्न नागरिकों की उदार आर्थिक सहायता से पूरी की जाती थीं।''

''तुरन्त बाद ही आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की कार्यकारिणी समिति ने हमारी योजना को स्वीकार कर लिया। उन्होंने ३०००० रु० की धनराशि एकत्रित हो जाने पर तथा ८००० रु० नकद आ जाने पर हमें गुरुकुल चलाने के लिए अधिकृत कर दिया। योजना कुछ महीनों तक तो लटकी-सी रही, किन्तु बाद में मैं स्वयं धन एकत्र करने के लिए घर से निकल पड़ा। मैं नकद ८००० रु० से ही संतुष्ट नहीं हुआ और शीघ्र ही मैंने ३०००० रु० प्राप्त कर लिये। तब हमने कार्य आरम्भ किया।''

aryasamajjamnagar.org

''मैं उस समय किसी सक्रिय व्यवसाय में लगा हुआ नहीं था। कुछ समय पूर्व मैंने वकालत के पेशे से अवकाश ग्रहण किया था, जो मेरे लिए उपयुक्त नहीं था। मैं अभी तक किसी अन्य कार्य में भी नहीं लगा था। अतः गुरुकुल के लिए मेरे पास कुछ समय था, परन्तु शीघ्र ही मैं अलक्ष्य भाव से इस संस्था की स्थायी प्रबंध-व्यवस्था के काम में प्रविष्ट होता गया।''

''जब मैं गुरुकुल की स्थापना के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश में था, हमें हरिद्वार से नीचे की ओर प्रायः ९०० एकड़ भूमि का एक बड़ा टुकड़ा, जो मुख्यतः जंगल था, दान-रूप में देना प्रस्तावित हुआ। हमने उसे देखा तथा उसकी स्थिति तथा अन्य बातों को संतोषजनक पाया।''

आगे गुरुकुल की कार्यप्रणाली तथा उसकी छात्र-संख्या का उल्लेख करते हुए श्री फेल्स लिखते हैं—

''इस संस्था में इस समय २७४ छात्र हैं[१] जिनमें १४ महाविद्यालय-

---

१. वर्तमान में तीन सौ से कुछ अधिक छात्र हैं।

विभाग में तथा २६० अवशिष्ट दस श्रेणियों में हैं। प्रवेश के समय छात्रों की आयु छः या सात वर्ष की होती है। प्रवेश इसी शर्त पर दिया जाता है कि उन्हें सोलह वर्ष तक यहाँ रहना होगा। प्रवेश के समय छात्र सादगी, पवित्रता तथा आज्ञापालन का व्रत लेते हैं तथा दसवें वर्ष की समाप्ति पर इस व्रत को पुनः ग्रहण करते हैं। किन्हीं विशेष तथा अपवादरूप अपरिहार्य स्थितियों के अलावा, छात्रों को घर जाने की आज्ञा नहीं होती तथा उनके सम्बन्धी भी मास में एक बार से अधिक विद्यालय में नहीं आ सकते। प्रायः वे वर्ष में दो बार ही आते हैं।

यहाँ कड़ा अनुशासन है, यद्यपि इसे वात्सल्यपूर्ण, वैयक्तिक भावनायुक्त तथा प्रायोगिक रूप में कोमल भी कहा जा सकता है। विद्यालय के समय में तथा उसके बाद भी छात्रों को सतत निरीक्षण में रखा जाता है। अध्यापकों के अतिरिक्त १३ अधीक्षकगण नियुक्त हैं जो छात्रों के साथ पूर्णरूप से उस समय रहते हैं, जब वे अपने विद्यालय-कक्ष से बाहर होते हैं। विभिन्न कक्षाओं तथा कक्षा-विभागों के छात्र एक-साथ बड़े कमरों में रहते हैं, जहाँ उनका अधीक्षक भी रहता है।

aryasamajjamnagar.org

विद्यालय का सम्पूर्ण वातावरण आत्मीयतापूर्ण, स्नेहभाव तथा पारस्परिक विश्वास से ओतप्रोत है। इससे छात्रों के आपस के सम्बन्ध तथा अध्यापकों एवं अधीक्षकों के उनके मधुर सम्बन्धों की पुष्टि होती है। प्रेम और आदर का यह भाव सर्वाधिक रूप से गुरुकुल के अधिष्ठाता लाला मुन्शीराम के प्रति होता है। सभी अध्यापक, कर्मचारी तथा छात्र समान रूप से उनके प्रति वैसे ही भाव रखते हैं जो एक पुत्र के पिता के प्रति होते हैं।

जब मैं प्रथम बार गुरुकुल आया तो श्री मुन्शीराम ने मुझे बताया कि गुरुकुल के प्रबंधकगण छात्रों में किस प्रकार के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना के इच्छुक हैं। उन्होंने कहा- 'छात्रों में यह भावना उत्पन्न की जाती है कि वे एक ही परिवार के सदस्य हैं, फलतः परस्पर भाई हैं। बालकों को यह सिखलाया जाता है कि वे अपने मित्रों के साथ मिलकर आमोद-प्रमोद करें। जिस मनोरंजन में सभी लोग हिस्सा न ले सकें, वैसे मनोरंजन से कोई लाभ नहीं। यहाँ तक कि जब बच्चों के माता-पिता यहाँ आते हैं, तो छात्र उनसे व्यक्तिगत भेंट की कोई वस्तु नहीं लेते। एक-दूसरे के लिए वे बड़े से बड़ा

त्याग करने के लिए तत्पर रहते हैं। यदि उनमें कोई बीमार हो जाता है, तो वे बारी-बारी से उसकी मिलकर सेवा करते हैं।'

अधिष्ठाता (महात्मा मुन्शीराम) कोई वेतन नहीं लेते। उन्होंने अपनी तीस हजार तथा चालीस हजार मूल्य के बीच की सम्पत्ति गुरुकुल को दान दे दी है। कुछ श्रेष्ठ अध्यापकों ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही गुरुकुल की सेवा में अर्पित कर दिया है। उसके बदले में वे अत्यन्त स्वल्प राशि वेतनरूप में ग्रहण करते हैं जो कठिनाई से जीवन-निर्वाह के भत्ते के तुल्य है।[१]

प्रातःकाल जागरण की घण्टी ४ बजे बजती है। इसे सुनकर सब छात्र जग पड़ते हैं। केवल कुछ बहुत छोटे विद्यार्थी एक घण्टे बाद जगाए जाते हैं। तत्पश्चात् आधे घण्टे तक उन्हें डम्बल तथा अन्य प्रकार के व्यायाम कराए जाते हैं। ५ से ५.३० तक अवशिष्ट आधा घण्टा, स्नान तथा अन्य नित्यकर्मों के लिए होता है। तत्पश्चात् प्रातःकाल की उपासना होती है। इसमें संध्या व प्रार्थना व्यक्तिशः की जाती है तथा अग्निहोत्र पृथक्-पृथक् समूहों में बालकगण करते हैं। पुनः सभी छात्र किसी वैदिक तथा सदाचार-प्रतिपादक आचार्य के उपदेश को सुनने के लिए एकत्र होते हैं। यह प्रवचन आधा अथवा पौन घण्टे तक का होता है।

aryasamajjammagar.org

इसके बाद कोई हल्का आहार, मुख्यतः दूध या खजूर प्रातराश के रूप में दिये जाते हैं। तब दो घण्टे स्वाध्याय हेतु रहते हैं। ८.४५ पर प्रातःकाल का भोजन होता है। विद्यालय के छात्र दो भोजनगृहों में एकत्र होते हैं। महाविद्यालय के छात्र और आचार्य साथ भोजन करते हैं। भोजन यद्यपि सादा किन्तु बलवर्धक तथा सुपक्व होता है। भोजन के बाद आधे घण्टे तक विश्राम की बेला रहती है।

वर्ष की शीतकालीन अवधि में ९.४५ से ४.१५ तक विद्यालय चलता है। मध्याह्न में आधे घण्टे का अवकाश होता है जिसमें छात्रों को दूध अथवा कोई अन्य हल्का पदार्थ दिया जाता है। ४.१५ से ४.४५ तक बच्चों को स्वतंत्र छोड़ दिया जाता है। ४.४५ से ५.३० तक खेल का समय होता है। प्रत्येक छात्र के लिए खेलों में भाग लेना अनिवार्य होता है। ६ से ६.३० तक प्रातःकाल की भाँति संध्या और अग्निहोत्र पुनः किये जाते हैं। तत्पश्चात् सायंकालीन भोजन

१. उसी प्रकार जैसा डी०ए०वी० कॉलेज में भी है।

होता है जो प्रातःकालीन भोजन की आवृत्ति जैसा होता है। तब एक घण्टे के लिए छात्रों को अध्ययन में जुटना पड़ता है। सभी के लिए ९ बजे शयन करना आवश्यक है। इसमें महाविद्यालय के छात्र अपवाद हैं जिन्हें दस बजे तक अध्ययन करने की छूट होती है। प्रत्येक चान्द्र मास में चार अवकाश के दिन होते हैं। वर्ष में लगभग २० अन्य छुट्टियाँ भी होती हैं और अगस्त तथा सितम्बर मास में दीर्घकालीन अवकाश रहता है।''

एक अन्य पत्र से निम्न उद्धरण दिया जा रहा है जो छात्रों को दी जाने वाली नैतिक और धार्मिक शिक्षा से सम्बन्धित है—

''नैतिक तथा आचार-विषयक शिक्षा नियमित रूप से विद्यालय के सम्पूर्ण दसवर्षीय पाठ्यकाल में दी जाती है। प्रारम्भ के वर्षों में संस्कृत के अनेक उपयोगी पद्य छात्रों को कण्ठस्थ कराए जाते हैं। पुनः मनुस्मृति के श्लोक-संग्रहों पर आधारित तीन पाठ्य पुस्तकें पढ़ाई जाती हैं। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के उपयुक्त स्थल भी पाठ्यक्रम में रहते हैं। इन विषयों के लिए सप्ताह में तीन से लेकर सात कालांश निर्धारित रहते हैं। छात्रों को धार्मिक साहित्य पढ़ाया जाता है और इसका अधिकांश सम्पूर्ण सोलह-वर्षीय पाठ्यक्रम में विभक्त कर दिया जाता है।

aryasamajjammagar.org

पाठ्य योजना के सम्बन्ध में श्री फेल्स का कहना है—''वेदों तथा अन्य धार्मिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित करते हुए भी गुरुकुल के प्रबंधकों का लक्ष्य इस संस्था को पश्चिमी साहित्य तथा आधुनिक विज्ञान का एक प्रथम श्रेणी का अध्ययन-केन्द्र बनाने का है। योजना के इस हिस्से का पूर्ण क्रियान्वयन अभी तक उपयुक्त धन के अभाव के कारण नहीं हो सका। तथापि पूरी चेष्टा की जाती है कि छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों की सम्पूर्ण आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। छठी श्रेणी से अंग्रेजी का अध्ययन अनिवार्य कर दिया जाता है जो आगे आठ वर्षों तक चलता है। इस प्रकार वे विश्व की चिन्तनधारा तथा कार्य-प्रवृत्तियों से सम्बन्ध बनाए रखने की योग्यता अर्जित कर लेते हैं। उनकी प्रयोगशालाओं में टेलीफोन तथा तार के यंत्र स्थापित हैं। पुस्तकालय विशाल तथा सुव्यवस्थित एवं सुचयनित है तथा वाचनालय में अनेक ऐंग्लो-इंडियन तथा अन्य दैनिक भारतीय पत्र-पत्रिकाएँ

आती हैं। कॉलेज के छात्रों के निजी पुस्तकालय की ताकों में मैंने बेकन, लॉक, गेटे, इमर्सन, मार्टिन्यू, मैलक तथा सर ऑलिवर लॉज जैसे आधुनिक लेखकों की रचनाएँ देखीं। इन ग्रन्थों में लगे अनेक चिह्न यह सूचित करते थे कि उन्हें गम्भीरता के साथ पढ़ा गया है। अमेरिका के एक कृषि महाविद्यालय के स्नातक की देखरेख में कृषि-छात्रों को जमीन का एक टुकड़ा कृषि-कार्य के लिए दिया जाता है। संस्कृत में वे नितान्त आगे हैं। यह बताया गया कि दसवीं कक्षा के छात्रों का संस्कृत से परिचय नितान्त प्रौढ़ एवं पर्याप्त है। वे सुगमतया संस्कृत बोलते हैं, पढ़ते हैं तथा लिखते हैं। मैं उनकी ऐसी गोष्ठियों में सम्मिलित हुआ हूँ जिनमें मैंने विद्यालय तथा महाविद्यालय के छात्रों को धाराप्रवाह संस्कृत बोलते हुए सुना है। दसवीं श्रेणी के विद्यार्थियों को भारतीय दर्शन तथा तर्कशास्त्र पढ़ने के लिए अधिक समय दिया जाता है। अन्य स्कूलों की अपेक्षा गुरुकुल के विद्यार्थियों का हिन्दी का ज्ञान उत्तम कोटि का होता है, क्योंकि यही भाषा उनके शिक्षण का माध्यम है। मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ वह यह है कि गुरुकुल की दसवीं श्रेणी उत्तीर्ण किया हुआ एक छात्र अन्य महाविद्यालय के उन छात्रों से मानसिक तथा बौद्धिक उपलब्धियों की दृष्टि से बराबर होता है जो एफ०ए० की श्रेणी तक पहुँच चुके हैं।

aryasamajjamnagar.org

गुरुकुल के छात्र को एक लाभ यह भी मिलता है कि इस संस्था में उसकी शिक्षा मातृभाषा के माध्यम से होती है, इसलिए उसे अपने पाठ्यविषय को समझने तथा आत्मसात् करने में कोई कठिनाई नहीं होती। हिन्दी भाषा को शिक्षा का माध्यम बनाना इस संस्था की प्रमुख विशेषता है जिसे अत्यधिक महत्त्व दिया गया है।''

गुरुकुल सरकारी अनुदान क्यों नहीं लेता तथा उसे संदेह की दृष्टि से क्यों देखा जाता है—इस सम्बन्ध में आगे लिखा है—

''पूर्व-पत्रों में जो कुछ कहा गया है उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि गुरुकुल के लिए सरकारी सहयोग तथा सहायता लेना क्यों सम्भव नहीं है तथा वह अन्य अनुदान-प्राप्त संस्थाओं की भाँति शासन के समक्ष क्यों झुकना नहीं चाहता। यदि गुरुकुल ऐसा करने लगे तो सर्वप्रथम तो उसे संस्कृत के स्थान पर

अंग्रेजी को विद्यालय की प्रथम भाषा के रूप में स्वीकार करना होगा। अगले कदम के रूप में, गुरुकुल को शिक्षा के वर्तमान माध्यम हिन्दी को हटाना होगा, जिसे वह सुदृढ़ शिक्षा का आवश्यक अंग मानता है। सरकार ने सहायता-प्राप्त विद्यालयों के लिए जो नियम बना रखे हैं, उनके अनुसार हिन्दी माध्यम से शिक्षा नहीं दी जा सकती। तीसरी बात यह होगी कि वर्तमान में गुरुकुल स्वयं-निर्मित पाठ्य पुस्तकों का उपयोग करता है, जबकि सामान्य शिक्षण-क्रम को अपनाने की स्थिति में उसे इन्हें छोड़ना होगा तथा राज्य द्वारा निर्धारित पुस्तकों को पढ़ाना होगा। अन्तिम रूप से, यदि गुरुकुल को राजकीय व्यवस्था से जोड़ दिया जाता है तो इस संस्था की पढ़ाई समाप्त होने के अनन्तर छात्रों को विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में अनिवार्यतः सम्मिलित होना पड़ेया।

अतः इस परिस्थिति को देखते हुए किसी को आश्चर्य नहीं करना चाहिए तथा संदेह का कोई कारण भी नहीं रहना चाहिए कि क्यों गुरुकुल राजकीय मान्यता तथा शासकीय अनुदान ग्रहण करने के लिए तत्पर नहीं है। इसके लक्ष्य और इसकी शिक्षा-प्रणाली सरकार से अनुशासित सामान्य शिक्षणालयों से प्रकृत्या इतनी भिन्न है कि इस विद्यालय के लिए अपने-आपको पृथक् रखने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। यह भी शिकायत आई है कि शासन गुरुकुल के प्रति संदेह रखता है। अधिकारियों तक प्रायः यह रिपोर्ट पहुँचती रहती है कि उच्च सरकारी अधिकारी इस संस्था को अराजकता का उत्पादक तथा राज्य के लिए खतरे का स्रोत समझते हैं। यह समझा जाता है कि इस संस्था के विरोध में ईसाई तथा मुसलमान प्रचारकों द्वारा अनेक प्रकार की भ्रांतिपूर्ण धारणाएँ सरकार के समक्ष प्रस्तुत की गई हैं। विशेषतः ईसाई प्रचारकों को इस कार्य के लिए उत्तरदायी ठहराया गया है, क्योंकि शासन-तंत्र तक उनकी पहुँच है और उन्होंने ही सरकार को गुरुकुल की ग़लत तस्वीर पेश की है। मुझे स्वयं ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रसारित ऐसे वक्तव्यों का ज्ञान है जिन्हें एक सरकारी अधिकारी ने गुरुकुल तथा आर्यसमाज का विरोध करते हुए अधिकृत रूप से उद्धृत किया था, परन्तु मुझे यह भी जानकारी है कि ये वक्तव्य आद्यान्त दुर्भावनापूर्ण थे तथा निंदा की दृष्टि से प्रस्तुत किये गए थे।''

aryasamajjamnagar.org

गुरुकुल के प्रति ये संदेह सर्वप्रथम श्री (अब सर) वैलेन्टाइन शिरोल द्वारा 'आधुनिक भारतीय असंतोष' पर लिखे गए उन लेखों में व्यक्त किये गए थे, जो लंदन से प्रकाशित होनेवाले 'दि टाइम्स' पत्र में 'पंजाब और आर्यसमाज' शीर्षक से छपे थे। परन्तु अधिकारियों ने संस्था से निकट सम्पर्क बनाया। ६ मार्च १९१३ को जब संयुक्त प्रान्त के लेफ्टिनेन्ट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन ने प्रथम बार गुरुकुल की यात्रा की तो उन्होंने कहा—

''गुरुकुलीय शिक्षा-विषयक प्रयोगों में एक सर्वथा मौलिक तथा रोचक प्रयोग है जो इस प्रदेश में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण भारत में किये जा रहे हैं। यह एक सम्पूर्णतया आश्चर्यान्वित करनेवाला, रोचक तथा प्रेरणादायक संस्थान है। यहाँ कुछ ऐसे तपस्वी प्रकृति के लोग अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न हैं जो प्राचीन ऋषियों की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए इस एकान्तस्थल में कार्यरत हैं। इन्हें अत्याधुनिक वैज्ञानिक प्रणालियों का भी ज्ञान है तथा व्यावहारिक रूप से ये कुछ भी वेतन-रूप में नहीं लेते। इनके विद्यार्थी स्वस्थ शरीरवाले, आज्ञाकारी, वफादार, चिन्तनशील, लगनशील तथा अत्यन्त प्रसन्न प्रकृति के हैं जिन्हें असाधारण रूप से पौष्टिक भोजन दिया जाता है।''

aryasamajjamnagar.org

अपने भाषण के दौरान गुरुकुल में अपने आगमन के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा कि ''यहाँ आने का उनका एक कारण यह भी था कि वे उस समाज (व्यक्तियों के समूह) से भेंट करना चाहते थे, जिन्हें सरकारी पत्रों में अत्यन्त भयंकर तथा अज्ञात भय का उत्पादक बताया गया था। इसका उचित उत्तर यही था कि मैं स्वयं यहाँ आता।'' सर जेम्स मेस्टन दुबारा गुरुकुल में आए तथा उन्होंने एक अन्य भगिनी संस्था गुरुकुल वृन्दावन (मथुरा) का शिलान्यास भी किया। उस समय भाषण देते हुए उन्होंने गुरुकुल कांगड़ी के संस्थापक लाला मुन्शीराम को भावभीनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की तथा यह स्वीकार किया कि आर्यसमाज राजनीतिक संस्था नहीं है।

इन दो महाविद्यालयों के अतिरिक्त आर्यसमाज ने लड़कों की अनेक प्राथमिक, माध्यमिक पाठशालाएँ तथा गुरुकुल स्थापित एवं संचालित किये हैं। इनमें से अनेक उच्चश्रेणी के शिक्षण-संस्थान हैं जो अत्यधिक व्यय तथा

आत्म-त्याग की भावना से चलाए जा रहे हैं। लड़कियों की शिक्षा के लिए आर्यसमाज एक महाविद्यालय, अनेक प्राथमिक तथा माध्यमिक कन्या विद्यालय संचालित करता है। यह महाविद्यालय जालंधर में है तथा इसे कन्या महाविद्यालय कहते हैं। विद्यालय से सम्बद्ध एक बड़ा छात्रावास है जिसमें बड़ी संख्या में कन्याएँ तथा महिला छात्राएँ भारतीय महिला अध्यापिकाओं के निरीक्षण तथा देखरेख में रहती हैं। यह एक अत्यन्त सफल संस्था है तथा अपने संस्थापक, जालंधर के लाला देवराज की सार्वजनिक सेवा-भावना का उत्कृष्ट स्मारक है। यहाँ संगीत, गृह विज्ञान, पाक विद्या, सिलाई, अंग्रेजी, संस्कृत, हिन्दी, इतिहास, भूगोल, गणित तथा राजनीतिशास्त्र आदि विषय पढ़ाए जाते हैं। स्कूल-विभाग के लिए विद्यालय की स्वसंकलित पाठ्य पुस्तकें हैं। शिक्षा का माध्यम हिन्दी भाषा है। यह संस्था भी सरकार से कोई अनुदान नहीं लेती। ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय १२

आर्यसमाज का संगठन

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥

—अथर्व० ३/३०/५

१. सामान्य विवेचन

देश के सर्वाधिक सशक्त तथा प्रभावशाली सुधार-आन्दोलन के रूप में आर्यसमाज के उभर आने का एक महत्त्वपूर्ण कारण उसका परिपूर्ण तथा अद्वितीय संगठन है। सामान्यतः प्रत्येक नगर तथा ग्राम में एक आर्यसमाज होता है, परन्तु कई नगरों में एक से अधिक आर्यसमाजें भी हैं जिसका कारण नगर के भागों की एक-दूसरे से दूरी है अथवा सिद्धान्तों में किंचित् अन्तर भी भिन्न-भिन्न समाजों का कारण है।[१] सिद्धान्तों के अन्तर के कारण आर्यसमाजों की पृथक् शाखाओं का होना केवल पंजाब तक ही सीमित है।

arvasamajjamnagar.org

२. सदस्यता

आर्यसमाज का सक्रिय सदस्य होने के लिए यह आवश्यक है कि एक व्यक्ति (अ) दस नियमों को स्वीकार करे, (आ) आर्यसमाज के कोश में अपनी आय का एक प्रतिशत मासिक अथवा वार्षिक रूप से जमा कराए, (इ) साप्ताहिक सत्संग में उपस्थित हो, तथा (ई) अपने आचरण को शुद्ध रखे।[२]

३. साप्ताहिक सत्संग

प्रतिसप्ताह आर्यसमाजों के साप्ताहिक अधिवेशन होते हैं जिनमें (अ) यज्ञ, (आ) भजन-गान, (इ) प्रार्थना एवं उपदेश, (ई) भाषण व प्रवचन होते हैं। आर्यसमाज के अधिकारी जिस व्यक्ति से भी साप्ताहिक सत्संग की कार्यवाही—

---

१. यह बात अतीत की वस्तु हो चुकी है। आज समस्त भूमण्डल के आर्यसमाजों में सैद्धान्तिक एकता है —अनुवादक

२. अब सदस्यता के लिए उन धार्मिक सिद्धान्तों को स्वीकार करना भी आवश्यक है जिनका वेद के आधार पर ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रंथों में प्रतिपादन किया है। १९२६ से इस शर्त की औपचारिक रूप से घोषणा की गई है। —सम्पादक

प्रार्थना, भजन, व्याख्यान आदि कराना चाहें, बिना किसी जाति-भेद का विचार किये करा सकते हैं। आर्यसमाज पुरोहित अथवा उपदेशक नियुक्त नहीं करता।[१] किसी सामान्य सदस्य को भी भाषण देने तथा संध्या-उपासना आदि कराने के लिए कहा जा सकता है। साप्ताहिक सत्संग आम जनता के लिए ही आयोजित किये जाते हैं, इसलिये उसमें सदस्य अथवा गैर-सदस्य, हिन्दू या गैर-हिन्दू का भेद नहीं किया जाता। प्रत्येक व्यक्ति उसमें आ सकता है। ईश्वर के मंदिर में कोई भी व्यक्ति आ सकता है और अपनी इच्छानुसार बैठ सकता है।

४. अन्तरंग सभा

आर्यसमाज की सम्पूर्ण कार्यवाही एक अन्तरंग समिति द्वारा नियंत्रित होती है। इस समिति में चुने हुए अधिकारी तथा समाज के सभासदों के आनुपातिक प्रतिनिधि होते हैं। केवल सक्रिय सभासद ही अन्तरंग सभा तथा अधिकारियों के चुनाव में भाग ले सकते हैं। अधिकारीगण निम्न प्रकार से होते हैं—(अ) प्रधान, (आ) एक या अधिक उप-प्रधान, (इ) एक या अधिक मंत्री, (ई) कोषाध्यक्ष, (उ) पुस्तकाध्यक्ष। ये सभी अधिकारी सक्रिय सदस्य होने चाहिएँ। इन सभी का चुनाव एक वर्ष की अवधि के लिए, इसी प्रयोजन से आमंत्रित की गई वार्षिक सभा में होता है तथा इसमें पर्चियों के द्वारा मत देकर चुनाव किया जाता है।[२] इस वार्षिक अधिवेशन में अवकाश ग्रहण करनेवाली अन्तरंग सभा तथा अधिकारीगण आय-व्यय का विवरण प्रस्तुत करते हैं तथा आर्यसमाज की वार्षिक कार्यवाही का ब्यौरा देते हैं। इसके पश्चात् आगामी वर्ष के लिए अधिकारियों तथा अन्तरंग सभा का निर्वाचन होता है। अवकाश ग्रहण करनेवाली समिति तथा विगत वर्ष के अधिकारी भी पुनः चुनाव लड़ सकते हैं। बड़ी समाजों में सदस्यों को दस-दस के वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है तथा पुनः उन वर्गों के ही प्रतिनिधि चुनकर अन्तरंग सभा में लिये जाते हैं। समाज का साधारण अधिवेशन अन्तरंग सभा के प्रस्ताव पर किन्हीं विशिष्ट मुद्दों पर विचारार्थ आमंत्रित किया जा सकता है, अधिकारी भी अपनी इच्छानुसार सभा आमंत्रित कर सकते हैं, अथवा साधारण

aryasamajjammagar.org

---

१. वर्तमान में वैतनिक पुरोहित रखने की प्रथा भी चल पड़ी है।

२. हाथ उठाकर मत देने की प्रणाली भी प्रचलित हो गई है। (सम्पादक)

सभा की एक विशिष्ट सदस्य-संख्या किन्हीं विशेष बातों पर विचार करने के लिए साधारण सभा बुला सकती है।

आय का एक प्रतिशत मासिक चंदा न देने अथवा किसी अन्य प्रकार का अनैतिक आचरण सिद्ध हो जाने पर किसी सदस्य को आर्यसमाज की सदस्यता से निलम्बित किया जा सकता है, अथवा उसका नाम सदा के लिए सक्रिय सदस्य-पञ्जिका से हटाया भी जा सकता है। अन्तरंग सभा अपने निर्णय के आधार पर, ऐसे सदस्य को अपराधी सिद्ध न होने पर, पुनः सदस्यता प्रदान कर सकती है, परन्तु अन्तरंग सभा के निर्णयों के सम्बन्ध में साधारण सभा में पुनर्विचार हेतु अपील भी की जा सकती है। आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा उसके विधान में परिवर्तन करने का अधिकार अन्तरंग अथवा साधारण सभा को नहीं है।

५. प्रान्तीय सभा

प्रत्येक प्रान्त में एक प्रतिनिधि सभा होती है जिसमें उस प्रान्त की आर्यसमाजों के चुने हुए प्रतिनिधियों का समावेश होता है। प्रतिनिधियों की संख्या का निर्धारण पृथक्-पृथक् आर्यसमाजों की सदस्य-संख्या पर निर्भर होता है। प्रत्येक आर्यसमाज अपनी वार्षिक आय का दशांश प्रान्तीय सभा को कार्य-संचालनार्थ प्रदान करते हैं, परन्तु प्रान्तीय सभा को भी विशिष्ट प्रयोजनों के लिए अपनी अन्तरंग सभा की अनुमति से विशेष धन संग्रह करने का अधिकार होता है, तथा प्रायः ऐसी धनराशि एकत्रित भी की जाती है। प्रान्तीय सभा वैतनिक अथवा अवैतनिक उपदेशकों के द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार की व्यवस्था करती है। प्रायः यह सभा अपना मुखपत्र भी प्रकाशित करती है तथा साहित्य के मुद्रण व प्रकाशन की व्यवस्था करती है। आन्दोलन के हित में वह अन्य सभी आवश्यक कार्य करती है। यदि शिक्षण-संस्था के प्रबंध हेतु कोई पृथक् संगठन नहीं होता तो आर्यसमाज की अन्तरंग सभा ऐसी शिक्षण-संस्था की प्रबंध-व्यवस्था भी देखती है। यह सभा आवश्यकता होने पर प्रान्त की समस्त आर्यसमाजों की सामान्य सहमति से अपनी प्रबंध-व्यवस्था के नियमों में परिवर्तन कर सकती है, किन्तु उसे आर्यसमाज के सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों में परिवर्तन करने का कोई अधिकार नहीं है। प्रान्तीय सभा की साधारण समिति तीन वर्षों के लिए चुनी जाती है,[१] किन्तु उसके अधिकारी एवं अन्तरंग सभासद

aryasamajjamnagar.org

१. अनेक प्रान्तों में साधारण सभा का वार्षिक गठन ही होता है। —अनुवादक।

प्रतिवर्ष चुने जाते हैं।[१]

६. अखिल भारतीय सभा

आर्यसमाज की सर्वोपरि सभा सार्वदेशिक सभा है, जिसमें विभिन्न प्रान्तीय सभाओं के प्रतिनिधि एकत्रित होते हैं। यह सभी प्रान्तीय सभाओं को आपस में जोड़ने की कड़ी का काम करती है।

७. युवक समाज

विभिन्न नगरों की आर्यसमाजों से सम्बन्धित युवक समाजें भी हैं जो आर्यसमाजों में युवकों के प्रवेश का साधन हैं। युवक समाज में वे सभी प्रविष्ट हो सकते हैं जो ईश्वर में विश्वास रखते हैं तथा एक स्वल्प राशि चन्दे के रूप में देने के लिए तैयार रहते हैं। इससे अधिक कोई अन्य शर्त नहीं है।[२]

८. सभा-स्थल

प्रत्येक आर्यसमाज का अपना सभा-भवन होता है। समस्त भारत के बड़े-बड़े नगरों में आर्यसमाजों के भव्य भवन हैं जिनमें व्याख्यान-कक्ष, समिति- कक्ष, यज्ञशालाएँ आदि होती हैं। छोटे स्थानों पर किराए के मकानों में भी समाज चलाए जाते हैं। युवक समाजें प्रायः आर्यसमाज-भवनों को ही प्रयुक्त करती हैं, किन्तु उन्हें वहाँ भी पृथक् कमरा दे दिया जाता है। किन्ही स्थानों पर आर्यसमाजों में दैनिक उपासना भी होती है तथा व्यायाम आदि के सामूहिक कार्यक्रम होते हैं। प्रत्येक समाज से यह आशा की जाती है कि वह हिन्दी तथा संस्कृत से अनभिज्ञ सभासदों को हिन्दी तथा संस्कृत सिखाने की व्यवस्था करे। अनेक स्थानों पर आर्यसमाजें लड़कों तथा लड़कियों के पृथक्-पृथक् विद्यालय भी चलाती हैं जो सार्वजनिक होते हैं। अन्यत्र ऐसे पण्डित नियुक्त किये जाते हैं जो आर्यसमाज-भवन में ही छोटे पैमाने पर अध्यापन-कार्य करते हैं। ❑

aryasamajjamnagar.org

---

१. अनेक प्रान्तों में साधारण सभा का वार्षिक गठन ही होता है। (अनु०)

२. आर्य कुमार सभा के सदस्यों से भी यह आशा की जाती है कि वे समाज के विपरीत व्यवहार न करें। (सं०)

अध्याय १३

आर्यसमाज और राजनीति

१. आर्यसमाज राजनीतिक अथवा ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन नहीं

भारत के विदेशी शासक आर्यसमाज के प्रति अपने मानस को कभी सहज नहीं रख सके। वे आर्यसमाज के स्वतंत्र दृष्टिकोण तथा उसके द्वारा आत्म-विश्वास, स्व-सहायता तथा आत्म-निर्भरता आदि के भाव प्रचारित किये जाने को कभी पसन्द नहीं करते थे। आर्यसमाज की प्रवृत्तियों की राष्ट्रोन्मुखता ने उनमें विरोध-भाव ही उत्पन्न किया। वे एक ऐसे स्वदेशी आन्दोलन का कभी समर्थन नहीं कर सकते थे, जो उनके विचारानुसार, बिना किसी प्रकार की बाह्य सहायता तथा मार्गदर्शन प्राप्त किये, महद् आयोजनाओं को पूरा करने में सफल हो सकता है तथा इस प्रकार जिसने सरकार के भीतर एक अन्य सरकार (शासनतंत्र) की स्थापना कर ली है। आर्यसमाज द्वारा की गई प्रगति, जन-मस्तिष्क पर पड़ा हुआ उसका व्यापक प्रभाव, गतानुगतिकता का विरोधी एवं मूर्तिभंजक रूप रखने पर भी हिन्दुओं में उसकी लोकप्रियता, अपने सभी कार्यक्रमों को द्रुत गति से पूरा करने की प्रवृत्ति, हिन्दुओं में उसके द्वारा प्रवर्तित तथा विकसित राष्ट्रीय भावना, इसके सदस्यों में पाई जानेवाली त्यागवृत्ति तथा उनकी विचारधारा की स्वतंत्रता, समस्त भारत में इस आन्दोलन का अतिशीघ्र व्यापक प्रसार और इसके साथ ही आर्यसमाज के विरोध में उत्पन्न व्यापक आलोचना के भावों ने प्रशासन-तंत्र में इसके प्रति संदेह के बीज बो दिये। इसी संदेह-भाव के कारण आर्यसमाज के सदस्यों को एकाधिक बार अधिकारीवर्ग के क्रोध का शिकार बनना पड़ा जो निर्वासन, प्रपीड़न तथा राज्यसेवा से निलम्बन आदि के रूप में व्यक्त हुआ।

aryasamajjamnagar.org

समस्या के दोनों पहलुओं की एक स्पष्ट तस्वीर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए यह आवश्यक है कि हम यहाँ उन लेखों के उद्धरणों को बहुलता से उद्धृत करें जिनके लेखकों ने आर्यसमाज को एक राजनीतिक तथा ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलन के रूप में चित्रित करने का दुर्भावनापूर्ण प्रयास किया है। हम इस कार्य का आरम्भ एक ऐसे व्यक्ति के लेखों से करेंगे जो आर्यसमाज का प्रबल तथा कठोर आलोचक होने के साथ-साथ अंग्रेजी के पत्रों में सामयिक

विषयों पर लिखनेवालों में उच्च स्थान रखता है। 'लंदन टाइम्स' के विशेष संवाददाता के रूप में सर वैलेन्टाइन शिरोल ने १९०७—१० के बीच भारत की यात्रा की तथा भारतीय असंतोष पर उसने एक लेखमाला प्रकाशित की जो ब्रिटिश द्वीपसमूहों में व्यापक रूप से पढ़ी गई तथा प्रशंसित हुई। इसके स्वल्प समय पश्चात् लेखक को 'सर' का खिताब प्रदान किया गया। यही लेखमाला कालान्तर में पुस्तकरूप में प्रकाशित हुई जिसे भारत-सचिव लॉर्ड मॉर्ले को समर्पित किया गया था। भारत की राजनीतिक अशान्ति के उन दिनों में लॉर्ड मॉर्ले इस पद पर कार्य कर रहे थे। इस पुस्तक में पूरा एक अध्याय आर्यसमाज के सम्बन्ध में लिखा गया है, परन्तु इससे पूर्व कि हम शिरोल के लेखों की आलोचना करें, हम यह आवश्यक समझते हैं कि पाठकों को सर वैलेन्टाइन द्वारा भारतीय असन्तोष के प्रश्न पर प्रस्तुत किये गए सामान्य निष्कर्षों से अवगत करा दें।

सर वैलेन्टाइन शिरोल की यह धारणा है कि भारत में व्याप्त सर्वाधिक खतरनाक असन्तोष का भाव वह है जो व्यवहारतः हिन्दुओं तक सीमित है।[१] इसलिये इसे भारतीय असन्तोष कहने की अपेक्षा 'हिन्दू असन्तोष' कहना अधिक उपयुक्त है। इसके मूल में पाश्चात्य समाज के उन सभी सिद्धान्तों के प्रति, जिन्हें इंग्लैण्ड जैसे प्रजातंत्रवादी देश ने सुप्रतिष्ठित किया है, हिन्दुओं के हृदय में गहराई से निबद्ध विरोध की भावना है। इन दोनों उपपत्तियों को प्रस्तुत करने में सर वैलेन्टाइन ने कितनी बड़ी भूल की है—यह उन घटनाओं से पूर्णतः सिद्ध हो जाता है जो इस लेखमाला के लेखन के पश्चात् घटित हुई हैं।

aryasamajjamnagar.org

आर्यसमाज के बारे में चर्चा का आरम्भ करते हुए सर शिरोल ने लिखा है कि दयानन्द की शिक्षाओं का पूर्ण अभिप्राय हिन्दूधर्म का सुधार करना नहीं है, अपितु वे उन विदेशी प्रभावों का प्रतिरोध करना सिखाती हैं, जो उनके मतानुसार हिन्दू धर्म को राष्ट्रभावना का विरोधी बनाते हैं। अपने कथन की पुष्टि में उसने स्वामी दयानन्द के लेखन के कतिपय उन तथाकथित अंग्रेजी में अनूदित अंशों को बिना किसी प्रसंग या संदर्भ का संकेत किये प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही शिरोल ने आर्यसमाज द्वारा किये गए उपयोगी सामाजिक कार्यों

---

१. 'इंडियन अनरेस्ट', पृष्ठ ५

की भी चर्चा की है तथा अन्त में लिखा है, "इन तथा इसी प्रकार के अन्य परम्परा से भिन्न विचारों ने प्रथम तो पौराणिक हिन्दुओं में स्वामी दयानन्द के प्रति प्रबल विरोधी भाव को उभारा, जिसके परिणामस्वरूप हिन्दुओं ने इस आर्य सुधारक से सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का विच्छेद कर लिया। परन्तु यहाँ यह स्मरण रखने योग्य बात होगी कि भारत के अन्य भागों में समाज-सुधार की भावना पश्चिमी प्रभुत्व के साथ जुड़ी रही। परिणामस्वरूप जब ब्रिटिश प्रभुता के विरोध में प्रतिक्रिया जागृत हुई तो यह सुधार-आन्दोलन भी दुर्बल होकर समाप्ति की ओर अग्रसर होने लगा। परन्तु पंजाब में यह सुधार-आन्दोलन आर्यसमाज की उन राजनीतिक कार्यवाहियों के साथ जुड़ गया जिसने 'आर्यावर्त आर्यों के लिए' का नारा दिया था। अथवा यह कहना होगा कि आर्यसमाज के उन प्रमुख नेताओं ने, जिन्होंने पिछले वर्षों में ब्रिटिश-विरोधी आन्दोलनों में प्रमुख रूप से भाग लिया है, हिन्दू पौराणिक समुदाय से सहिष्णुता तथा मैत्री-भाव भी किसी सीमा तक अर्जित करने में सफलता प्राप्त कर ली है, जबकि सामान्यतया आर्यसमाज की सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण ऐसा करने में कठिनाई होती। भारतीय असन्तोष की समस्या ने जिन अनेक असंगतियों को प्रस्तुत किया है, उनमें से एक विसंगति यह भी है कि यह आर्यसमाज जो अपने समाज-सुधार के कार्यों में पश्चिमी प्रभावों से पर्याप्त प्रभावित हुआ है, एक ऐसे राजनीतिक आन्दोलन के साथ भी गहराई से जुड़ गया है जो ब्रिटिश शासन के विरोध में जारी किया गया है।"

aryasamajjamnagar.org

२. सर वैलेन्टाइन शिरोल बनाम आर्यसमाज

सर वैलेन्टाइन शिरोल ने जिन तथ्यों की सहायता लेकर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं, वे संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—

१. १९०७ में रावलपिंडी में हुए दंगों में आर्यों का प्रमुख हाथ था।

२. हिंसा के विस्फोट के पूर्व के दो वर्षों में ब्रिटिश शासन के विरोध में जो प्रबल हिंसात्मक प्रचार प्रारम्भ किया गया उसमें दो प्रमुख आर्यसमाजियों—लाला लाजपतराय तथा सरदार अजीतसिंह का हाथ था।

३. एक अन्य आर्य भाई परमानन्द के विरुद्ध जो कानूनी कार्यवाही की गई उसके अन्तर्गत १९०५ में अपने इंग्लैण्ड-निवास के दौरान भाई परमानन्द

के नाम लिखे गए लाजपतराय के उन पत्रों को प्रस्तुत किया गया, जिनमें हिन्दुस्तानी छात्रों को कुछ राजनीतिक कार्य करने की प्रेरणा दी गई थी तथा पंजाब की राजनीतिक परिस्थितियों के सम्बन्ध में कुछ विचार व्यक्त किये गए थे।

४. इन्हीं भाई परमानन्द के पास बम बनाने के कुछ नुस्खे बरामद किये गए थे।

५. पटियाला में षड्यंत्रकारी कार्यों के लिए ७६ आर्यसमाजियों पर मुकद्दमा चलाया गया तथा इस अभियोग में आर्यसमाज पर लगाए गए आरोप इतने गम्भीर समझे गए थे कि आर्यों के ही एक प्रमुख सदस्य (वकील) को[१] इन अभियुक्तों के बचाव में प्रस्तुत होना पड़ा था।

६. यह दूसरी बात है कि अभियोग लगानेवालों के वकील को अपराध साबित करने में साक्षियों के प्रस्तुतीकरण में कहाँ तक सफलता मिली, परन्तु सर्वसाधारण की यह धारणा बनती है कि निश्चित ही ये अपराध गम्भीर कोटि के रहे होंगे, कारण कि ज्योंही अभियोग दायर किया गया, अपराधियों ने महाराजा की सेवा में दया का प्रार्थनापत्र प्रस्तुत किया तथा स्वयं के किसी कार्य से उत्पन्न हुई ग़लतफ़हमी के लिए क्षमायाचना भी की। साथ ही उन्होंने अराजकतावादियों तथा षड्यन्त्रकारियों के प्रति अपनी घृणा एवं वितृष्णा प्रमाणित की। इस पर महाराजा ने अभियोग की कार्यवाही को रोक देने के आदेश दिये, परन्तु अभियुक्तों को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया तथा उनके स्थान पर राज्य के अन्य कर्मचारियों की नियुक्ति कर दी। बहुत कम मामलों में इन सज़ाओं में बाद में छूट मिली थी।

aryasamajjammagar.org

७. श्यामजी कृष्ण वर्मा, जिन्हें आर्यसमाज के संस्थापक ने अपने जीवनकाल में अपनी उत्तराधिकारिणी सभा का न्यासी तथा उसकी प्रबंधकारिणी सभा का सदस्य नियुक्त किया था, उन्होंने कहा था कि राजनीतिक जागरण की दृष्टि से जितने आन्दोलन भारत में कार्यरत हैं, उनमें आर्यसमाज

---

१. लाला मुन्शीराम ने पटियाला षड्यंत्र केस में आर्यसमाजी अभियुक्तों का बचाव किया था।
—अनुवादक

सर्वाधिक शक्तिशाली है। साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट किया था कि आर्यसमाज के प्रवर्तक ने एक आदर्श समाज के रूप में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र तथा स्वाधीन राष्ट्रीय सरकार की कल्पना की थी।

अब हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि उपर्युक्त प्रस्तुत किये गए तथाकथित तथ्यों में अनेक सर्वथा मिथ्या हैं तथा अन्यों में आंशिक सत्य है। अतः यह कहा जा सकता है कि सर वैलेन्टाइन शिरोल के स्तर के लेखक ने अपने द्वारा प्रस्तुत उद्धरणों में अध्याय तथा अवतरणों को प्रस्तुत नहीं किया है। वह इस बात का भी दोषी है कि उसने उन तथ्यों को भी छिपा लिया है जो उसकी जानकारी में थे तथा जिनके द्वारा उन घटनाओं पर भिन्न प्रकाश पड़ता जिनको उसने विश्वसनीय माना है। उसने उन साक्षियों की उपेक्षा की है, जो उसके द्वारा प्रस्तुत बातों के आधार को ही हिला देती हैं।

३. सर वैलेन्टाइन शिरोल के आक्षेपों के उत्तर

वास्तविकता इस प्रकार है—

१. रावलपिंडी के दंगों के उन सभी तथाकथित आर्य मुखियाओं को, आई०सी०एस० के वरिष्ठ सदस्य यूरोपीय न्यायाधीश ने, जिसने कि इन मामलों की जाँच की थी, सर्वथा निर्दोष जानकर मुक्त कर दिया था। उसने अपने निर्णय में यह भी स्पष्ट किया था कि अभियोग-पक्ष की ओर से प्रस्तुत की गई सभी साक्षियाँ झूठी तथा बनावटी हैं। इस फैसले का सरकार की ओर से कोई प्रतिवाद नहीं किया गया। जब सर शिरोल ने इन लेखों को लिखा तो उसे इन तथ्यों की जानकारी होनी आवश्यक थी।

aryasamajjamnagar.org

२. सरदार अजीतसिंह के आर्यसमाज से सम्बन्ध का प्रतिवाद प्रमुख आर्यसमाजियों ने किया है। उसने अपने आर्य होने की कभी घोषणा नहीं की तथा इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि वह कभी आर्यसमाज का सदस्य बना था। तथ्य यह है कि १९०७ की हिंसा भड़कने के दो वर्ष पूर्व तक वह अनीश्वरवादी था तथा उसने नास्तिक होने के अपने विश्वास को कभी नहीं छिपाया। इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि १९०७ के पूर्व उसने कभी किसी प्रकार के राजनीतिक प्रचार में भाग लिया था, हिंसापूर्ण प्रचार में तो कदापि नहीं। इस तथ्य की पुष्टि इस बात से भी

होती है कि १९०७ से पूर्व सरकार ने भी कभी उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। समाचारपत्रों अथवा पुलिस को भी उसकी कोई जानकारी नहीं थी और वह अंग्रेज अधिकारियों, नागरिकों तथा सैनिकों एवं यूरोपीय महिलाओं को भारतीय भाषाएँ सिखाकर अपनी आजीविका चलाता था। उसके देश छोड़ने पर १९१० में जो आरोप उस पर लगाए गए, वे १९०७ तथा उसके पूर्व की घटनाओं से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते। ये सभी तथ्य उस समय जनता के समक्ष आ चुके थे जब सर वैलेन्टाइन शिरोल अपनी पुस्तक लिख रहे थे।

३. जहाँ तक लाजपतराय का सम्बन्ध है, यह ध्यातव्य है कि—

(अ) उस पर कभी मुकद्दमा नहीं चलाया गया।

(आ) उसके बार-बार यह कहने पर कि देश से निर्वासित किये जाने के कारण उसे बताए जाएँ, इन कारणों को कभी स्पष्ट नहीं किया गया।

(इ) यहाँ तक कि सर वैलेन्टाइन शिरोल, भारत सरकार के सम्पूर्ण तंत्र की सहायता प्राप्त करके भी लाजपतराय के भाषणों तथा लेखों से ऐसे उद्धरण प्रस्तुत नहीं कर सके, जो उसके बारे में दिये गए बयानों को पुष्ट कर सकें।

aryasamajjamnagar.org

(ई) यहाँ तक कि लॉर्ड मॉर्ले भी लाजपतराय के तथाकथित दोषों को प्रमाणित नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने अपने संशोधित भाषणों के पुस्तकाकार प्रकाशित संस्करण में लाजपतराय के विरुद्ध लगाए गए इन सभी आरोपों को पृथक् कर दिया है, जो उन्होंने १९०७ में उसे निर्वासित किये जाने की नीति को न्यायपूर्ण बताते हुए हाउस ऑफ कॉमन्स में प्रस्तुत किये थे।

(उ) लाजपतराय ने भारत तथा इंग्लैण्ड की सर्वोच्च अदालतों में उन शक्तिशाली पत्रकारों के विरुद्ध अभियोग चलाकर तथा उनसे न्यायिक फैसले लेकर अपने राजनीतिक चरित्र की निर्दोषिता प्रमाणित कर दी है।

(ऊ) लाजपतराय ने अपनी राजनीतिक धारणाओं को कभी नहीं छिपाया, यहाँ तक कि एक स्थान पर सर वैलेन्टाइन शिरोल ने भी उसकी स्पष्टवादिता को स्वीकार किया है।

(ए) सर्वोच्च कोटि के भारतीयों ने (जिनमें से अनेक सरकार के विश्वास-भाजन भी हैं) जिनकी सत्यनिष्ठा निर्विवाद है तथा जो निर्दोष चरित्र हैं, निर्वासन से पूर्व तथा पश्चात् लाजपतराय से सार्वजनिक रूप से अपने सम्बन्ध रखे हैं तथा नितान्त स्पष्ट शब्दों में उसके समर्थन में लिखा तथा कहा है।

(ऐ) भाई परमानन्द के अभियोग के सिलसिले में उसके पत्रों के कतिपय चुने हुए उद्धरणों को जिस प्रकार प्रसंगहीनता के साथ प्रस्तुत किया गया था, उनका पूर्ण समाधान उसी अभियोग के दौरान लाजपतराय ने शपथपूर्वक कर दिया था। उसकी इस सफाई का किसी भी प्रकार से कोई प्रतिवाद अदालत अथवा सरकारी अभियोक्ता ने नहीं किया था।

४. भाई परमानन्द ने इस बात से सर्वथा इन्कार किया है कि उसके पास बम बनाने के कोई नुस्खे थे। यह दूसरी बात है कि अदालत ने इसे स्वीकार नहीं किया।

aryasamajjamnagar.org

५-६. पंजाब में यह एक सर्वविदित बात है कि पटियाला-अभियोग एक अवकाशप्राप्त ब्रिटिश पुलिस-अधिकारी के अत्युत्साह का परिणाम था। राज्य ने भी इस अभियोग को इसी धारणावश आरम्भ किया था कि सम्भवतः इसके कारण ब्रिटिश सरकार संतुष्टि अनुभव करेगी। परन्तु ज्यों ही यह ज्ञात हुआ कि जो गम्भीर आरोप लगाए गए हैं उनकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं है, यहाँ तक कि आर्यसमाज के सबसे बड़े शत्रुओं में से एक पंजाब के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर लुइस डेन ने भी आर्यसमाज पर लगाए गए षड्यंत्रकारी प्रवृत्तियों में लिप्त होने के सभी आरोपों से उसे मुक्त कर दिया है, तो महाराजा ने भी मुकद्दमे की कार्यवाही को रोकने में रुचि दिखाई। जिस प्रार्थनापत्र की ओर सर वैलेन्टाइन शिरोल ने संकेत किया है, वह राज्य सरकार तथा अभियुक्तों के बीच में हुए एक करार के परिणामस्वरूप दिया गया था, परन्तु उसमें प्रतिवादियों द्वारा अपराध की स्वीकृति अथवा उन पर लगाए गए आरोपों के सत्य होने के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं था। निष्कासन का आदेश तो अभियोक्ता-पक्ष द्वारा अपने-आपको सुर्खरू रखने का

प्रयास-मात्र था। प्रतिवादियों में से अनेक को जिनमें कुछ ब्रिटिश भारत के निवासी थे तथा कुछ अन्यों को भी, राज्य में पुनः प्रवेश की आज्ञा मिल गई है। इनमें से कुछ राज्य में हैं, जिसने उन्हें नाममात्र के लिए निर्वासित किया था। वस्तुतः हमारे सामने राज्य के किसी एक भी मूल निवासी का नाम नहीं है जिसके खिलाफ निर्वासन का यह आदेश अभी भी लागू हो। परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस अभियोग का मुख्य अभियुक्त जो आर्यसमाज पटियाला का प्रधान था, तथा जो राज्य की सेवा में ब्रिटिश भारत के उच्च अधिकारी (जन-कार्य विभाग में अधिशासी अभियंता) के रूप में लाया गया था, आज भी अपने पद तथा अन्य वित्तीय सुविधाओं को प्राप्त करता हुआ ब्रिटिश सरकार की सेवा में है।[1] यह सारा विवरण सर वैलेन्टाइन शिरोल को ज्ञात होना चाहिए, क्योंकि जब उसकी पुस्तक प्रकाशित हुई, तब तक ये सभी तथ्य जनता के समक्ष आ चुके थे। हम इतना और कह दें कि विचाराधीन अधिकारी को अपने निलम्बन-काल में, जब तक कि अदालत का निर्णय घोषित नहीं हो गया, उस अवधि का पूर्ण वेतन मिलता रहा तथा प्रशासकीय दृष्टि से उसके मामले का निर्णय स्वयं गवर्नर जनरल ने किया।

७. श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा के बारे में तथ्य निम्न प्रकार हैं—

१८८१ या १८८२ में जब स्वामी दयानन्द ने अपने वैदिक यंत्रालय की प्रबंध-समिति का उन्हें न्यासी बनाया, उस समय तक श्यामजी कृष्ण वर्मा ने अपनी राजनीतिक विचारधारा को अभिव्यक्त नहीं किया था। स्वामी दयानन्द ने अपने वसीयतनामा में आर्यसमाज के संचालन के लिए कोई न्यास नहीं बनाया था। उन्होंने तो यह न्यास केवल उस सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए बनाया था जो उनके अधिकार की थी, जो सार्वजनिक हित-सम्पादन के लिए उन्हें दान-रूप में मिली थी तथा जिस पर उनका पूर्ण नियंत्रण था। इस न्यास में अनेक ऐसे लोग न्यासी के रूप में लिये गए थे जो कभी आर्यसमाज से सम्बन्धित नहीं रहे। उदाहरणार्थ, बम्बई उच्च न्यायालय के न्यायाधीश न्यायमूर्ति

१. ज्वालाप्रसाद थे जिनके पुत्र श्री धर्मवीर स्वाधीन भारत में आई०सी०एस० के उच्चतम अधिकारी तथा राज्यपाल बने। (सम्पादक)

रानडे। उस समय श्री वर्मा एक देशी राज्य में उच्च अधिकार पर थे तथा उसके बाद भी वर्षों तक वे उच्च ब्रिटिश अधिकारियों के विश्वासपात्र रहे—उन रियासतों के रेजिडेन्टों के, जहाँ उन्होंने कार्य किया, एजेन्ट टु दी गवर्नर-जनरल तथा अन्यों के भी। श्री वर्मा इस बात से इन्कार करते हैं कि वे कभी आर्यसमाज के नियमित सभासद रहे थे। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि अपने हित के लिए भारत छोड़ने से पूर्व सामान्य आर्यसमाजियों से साधारणतः तथा विशिष्ट आर्यजनों से विशिष्टतः उनके सम्बन्ध सीमातीत रूप से बिगड़ चुके थे। आर्यसमाज के सम्बन्ध में प्रकट किये गए श्री वर्मा के विचार वस्तुतः आर्यसमाज की अपनी धारणाएँ नहीं हैं, परन्तु उनके द्वारा व्यक्त किये गए वाक्य भी सर वैलेन्टाइन शिरोल के निष्कर्षों को न्यायोचित नहीं ठहराते। श्री वर्मा का एक कथन तो भविष्यवाणी के रूप में है तथा दूसरे में एक ऐसे "आदर्श" की बात कही गई है जो वास्तविकताओं से उतना ही भिन्न है जितना कि वह व्यावहारिक राजनीति से भी दूर है।

आर्यसमाज के सम्बन्ध में वैलेन्टाइन शिरोल की जिन धारणाओं की अभी हमने आलोचना की है, उनसे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण विचार उन ऐंग्लो-इंडियन अधिकारियों के द्वारा प्रकट किये गए हैं जो प्रशासन के कार्य में सतत संलग्न हैं तथा ब्रिटिश भारत की सरकार में विश्वस्त तथा दायित्वपूर्ण पदों का निर्वाह कर रहे हैं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय वह पत्र है जो १९१० में पंजाब के लेफ्टिनेंट गर्वनर सर लुइस डेन की ओर से पंजाब सरकार के मुख्य सचिव ने लिखा था, जिसमें यह स्पष्ट कर दिया गया था कि सरकार इस बात पर विश्वास नहीं करती कि एक संस्था के रूप में आर्यसमाज षड्यंत्रकारियों का गिरोह है अथवा वह राजनीतिक चरित्र रखती है।

आगरा तथा अवध के संयुक्त प्रान्तों के लेफ्टिनेंट गवर्नर सर जेम्स मेस्टन के विचार तो इससे भी अधिक स्पष्ट तथा प्रभावोत्पादक हैं। उनके विचार इस शंका को निर्मूल कर देते हैं कि सरकार की दृष्टि में आर्यसमाज कोई राजनीतिक संगठन है।

५. आर्यसमाज के समर्थन में अधिकारी-वर्ग की साक्षी

यहाँ हम उन कतिपय उत्तरदायी अधिकारियों की सम्मतियाँ उन्हीं के शब्दों में संदर्भ-सहित उद्धृत करेंगे—

aryasamajjamnagar.org

१८९१ की पंजाब की जनगणना की रिपोर्ट में सर एडवर्ड मैकलैगन (उस समय श्री मैकलैगन, आई०सी०एस०) ने लिखा था—"इस तथ्य के कारण कि आर्य लोग समाज के एक ही वर्ग से आर्यसमाज में प्रविष्ट होते हैं तथा आर्यसमाज का एक परिपूर्ण संगठन है, यह धारणा बनती है कि एक संस्था के रूप में यह समाज अपने सदस्यों के अधिकांश वर्ग की राजनीतिक प्रवृत्तियों का समर्थक होगा, परन्तु आर्यसमाज अपने संगठनात्मक रूप में राजनीतिक नहीं, बल्कि धार्मिक संस्था ही है।"

आगरा तथा अवध के संयुक्त प्रान्त के जनगणना-अधिकारी श्री बर्न, आई०सी०एस० ने उक्त प्रदेश की १९०१ की जनगणना-रिपोर्ट में लिखा—"यह तो सत्य है कि आर्य लोग भविष्य के राजनीतिज्ञ हैं, परन्तु यह कहना अत्यन्त संदेहास्पद है कि मात्र आर्य होने के कारण ही वे ऐसे हैं।"

इसी बिन्दु का श्री ब्लण्ट ने अपनी १९११ की संयुक्त प्रान्त की जनगणना-की रिपोर्ट में पुनः विवेचन किया है। हम यहाँ इस रिपोर्ट के एक लम्बे उद्धरण को बिना क्षमायाचना या संकोच के उद्धृत करना चाहते हैं—

aryasamajjammnagar.org

"बहुत समय पूर्व आर्यसमाज पर यह आरोप लगाया गया था कि वह एक राजनीतिक संस्था है, उसके लक्ष्य, उसकी अवधारणाएँ संदेहास्पद हैं, और कुछ समय पहले इसी आरोप की पुनरावृत्ति अधिक आग्रहपूर्वक की गई है। इस आरोप के मुख्य तीन कारण प्रतीत होते हैं—प्रथम, अनेक प्रमुख आर्य राजनीतिज्ञ हैं जिनके विचार संदेहमुक्त नहीं हैं।[१] द्वितीय बात यह है कि आर्यसमाज गोरक्षा के आन्दोलनों को दृढ़तापूर्वक समर्थन देता है! तृतीय कारण यह है कि आर्यसमाज अन्य धर्मों की अपरिष्कृत रीति से आलोचना करता है। जहाँ तक प्रथम आरोप का सम्बन्ध है, यह निस्सन्देह सत्य है। आर्यसमाज में अनेक[२] राजनीतिज्ञ हैं जिनमें से अनेक अच्छे और अनेक बुरे भी हैं।.....इसमें भी कोई संदेह नहीं है कि आर्यसमाज की शिक्षाओं में देश-भक्ति के आयाम भी हैं.....आर्य सिद्धान्त तथा आर्य शिक्षा समान रूप से प्राचीन भारत की

---

१. ऐंग्लो-इंडियनों की राय में तो सभी राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ संदेहास्पद हैं।

२. यदि 'अनेक' के स्थान पर 'कुछ' लिखा जाता तो अधिक सही था।

गरिमा के गीत गाते हैं और ऐसा करके वे अपने अनुयायियों में राष्ट्रीय गौरव का भाव भरते हैं। यह अनुभव कराया जाता है कि उनके देश का इतिहास अनवरत अवमानना एवं तिरस्कार की ही गाथा नहीं है। देशभक्ति तथा राजनीति यद्यपि पर्याय नहीं हैं, परन्तु राष्ट्रीय कार्यों में रुचि जागृत करना राष्ट्रीय गौरव के जागरण का ही स्वाभाविक परिणाम है। और एक बात यह भी है कि जिन लोगों में आर्य सिद्धान्तों के प्रति भी रुचि दीख पड़ती है, ये वे पठित एवं शिक्षित लोग हैं जो अपने देश की प्रगति के इच्छुक हैं। उन्हें उस गतानुगतिकता से बँधे हुए नहीं कहा जा सकता जो प्रायः पूर्वी देशों में पाई जाती है। अतः यह कतई आश्चर्यजनक नहीं है कि आर्यसमाज में राजनीतिज्ञ विद्यमान हैं। परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना समीचीन नहीं होगा कि आर्यसमाज समग्रतः एक राजनीतिक संस्था है। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज ने यह माना है कि उसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। उसने अपने विभिन्न नियमों में इस तथ्य की घोषणा की है तथा अपने सदस्यों को सक्रिय राजनीति में उतरने से निरुत्साहित किया है; आवश्यकता पड़ने पर स्पष्ट शब्दों में अपने राजनीति-कर्मियों के कामों को अस्वीकार किया है। स्थिति यह है कि किसी वृक्ष की परीक्षा उसके फलों से होती है तथा किसी समाज के बारे में धारणा उसके सदस्यों के कार्यों के आधार पर बनाई जाती है। सही या गलत जो भी निर्णय लिया जाता है, वह सभी परिस्थितियों में स्वाभाविक होता है, परन्तु मुझे यह अधिक स्वाभाविक लगता है कि किसी समाज के सामाजिक कार्यों तथा उसके व्यक्तिगत सदस्यों के कार्यों के बीच के अन्तर को सावधानी से परखा जाय। अथवा, एक अन्य सीमा यह हो सकती है कि समाज की पृथक्-पृथक् इकाइयों तथा उसके केन्द्रीय संगठन के कार्यों को भी पृथक्शः देखा जाय। इसमें भी प्रायः यही देखने को मिला है कि अधिकांश समाजों तथा उनके केन्द्रीय संगठन का दृष्टिकोण सदा औचित्यपूर्ण रहा है।''

इसके पश्चात् श्री ब्लण्ट श्री बर्न की सम्मति उद्धृत करते पुनः लिखते हैं— ''दस वर्ष के पश्चात् भी इस राय को बदलने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता, सिवाय इसके कि कोई व्यक्ति इस तथ्य को कम निर्णयात्मक शब्दों में प्रस्तुत करना चाहे तथा इसमें इतना और जोड़कर कहे कि अपने मूल रूप में आर्य सिद्धान्त उन सभी लोगों को आकृष्ट करता है जिन्हें राजनीति भी अपनी

ओर आकर्षित करती है; यह उस व्यक्ति को इतना सुदृढ़ एवं जागरूक बना देता है, जिससे वह राष्ट्रीय गतिविधियों में अभिरुचि ले सके। इतना कुछ इस विषय पर कह देने के पश्चात् और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। आर्यसमाज सामूहिक रूप में राजनीतिक संस्था नहीं है, सभी आर्य राजनीतिज्ञ नहीं, तथा जो आर्यसमाजी राजनीति में भाग लेते हैं वे भी निश्चित रूप से शासक के प्रति गैर-वफादारी नहीं सिखाते।''

दूसरे तर्क के सम्बन्ध में श्री ब्लण्ट लिखते हैं—''आर्यसमाज का गोरक्षा-आन्दोलन के साथ सम्बन्ध जोड़कर उसे बदनाम करना तो और भी तुच्छ तथा असंगत है।'' इसके पश्चात् भी ब्लण्ट गोरक्षा के संदर्भ में आर्यसमाज के संस्थापक व उसके सदस्यों की स्थिति का आकलन कर लिखते हैं—''सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि गोरक्षा का यह आन्दोलन संदिग्ध लोगों के हाथों में पड़ गया है। कभी-कभी उसे एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु अधिकांश हिन्दू धर्मानुयायियों के लिए गोरक्षा एक विशुद्ध धार्मिक प्रश्न है। कुछ आर्य धर्मावलम्बियों के लिए भी यह मसला धार्मिक प्रकृति का हो सकता है, परन्तु चाहे किन्हीं कारणों से वे उसका समर्थन करते हों, यह सोचना उचित नहीं होगा कि उनका यह समर्थन कपटपूर्ण अनवधानता का है।''

gyasamajjammagar.org

तृतीय बिन्दु के संदर्भ में श्री ब्लण्ट लिखते हैं—''दुर्भाग्यवश, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अन्य धर्मों के प्रति आर्यसमाज का दृष्टिकोण प्रायः आपत्तिजनक रहा है।.....परन्तु यह मसला भी राजनीति को केवल इसी बिन्दु पर ही स्पर्श करता है और वह यह है कि ईसाइयत के प्रति आक्रामक रुख रखनेवाले आर्यसमाज का ब्रिटिश सरकार के प्रति रवैया कहाँ तक आक्रामक रहा है। यह सत्य है कि आर्यसमाज को ईसाइयत के प्रसार से भय है। इस प्रश्न में कोई सार नहीं है कि क्या दयानन्द भी इस प्रकार के भय से ग्रस्त थे....इसमें आंशिक सचाई है कि वे यह मानते थे कि किसी भी विदेशी मत को स्वीकार करने अथवा उसके प्रति अनुकूलता रखने से उस राष्ट्रीय भावना को आघात पहुँच सकता है, जिसे वे लोगों में प्रचारित करना चाहते थे, परन्तु इससे अधिक और कुछ नहीं कहा जा सकता। ऐसा सोचने में कोई कारण नहीं है कि ईसाइयत पर प्रहार करते समय दयानन्द का विचार ब्रिटिश हुकूमत पर भी

हमला करने का रहा होगा, और यह भी याद रखना चाहिए कि स्वामी दयानन्द और उनके अनुयायी यदि ईसाइयत पर प्रहार करते हैं तो वे हिन्दू धर्म तथा इस्लाम पर भी आक्रमण करने में नहीं चूकते।''

५. नेताओं की स्थिति

राजनीति के इस प्रश्न पर आर्यसमाज के नेतागण जो स्थिति ग्रहण करते हैं, उसे अनेक व्याख्यानों एवं लेखों के विविध उद्धरणों के आधार पर प्रस्तुत किया जा सकता है। सर्वप्रथम हम आर्यसमाज के गुरुकुल-विभाग के सर्वमान्य नेता लाला मुन्शीराम[१] की उस वक्तृता को लेते हैं जो उन्होंने नवम्बर १९०७ में दी थी—

''आर्यसमाज वह संस्था है जो शान्ति की कला सिखाती है। .... मैं यह स्पष्ट कहता हूँ कि विश्व के सभी धर्मों में वैदिक धर्म ही एकमात्र सार्वभौम धर्म है। इसके सिद्धान्त विश्वजनीन तथा सभी के द्वारा स्वीकार किये जाने योग्य हैं जो बिना किसी भौगोलिक, नृतत्त्व-शास्त्रीय अथवा वर्ण-सीमारेखा के व्यापक संदर्भों में लागू होते हैं। क्रान्तियाँ, रक्तपात, अव्यवस्था, वंशगत दुर्भावना तथा जातिगत घृणा-भाव—ये सभी वास्तविक धर्म के प्रसार में बाधक हैं, अतः आर्यसमाज इनसे सदा विमुख रहा है।'' पुनः वे कहते हैं-''आर्यसमाज एक स्वाभिमानी धार्मिक संगठन है, जिसकी आर्य-प्रवृत्तियाँ पूर्णतया वैध हैं। राजनीति गृहस्थों के कर्तव्य-कर्म के अन्तर्गत आती है। आर्यसमाज अपने सामूहिक रूप में एक संन्यासी की हैसियत रखता है, इसलिये उसका राजनीति से सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसका राजनीति से सम्बन्ध रखना एक प्रकार से गृहस्थों के कार्य में दखल देने के तुल्य होगा।''

दूसरा उद्धरण हमने एक बृहद्काय ग्रन्थ से लिया है जिसका शीर्षक है 'आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रैक्टर्स'। यह गुरुकुल कांगड़ी से १९१० में लाला मुन्शीराम तथा प्रोफेसर रामदेव के संयुक्त लेखन में प्रकाशित हुआ है—

''वैदिक धर्म निश्चय ही विश्वधर्म है। वह यह प्रचारित करता है कि वेद का आविर्भाव सृष्टि के आरम्भ में सभी जातियों के लिए हुआ था। .... जब आर्यसमाज पुरातन भारत के गौरव-गीत गाता है तो राष्ट्रवादी शक्तियों को नवीन

---

१. जो बाद में स्वामी श्रद्धानंद के नाम से प्रसिद्ध हुए।

प्रेरणा एवं स्फूर्ति प्राप्त होती है। जिस युवा राष्ट्रवादी के कानों में बार-बार इस शोकजनक सूत्र का मंत्रोच्चार किया गया था कि भारत का इतिहास अनवरत तथा निर्बाध रूप से किये गए तिरस्कार एवं अपमान की दुःखद कहानी है, वही व्यक्ति आर्यसमाज द्वारा उच्चरित स्वदेश की गरिमा के इस गीत को सुनकर अपने सुप्त राष्ट्रीय गौरव को पुनः जागृत अनुभव करता है, उसकी आकांक्षाएँ स्फूर्त होती हैं।

"आर्यसमाज हमें भारतीय इतिहास के उस अत्यन्त पुरातनकाल तक ले जाता है जो पारसी, बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम के जन्म से भी पहले का है। राम और सीता, कृष्ण और अर्जुन हमारे राष्ट्रीय नायक एवं नायिकाएँ हैं जिनके शानदार कार्यों तथा धार्मिक प्रवृत्तियों को लेकर सभी भारतवासी जाति, वर्ग तथा वंश का कोई भेद किये बिना, समान रूप से गर्व का अनुभव कर सकते हैं। उपनिषद् तथा दर्शन एक विशिष्ट अर्थ में सभी भारतीयों की सामान्य विरासत हैं, चाहे वे अब किसी भी धर्म के अनुयायी हों। अतः वैदिकवाद का सहचर देशभक्ति का भाव सभी लोगों को एकात्मता के सूत्र में जोड़नेवाला है। पृथक्ता तथा विरोध की भावना को बढ़ाने की अपेक्षा यह भाव प्रेम तथा एकता के भावों को विकसित करता है। वैदिक धर्म राष्ट्रवादियों में अतीत के गौरव तथा भविष्य की आशा के भावों का संचार कर भारतीय राष्ट्रवाद का समर्थन करता है। वैदिकवाद स्वस्थ देशभक्ति के भाव को विकसित करता है जिसे मॉर्ले एवं मिण्टो जैसे कूटनीतिज्ञों ने भी सराहा है तथा वैध माना है।.....आर्यसमाज के ग़लत समझे जाने का एक दूसरा कारण भी है। वैदिक धर्म, उन अन्य सभी महान् धर्मान्दोलनों की भाँति, जिन्होंने विश्व को प्रभावित किया है, मात्र एक मत या विश्वास ही नहीं है, यह एक जीवन-दर्शन तथा जीवन-प्रणाली है। वेद हमें वैयक्तिक तथा सामाजिक आदर्श आचरण की शिक्षा देते हैं, साथ ही वे सामाजिक अनुशासन एवं राजनीति-दर्शन के आदर्शों को भी सिखाते हैं। यदि राजकीय महाविद्यालयों में प्राध्यापकगण अपने छात्रों को जॉन स्टुअर्ट मिल की 'लिबर्टी' तथा 'रेप्रेज़ेंटेटिव गवर्नमेंट', बेन्थम की 'थियरी ऑफ लेजिसलेशन', बेगहाट की 'फ़िज़िक्स एण्ड पॉलिटिक्स' तथा स्पेन्सर की 'मेन् वर्सस स्टेट' जैसी पुस्तकें पढ़ाते हैं तथा पढ़ने की प्रेरणा देते हैं और उन्हें कोई राजनीतिक आन्दोलनकर्ता नहीं समझता, तो कोई कारण नहीं कि उस आर्यसमाज को, जो

aryasamajjamnagar.org

सामाजिक पुनर्गठन तथा सामाजिक प्रशासन के वैदिक आदर्शों का उपदेश करता है, एक राजनीतिक संस्था समझा जाय।''

हमने तीसरा उद्धरण एक ऐसे लेखक के लेख से लिया है जो आर्यसमाज के दूसरे विभाग का प्रमुख सदस्य समझा जाता है। उसने इस लेख में एक ऐसी पुस्तक की समीक्षा लिखी है जो वस्तुतः उपन्यास की शैली पर लिखी गई है तथा जिसमें आर्यसमाज को एक षड्यन्त्रकारी संस्था के रूप में चित्रित किया गया था तथा उसकी अन्य संस्थाओं को षड्यंत्रकारी प्रचार का जनक माना गया था।

इससे पूर्व कि हम अपनी बात समाप्त करें, हम आर्यसमाज की स्थिति को सौवीं बार भी अत्यन्त स्पष्ट शब्दावली में व्यक्त करना चाहेंगे। मानसिक, नैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक बंधनों को दूर करना उसका प्रमुख उद्देश्य रहा है। मानव-प्रकृति में जो कुछ श्रेष्ठ है, आर्यसमाज उसका समर्थन करता है। यदि अपने देश तथा देशवासियों से प्रेम करना अच्छा है तो आर्यसमाज भी इसे अच्छा मानता है तथा अपनी इस धारणा के प्रति वह किञ्चित् भी लज्जित नहीं है। आर्यसमाज किन्हीं ठोस आधारों पर प्रगति करने का समर्थक है, अतः वह लोगों के चरित्र-निर्माण में लगा हुआ है। आर्यसमाज जो कुछ करता है, सार्वजनिक रूप से करता है। हमारे विद्यालय, हमारी बैठकें, हमारे सत्संग सभी खुले आम लगते हैं और हम लोगों को चुनौती देते हैं कि वह कोई एक भी ऐसा प्रमाण प्रस्तुत करें जिससे यह सिद्ध होता हो कि आर्यसमाज गुप्त तौर-तरीकों का प्रचारक है। वस्तुतः शिकायत तो यह है कि आर्यसमाज बहुत ही स्पष्टवादी तथा नितान्त बहिर्मुख है। वह सभी प्रकार की चापलूसी तथा दोहरे आचरण को निरुत्साहित करता है। भला, यदि इन्हीं सब बातों को स्वतन्त्रता की इच्छा कहा जाय तो उससे इन्कार करने का कोई कारण नहीं है।

यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि दयानन्द के अनुयायी इस बात को अस्वीकार नहीं करते कि स्वामीजी एक महान् देशभक्त थे। राजनीति-विषयक उनके निजी विचार सत्यार्थप्रकाश में व्याख्यात किये गए हैं। वे इस ग्रन्थ के आठवें अध्याय में कहते हैं—''विदेशी शासन चाहे कितना ही उदार, दयालु तथा न्यायपूर्ण क्यों न हो, लोगों को पूर्णतया सुखी नहीं बना सकता।'' इसी ग्रन्थ में वे अन्यत्र भारतीय शासकों की सर्वोच्च सामाजिक विशिष्टता, श्रेष्ठ सामाजिक

संस्थाओं, आत्मत्याग, सार्वजनिक भावना, साहस-भाव, बड़ों का आज्ञानुवर्ती होने तथा देशभक्ति की प्रशंसा करते हैं तथा स्वदेशवासियों को प्रेरणा देते हुए कहते हैं—इन्हीं श्रेष्ठ गुणों तथा ऐसे ही श्रेष्ठ कार्यों के आचरण के कारण यूरोपियनों की उन्नति हुई है।

६. एक नाज़ुक दौर

१९०७—१० की अवधि में आर्यसमाज एक गम्भीर परिस्थिति में से गुज़रा। कुछ समय के लिए वह उन राज्याधिकारियों के एकांगी एवं अविचारपूर्ण अत्याचारों का शिकार बन गया था, जिनसे यह अपेक्षा थी कि काश! वे इस संस्था के बारे में वस्तुस्थिति को सही रूप में समझ सकते। कुछ राजकीय कर्मचारियों को आर्यसमाज के सभासद अथवा सक्रिय सदस्य होने मात्र से ही सेवा-मुक्त कर दिया गया। एक सैनिक टुकड़ी के लिपिक के मामले में, जिसके साथ ऐसा ही व्यवहार किया गया था, यह स्वीकार किया गया कि इस व्यक्ति के सभी प्रमाणपत्र अच्छे हैं, किन्तु बाद में यह पाया गया कि 'वह आर्यसमाज का सदस्य है' और इस संस्था के सदस्य को सिक्ख रेजिमेंट के लिए अनुपयुक्त घोषित कर दिया गया।

aryasamajnagar.org

अन्य मामलों में लोगों को आर्यसमाज की सदस्यता त्यागने के लिए कहा गया। कुछ ने इस आदेश का पालन किया, किन्तु अन्यों को, इन्कार कर देने पर नौकरी से निकाल दिया गया। एक स्थान पर सेना की एक ब्रिगेड के सर्वोच्च अधिकारी ने आदेश प्रसारित किया कि सेना का कोई भी व्यक्ति आर्यसमाज अथवा किसी अन्य राजनीतिक संस्था की सभाओं में नहीं जा सकता। एक अन्य स्थान पर डौंडी पिटवाकर यह घोषणा की गई कि सम्राट् की आज्ञा से आर्यसमाज के धर्म से सम्बन्धित सारी पुस्तकें ज़ब्त की जाती हैं। यह दूसरी बात है कि जिस स्थान पर यह डौंडी पिटवाई गई थी, वहाँ के जिलाधीश ने प्रतिवाद करते हुए कहा कि इस घोषणा को किसी प्रकार से अधिकृत नहीं कहा जा सकता।

कुछ जिलों में आर्यों की गणना की गई तथा पुलिस-पंजिकाओं में उनके नाम संदेहास्पद व्यक्तियों के रूप में लिख लिये गए। इसी प्रकार प्रशासकीय विभागों में कार्यरत आर्यों की विशिष्ट सूचियाँ इसी प्रयोजन से बनाई गईं ताकि उन्हें इस आन्दोलन से अपना सम्बन्ध तोड़ने के लिए बाध्य किया जाय। अनेक

पिताओं को अपने पुत्रों को आर्य विद्यालयों से पृथक् कर लेने के आदेश दिये गए और धमकी दी गई कि यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो उन्हें अपनी नौकरियों से हाथ धोना पड़ेया। पुलिस प्रत्येक आर्यसमाजी पर सतर्क नजर रखती थी तथा आर्यसमाज के सभी प्रमुख नेताओं का गुप्तचर विभाग के लोग पीछा करते थे। आर्य जनता की वास्तविक भावनाओं को जानने के लिए एक व्यापक गुप्तचर-प्रणाली स्थापित की गई थी। एक प्रान्तीय सरकार ने तो आर्यसमाज-विषयक ब्यौरा एकत्रित करने के लिए उच्चस्तरीय जासूसी योग्यतावाले अधिकारियों को नियुक्त किया था।

अन्ततः यह जान लिया गया कि इस बात में कोई तथ्य नहीं है कि आर्यसमाज का संगठन सरकार के प्रति कोई अनिष्टकारी षड्यंत्र की रचना कर रहा है। अतः आर्यसमाज के प्रति समझौते की नीति प्रवर्तित करने का निर्णय लिया गया और इसका श्रेय लॉर्ड हार्डिंग तथा सर मेस्टन को है। ❑

aryasamajjamnagar.org

अध्याय १४

उपसंहार : निष्कर्ष

१. क्या आर्यसमाज ईसाई बन जाएगा?

शत्रु एवं मित्र सभी इस बात से सहमत हैं और मानते हैं कि आर्यसमाज एक महान् आदोलन है तथा खास तौर से उत्तर भारत पर उसका बड़ा प्रभाव है। आगरा तथा अवध के श्री ब्लण्ट, आई०सी०एस० ने १९१२ में लिखते हुए आर्यसमाज को विगत ५० वर्षों में भारत का सबसे बड़ा धर्मान्दोलन कहा है।[१] सर हर्बर्ट रिसले उसे अपने युग का विशिष्टतम आन्दोलन मानते हैं।[२] १९०२ में संयुक्त प्रान्त के श्री बर्न आई०सी०एस० ने आर्यसमाज को इस प्रान्त का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हिन्दू-आन्दोलन बताया था।[३] १८९१ में जनगणना-विवरण लिखते समय सर एडवर्ड मैकलैगन (उस समय श्री मैकलैगन) ने आर्यसमाज को पंजाब के आधुनिक मतों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कहा था। सर हैनरी कॉटन ने अपनी पुस्तक 'न्यू इण्डिया' में आर्यसमाज-आन्दोलन के इतिहास को हिन्दू चिन्तन के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा रोचक अध्याय के रूप में चित्रित किया।[४]

aryasamajjamnagar.org

सर हर्बर्ट रिसले की सम्मति में "यह एक विचारणीय तथ्य है कि हिन्दू सम्प्रदाय का वह आन्दोलन जो पठित वर्ग के व्यक्तियों को सर्वाधिक आकृष्ट करता है, ईसाइयत के विरुद्ध है। यह आन्दोलन न केवल ईसाई प्रचारकों के धर्म-परिवर्तन के प्रयासों का प्रतिरोध करता है, अपितु यह ईसाई बने हुए कुलीन हिन्दुओं को पुनः हिन्दू धर्म में प्रविष्ट भी करता है।" अपनी इसी पुस्तक में वे आगे लिखते हैं—"आर्यसमाज शिक्षित हिन्दू के समक्ष सर्वांगीण एवं व्यापक सिद्धान्तों का एक ऐसा दर्शन प्रस्तुत करता है जो भारतीय परम्परा तथा शास्त्रों के अनुकूल है। उसके पास सामाजिक तथा शैक्षिक उन्नति की ऐसी

---

१. 'संयुक्त प्रान्त की जनगणना की रिपोर्ट', १९११, पृष्ठ १२९

२. 'दी पीपल्स ऑफ इण्डिया', पृष्ठ २४५

३. 'संयुक्त प्रान्त की जनगणना की रिपोर्ट', १९०१, पृष्ठ ८२

४. 'न्यू इंडिया' सर हैनरी कॉटन, पृष्ठ २७८

योजनाएँ हैं, जिनके अभाव में वास्तविक प्रगति असम्भव है।''[१]

सुधार के जोश तथा देशभक्ति के उत्साह से परिपूर्ण हिन्दू धर्म के इस पुनर्जागरण को ईसाइयत के प्रचारक पठित वर्गों में अपने धर्मप्रचार के मार्ग में एक भयंकर बाधा समझ सकते हैं। तब यह अस्वाभाविक नहीं है कि आर्यसमाज को ईसाई प्रचारकों से ही सर्वाधिक निर्मम आलोचना तथा कटुतम विरोध का सामना करना पड़ा हो। १९१० में एडिनबरा में सम्पन्न हुई 'विश्व मिश्नरी कान्फ्रेंस' ने आर्यसमाज को आधुनिक हिन्दू आन्दोलनों में प्रमुख माना था—कार्य और प्रभाव दोनों दृष्टियों से, साथ ही इसे भारत में ईसाइयत के प्रचार में प्रमुख बाधा के रूप में भी स्वीकार किया गया था।[२] यह उन लोगों के मनोविज्ञान की भी व्याख्या करता है जिन्होंने इस आन्दोलन के जल्द ही समाप्त हो जाने की भविष्यवाणी की थी। कुछ अन्य लोगों की, जिनमें ईसाई मिश्नरी भी थे, यह धारणा थी कि यह आन्दोलन ईसाइयत का मार्ग प्रशस्त कर रहा है। ऐसे लोगों में से एक इलाहाबाद के रेवरेण्ड हालैण्ड ने कहा है कि आर्यसमाज बिना उपयुक्त समाधान किये जिन आदर्शों का प्रचार कर रहा है तथा उसकी व्यवस्था में जो स्पष्ट अन्तर्विरोध हैं, वही यह सूचित करता है कि निकट भविष्य में यह संस्था ईसाइयों की गोद में आ पड़ेगी।[३]

एक अन्य ईसाई लेखक श्री फ्रैंक लिलिंगटन लिखते हैं—

''आर्यसमाज ने एक ऐसी स्थिति धारण कर ली है जो दिनों-दिन स्पष्ट रूप से अविश्वसनीय-सी लगती है। इस बात को मानने के बहुत अच्छे कारण हैं कि ज्यों ही ईसाइयत का विश्वजनीन रूप व्यक्त होगा, आर्यसमाज की स्थापना में कारणभूत पूर्वाग्रह समाप्त हो जाएँगे और ईसाइयत से उसका प्रतिरोध भी समाप्त हो जाएगा।'' जिन क्षीण आधारों पर इस प्रकार की धारणाएँ बनाई गई हैं, उन्हें निम्न संदर्भ में समझा जा सकता है जिसे श्री फ्रैंक लिलिंगटन ने अपनी पुस्तक के ११२वें पृष्ठ की पाद-टिप्पणी में प्रस्तुत किया है—''वे आर्यसमाजी स्पष्ट रूप से अपने-आपको हम ईसाइयों का शत्रु घोषित करते हैं,

---

१. 'दी पीपल्स ऑफ इण्डिया', पृष्ठ २४४-४५

२. उक्त सम्मेलन का विवरण, Vol I, पृष्ठ १७

३. वही, पृष्ठ १७

परन्तु वे अधिकांश लोगों की अपेक्षा यह अधिक स्पष्ट रूप से मानते हैं कि मनुष्य में पाप की प्रवृत्ति स्वाभाविक है और मुक्ति प्राप्त करने के लिए कठोर प्रयत्न आवश्यक है। ..... में आर्यसमाज की एक शाखा स्थापित हुई है जिसे मैं अपने प्रयत्नों का ही परिणाम मानने के लिए विवश हूँ। मेरी धारणा है कि यह एक आगे बढ़ने का प्रयत्न है तथा बिना क्रॉस को स्वीकार किये ईसाइयत को स्वीकार करने का प्रयास है।''

परन्तु उपर्युक्त उद्धृत बयानों का कोई मूल्य नहीं है। वे कल्पनाप्रसूत हैं तथा लेखकों के दिवास्वप्न हैं। अपने ग्रंथ के उपसंहारात्मक अध्ययन में लिलिंगटन ने भविष्यवाणी की है—''आर्यसमाज के रूप में ईसाई प्रचारकों का एक सुस्पष्ट शत्रु उभरा है। परन्तु ज्यों-ज्यों उनके ज्ञान में वृद्धि होगी और ईसाइयों का भ्रातृ-तुल्य स्नेह लोगों के दिलों को गरमाएगा तथा उनके मस्तिष्कों को उद्भासित करेगा, त्यों-त्यों वे हमारे सौजन्य के वशवर्ती होकर ईसाई बनने के लिए उत्सुक होंगे।'' श्री बर्न ने इन उद्धरणों तथा इन आशापूर्ण उक्तियों की अधिक गहराई से परीक्षा की थी तथा कहा—''इस दृष्टिकोण में कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर ईसाइयत का प्रभाव पड़ा है। १९वीं शताब्दी में ईसाइयत ने भारत में पर्याप्त प्रगति की थी तथा इसकी सफलता ने लोगों को अपने मत-विश्वासों की तर्कपूर्ण परीक्षा करने की प्रेरणा दी थी। परन्तु मैं आर्यसमाज के सिद्धान्तों में ऐसा कुछ नहीं देखता जो प्रत्यक्षतया अन्यों से (ईसाइयों से) ग्रहण किया गया है अथवा उनके अनुकरण पर स्वीकार किया गया है, जैसा कि अन्य सुधारवादी आन्दोलनों में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। ईसाइयत के प्रति आर्यसमाजियों का रवैया मूर्तिभंजक का ही अधिक है, न कि धार्मिक दृष्टि से किसी प्रकार की समानता का।'' पुनः श्री बर्न आर्यसमाज एवं ब्रह्मसमाज की तुलना करने के पश्चात् अपने निष्कर्ष को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—''अनेक मिश्नरियों द्वारा व्यक्त इस विश्वास में मुझे किंचित् मात्र भी सत्यता प्रतीत नहीं होती कि आर्य लोग ईसाई बनकर अपने को समाप्त कर लेंगे।''[१]

भारत की परिस्थितियाँ इतनी अस्थिर हैं तथा उन्हें प्रभावित करनेवाले

---

१. संयुक्त प्रान्त की जनगणना रिपोर्ट, १९०१, पृष्ठ ८८-९०

तत्त्व इतने अधिक जटिल, विविधतापूर्ण तथा असंख्य हैं कि भविष्य के बारे में बहुत दूर तक जाकर कहना बड़ा कठिन है। किसी पैग़म्बर की भूमिका ग्रहण कर भविष्यवाणी करने के गुणों का हममें सर्वथा अभाव है। एक भारतीय, एक हिन्दू तथा एक आर्यसमाजी होने के नाते व्यक्तिगत रूप में हम आशा करते हैं कि हिन्दू लोग अपने पूर्वजों के धर्म के प्रति पूर्ण आस्थावान् रहेंगे तथा वे अपने राष्ट्रीय चरित्र को पूर्णतया बदल नहीं देंगे, जैसा कि उनके ईसाई बन जाने से सम्भव है। परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ईसाइयत के पक्ष में शक्तिशाली प्रभाव कार्यरत हैं। इस तथ्य को अस्वीकार करना निरर्थक है कि ईसाइयत अपनी नींव मजबूत कर रही है। यह सुनकर संतुष्ट हो जाना उचित नहीं है कि पंजाब में ईसाइयों द्वारा किया जानेवाला धर्मान्तरण मात्र दलित जातियों तक ही सीमित है।''[१] सचाई यह है कि ईसाई प्रचारकों को निम्न वर्ग के लोगों के अतिरिक्त ईसाई बनने के लिए और कोई मिलता ही नहीं है।[२] फिर यह भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि धर्म-परिवर्तन कराने में उनका सबसे बड़ा अस्त्र तो वे बहुविध सुविधाएँ हैं जो ईसाई बननेवालों के लिए प्रस्तुत रहती हैं। भारत जैसे दरिद्रता-ग्रस्त देश में, जहाँ प्रायः दुष्काल पड़ते हैं, भूकम्प, बाढ़ें तथा अन्य दैवी प्रकोप होते रहते हैं, किसी धर्म-प्रचारक के लिए अपने धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के समर्थन में उसके द्वारा गरीबों को दी जानेवाली सहायता-सामग्री ही एक शक्तिशाली प्रमाण है। यह सब सत्य है, परन्तु हिन्दू सुधारक जिस बात से सबसे अधिक भयभीत होता है, वह है उस पर लगाए जानेवाला राजनीतिक होने का लांछन।

aryasamajjamnagar.org

हम यह देख चुके हैं कि आर्यसमाज को ब्रिटिश-विरोधी मानने का एक प्रमुख कारण उसका ईसाइयत-विरोधी होना है। १९०१ की संयुक्त प्रान्त की जनगणना-रिपोर्ट में श्री बर्न ने यह माना है कि ईसाइयत का भारत में भविष्य उसके आध्यात्मिक पहलू से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।

हमने स्वयं भारतीयों के मुख से प्रत्यक्षतया यह कहते सुना है कि राजनीतिक एकता तथा राजनीतिक प्रगति के लिए सम्पूर्ण भारत को ईसाई बन

---

१. पंजाब की जनगणना रिपोर्ट, १९९१, पृष्ठ १९१

२. संयुक्त प्रान्त की जनगणना रिपोर्ट, १९११, पृष्ठ १४५

जाना चाहिए। इस परामर्श में जो कूटनीतियुक्त धूर्तता है, इसकी निंदा की जानी चाहिये; किन्तु इस प्रकार के सुझावों के महत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इन सुझावों को देनेवाले अपने देश तथा अपनी जनता से बहुत कम परिचय रखते हैं। वे यह बिल्कुल भूल जाते हैं कि इस्लाम भी हिन्दू धर्म पर विजय नहीं प्राप्त कर सका था। और न ही इस तथ्य की उपेक्षा की जानी चाहिए कि ज्यों ही ईसाइयत ने भारत में अपना कार्य प्रारम्भ किया, त्यों ही हिन्दू धर्म अपने अस्त्र-शस्त्रों से उसका मुकाबला करने के लिए तैयार हो गया था। ईसाई आक्रमण के विरोध में हिन्दू धर्म की ओर से ब्रह्मसमाज प्रथम प्रत्याक्रमणकारी था। और ज्यों ही ब्रह्मसमाज ने अपनी दुर्बलता के चिह्न प्रकट किये, आर्यसमाज अधिक शक्ति लेकर प्रकट हो गया।

सर हर्बर्ट रिसले जैसे आलोचना का भाव रखनेवाले विद्वान् तथा पर्यवेक्षक ने लिखा है कि भारत के प्रधान एवं विशिष्ट धर्म के रूप में हिन्दू धर्म की सर्वोच्चता को अभी तक गंभीरता के साथ कोई ख़तरा पैदा नहीं हुआ है। यह हो सकता है कि इस धर्म का भव्य रूप चला गया हो, तथा उसके अनेक अच्छे अवयव भी प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के पास चले गए हों, परन्तु मौलिक हिन्दू धर्मरूपी वस्त्र, जो अनेक प्रकार के धागों से बना है तथा जिसमें नाना प्रकार के रंगों का मिश्रण हुआ है, यथावत् रहेगा तथा आनेवाले युगों तक भारतीय मस्तिष्क की आध्यात्मिक बुभुक्षा शान्त करता रहेगा। सर रिसले आगे लिखते हैं—"प्राय: यह कहा गया है कि अंग्रेजी शिक्षा तथा भौतिक विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ हिन्दू धर्म की अधोगति के दिन निकट आएँगे तथा हिन्दुओं की नवीन पीढ़ी किसी भी प्रकार के मार्गदर्शन के अभाव में अज्ञेयवाद के अरण्य में भटकती रहेगी।"

aryasamajjamnagar.org

"यह न्यायोचित रूप से कहा जा सकता है कि जिस हिन्दू धर्म ने अपने प्रबल से प्रबल विरोधियों पर भी सफलता प्राप्त कर ली, वह विज्ञान का ग्रास बनकर समाप्त नहीं हो सकता। यदि यह धर्म अपनी दार्शनिक शिक्षाओं के कारण मनुष्य की बुद्धि को आकृष्ट करता है तो अपने सुखद दृष्टिकोण के कारण मनुष्य के हृदय एवं उसकी कल्पनाशक्ति को उत्तेजित कर उसकी भावनाओं को भी स्पर्श करता है। हृदय को उत्फुल्ल बनानेवाले भक्ति नामक इस भाव का मूल उत्स चाहे कुछ भी रहा हो, अब तो यह भाव हिन्दू धर्म की विशिष्ट

शिक्षाओं में अपना स्थान बना चुका है। और यह मानना ही होगा कि जो धर्म दर्शन तथा भावना—दोनों तत्त्वों पर समान रूप से आश्रित रहता है, वह तब तक तो स्थिर एवं टिकाऊ रहेगा ही, जब तक कि भारतीय मन:स्थिति में ही कोई आवश्यक परिवर्तन न आ जाय।''[१]

श्री बर्न ने भी यही बात कही है। उनके अनुसार लोगों की यह धारणा कि आर्य लोग ईसाई बनकर अपने अस्तित्व को समाप्त कर लेंगे, इस कल्पना पर आश्रित है कि हिन्दू धर्म एक अस्वस्थ एवं रुग्ण मत है, जब कि इस धारणा का तीव्र प्रतिवाद श्री ए०सी० लॉयल द्वारा किया जा चुका है। श्री लॉयल के अनुसार आर्यसमाज की विचारधारा प्रबुद्ध हिन्दू को अत्यधिक आकृष्ट करती है क्योंकि इसमें जिस दर्शन तथा विश्व-रचना-प्रक्रिया को स्वीकार किया गया है, वह उससे पूर्ण परिचित है। साथ ही आर्यसमाज ने जो वेदों को ईश्वरीय प्रेरणा से उद्‌भूत माना है तथा बहुदेववाद एवं मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में जो उसका रुख है, उससे भी वह अपरिचित नहीं है। एक बात और भी है। एक पुराणपंथी हिन्दू का ईसाइयत के प्रति दृष्टिकोण मात्र उपेक्षा का होता है, जबकि आर्यसमाज ने ईसाइयत के प्रति सक्रिय विरोध का रुख अपना रखा है तथा जिन लोगों ने ईसाइयत अथवा इस्लाम को स्वीकार कर लिया था, आर्यसमाज उन्हें पुन: शुद्ध करने के विशिष्ट उपाय भी करता है। इन कारणों से मुझे लगता है कि एक धर्मान्दोलन के रूप में आर्यसमाज में सफलता के तत्त्व विद्यमान हैं।[२]

aryasamajjankalyan.org

सभी योग्य तथा निष्पक्ष पर्यवेक्षक इस बात पर सहमत हैं कि निकट भविष्य में हिन्दू धर्म को ईसाइयत द्वारा उस स्थान से हटाए जाने का कोई खतरा नहीं है जो भारतीय धर्मों में उसे प्रमुख रूप से प्राप्त है। दूसरी ओर, ईसाई प्रचारक भारतवर्ष को ईसाई बनाने का जितना अधिक प्रयास करेंगे, उतना ही अधिक आर्यसमाज के सक्रिय होने, संघर्ष करने तथा आगे बढ़ने के आसार हैं। आर्यसमाज संघर्ष से भयभीत नहीं होते।

रेवरेंड सी०एफ० एण्ड्रूज़ के शब्दों में जो आर्यसमाज प्रारम्भ से ही अपनी धारणाओं और नीतियों में उग्र तथा आक्रामक रहा है, उसका सीधा

---

१. दी पीपल्स ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २४५-२४६

२. संयुक्त प्रदेश की जनगणना-रिपोर्ट—१९०१, पृष्ठ ९०

कारण यही था कि उसे ईसाइयत तथा इस्लाम जैसे दो आक्रामक सम्प्रदायों का विरोध कर उन्हें पराभूत करना था। विशेषत: ईसाइयत की प्रवृत्तियों में ज्यों-ज्यों वृद्धि होती गई, आर्यसमाज को भी उसका प्रतिवाद करने में उतना ही सक्रिय होना पड़ा। ईसाइयत के विगत इतिहास को देखकर हम यह सहज निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह सक्रिय होने से कभी नहीं चूका। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि आर्यसमाज की यह उग्रवादिता विनाशोन्मुखी नहीं है। आज उत्तर भारत में यह सर्वाधिक सशक्त सुधार-आन्दोलन है।[१] इसकी अधिक शक्ति इसके सक्रिय एवं रचनात्मक प्रचार-कार्यक्रमों में निहित है। आर्यसमाज के पास एक परिपूर्ण सामाजिक कार्यक्रम है तथा यह सदा सक्रिय रहता है। यहाँ यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि जब-जब आर्यसमाज विपत्तिग्रस्त हुआ, वह और शक्तिशाली होकर उभरा है। उसके इतिहास में सर्वाधिक संकट-पूर्ण स्थिति १९०७ में आई जब सरकार के द्वारा उसके अस्तित्व को खतरा पैदा कर दिया गया था। यह संकट-बेला १९१० तक चलती रही, परन्तु १९११ की जनगणना से यह विदित हुआ कि विगत १० वर्षों में उसकी सदस्य-संख्या दुगुनी हो गई है।

aryasamajjamnagar.org

आर्यसमाज उग्र तथा आक्रामक है; केवल बाह्य रूप से ही नहीं अर्थात् अन्य धर्मों के प्रति अपनें रवैये के कारण ही नहीं, अपितु वह आन्तरिक रूप में भी ऐसा ही है। उसके सदस्य एक-दूसरे के दोषों को क्षमा नहीं करते। यही कारण है कि इसके पत्र और वेदी प्राय: आन्तरिक कलह में उलझे रहते हैं। कम शिक्षित सदस्य अपने विरोधी पक्ष की आलोचना करते समय प्राय: शिष्ट भाषा का प्रयोग नहीं करते। यहाँ तक कि कभी-कभी अपने पक्ष की आलोचना भी उग्र रूप में की जाती है। परन्तु आर्यसमाज-पूर्व के दिनों में हिन्दू धर्म में उपेक्षा-वृत्ति तथा प्रवाहहीन स्थिरता के कारण जो जड़ता आ गई थी, उसकी तुलना में हमें इस लड़ाकू प्रवृत्ति का भी स्वागत करना चाहिए। एक अन्य संतोषजनक तथा आशाप्रद बात यह है कि बाहरी आक्रमण के समय आर्यसमाज के सदस्य अपने भेदों को भूलकर एक होना भी जानते हैं। जब कभी कोई भयंकर विपत्ति का सामना करना पड़ा है, आर्यसमाज उसका मुकाबला करने

---

१. 'दी इण्डियन रेनासाँ', सी०एफ० एण्ड्रूज, पृष्ठ १२२

के लिए तत्पर रहा है। एक ऐसी घटना १९०२ में घटित हुई जब कि ईसाइयों ने आर्यसमाज के एक प्रधान पर अनाथ हिन्दू लड़की के अपहरण का आरोप लगाकर उस पर अभियोग चलाया, जो अकाल के समय उसके संरक्षण में आई थी। ऐसा करके वे आर्यसमाज को प्रबल आघात पहुँचाना चाहते थे। लड़की विवाहित थी। दुर्भिक्ष के समय उनका घर नष्ट हो गया था तथा भोजन की तलाश में वे एक-दूसरे से विलग होकर भटक गए थे। लड़की एक ईसाई कार्यकर्ता के हाथ लगी, जिसने अन्ततः उसे शिमला के एक होटल की मालकिन के पास रख दिया, जो कि लड़की के कथनानुसार, उस पर अत्याचार करती थी। लड़की वहाँ से भाग गई और स्थानीय आर्यसमाज के प्रधान के घर में शरण ली। होटल की स्वामिनी ने पुलिस से शिकायत की, परिणामस्वरूप आर्यसमाज के प्रधान को गिरफ्तार कर लिया गया और ज़मानत पर छोड़ने से इन्कार करते हुए उसे कई दिनों तक हिरासत में रखा गया। अन्त में मुकद्दमा चला। पर्याप्त धन भी व्यय हुआ, परन्तु निर्णय आर्यसमाज के पक्ष में हुआ। आर्यसमाज के दोनों दलों ने उस अवसर पर मिलकर मोर्चा बनाया। पुनः १९०७ तथा १९१० की विपत्तिजनक परिस्थितियों में भी यही हुआ। परन्तु आर्यसमाजी परस्पर दोषारोपण के जिस दौर से गुज़र रहे हैं, वह उनके कार्यों का कोई उज्ज्वल एवं आनन्ददायी पहलू नहीं है।

aryasamajjamnagar.org

३. हिन्दू धर्म का भविष्य आर्यसमाज से बँधा हुआ है।

अनेक लोगों की सम्मति में आर्यसमाज का भविष्य ही व्यवहारतः हिन्दू धर्म का भविष्य है। आर्यसमाज वास्तविक तथा विशुद्ध वेद-प्रतिपादित हिन्दू धर्म का आख्यान करता है। वह हिन्दुओं के हित में कार्य करता है तथा विदेशी धर्मों के आक्रमण से हिन्दू समाज की रक्षा करता है।

आर्यसमाज के इतिहास में एक अचिरकालीन स्थिति ऐसी भी आई थी, जब हिन्दू धर्म से सर्वतोभावेन पृथक् हो जाने की प्रवृत्ति ने आर्यों में जन्म ले लिया था। परन्तु इसका एक प्रमुख कारण आर्यों का 'हिन्दू' शब्द के प्रति वितृष्णा-भाव था, क्योंकि उनके अनुसार यह शब्द विदेशी है तथा इसका अर्थ 'दस्यु' है। तथ्य की सिद्धि के लिए हमारे पास पंजाब के जनगणना-आयुक्त का निर्विवाद प्रमाण है। १९०१ की रिपोर्ट में श्री मैकलैगन के इस कथन पर कि एक दृढ़ आर्यसमाजी अपने को हिन्दू कहलाने पर आपत्ति प्रकट करता है,

अपनी टिप्पणी करते हुए वे लिखते हैं—"यह आपत्ति इस विदेशी शब्द 'हिन्दू' के निंदापूर्ण अर्थ पर निर्भर करती है जो कि उसे मुसलमानी युग में दिया गया। फिर भी, जनगणना के कार्यकर्ताओं को निर्देश देते समय आर्यसमाज के मुख्यालयों पर रहनेवाले अधिकारियों से जब पूछा गया कि क्या वे यह चाहेंगे कि उनकी गणना पृथक् धर्मावलम्बी के रूप में की जाय, अथवा नहीं, तो 'हिन्दू' शब्द के प्रति आपत्ति प्रकट करते हुए भी उनकी यह इच्छा नहीं थी कि उन्हें हिन्दुओं से पृथक् माना जाय। फलतः यह निर्णय लिया गया कि आर्यों को धर्म के रूप में अपने-आपको 'हिन्दू' ही लिखवाना चाहिए, तथा मत के रूप में वे अपने को आर्य अथवा वैदिक धर्मी लिखाएँ। यद्यपि आर्य लोग अपने-आपको किसी मत या पन्थ का अनुयायी नहीं मानते, फिर भी परन्तु यह मानते हुए कि 'हिन्दू' शब्द उन लोगों के धार्मिक तथा सामाजिक आचरण के लिए सार्वभौम रूप से प्रयुक्त होने लगा है जो अपने को हिन्दू कहते हैं, आर्यसमाज को एक 'मत' के रूप में स्वीकार करने के अलावा और कोई चारा भी नहीं था।"

aryasamajjamnagar.org

श्री बर्न लिखते हैं—यह सत्य है कि ब्राह्मण पुरोहित आर्यसमाज से घृणा करते हैं तथा उससे डरते हैं, परन्तु यह सत्य नहीं है कि पौराणिक हिन्दुओं का पठित वर्ग आर्यसमाज की शिक्षाओं से घृणा करता है अथवा उससे भयभीत है। यह भी असत्य है कि पठित हिन्दू आर्यसमाज की निंदा करने में सदा तत्पर रहता है।[१] तथापि वे यह स्वीकार करते हैं कि आर्यों का अधिकांश पठित वर्ग हिन्दुओं में से ही आया है तथा समग्रतः यह देखा गया है कि आर्यवाद अपठित एवं निम्न वर्ग के लोगों की अपेक्षा पठित उच्च वर्ग के लोगों को अधिक आकृष्ट कर सका है।[२] उनका यह वक्तव्य कि पौराणिक हिन्दू समुदाय के कट्टरपंथी आर्यों को सच्चा हिन्दू कभी नहीं समझते तथा यह कि कट्टर वर्ग के लोग आर्यों के हाथ का पानी भी ग्रहण नहीं करना चाहते,[३] सम्भवतः संयुक्त प्रान्त में हुए उनके अनुभवों के आधार पर किया हुआ अविचारपूर्ण साधारणीकरण है। यहाँ

---

१. संयुक्त प्रान्त की जनगणना की रिपोर्ट—१९११, पृष्ठ १३७-१३८

२. वही, पृष्ठ १३९

३. वही, पृष्ठ १३९

तक कि श्री बर्न को यह भी कहना पड़ा—"आर्य लोग पौराणिकों में अपना आधार जमाने के लिए यत्नशील हैं तथा यह भी कि जब पौराणिक हिन्दुओं को अपनी राजनीतिक आकांक्षाओं के अनुकूल दीख पड़ता है तो वे आर्यसमाज को हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय-विशेष मानने के लिए भी तैयार हो जाते हैं।"[१]

इस सम्बन्ध में पं० हरिकृष्ण कौल द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्तमान परिस्थिति का विवरण अधिक तथ्यपूर्ण है। वे लिखते हैं— "समय बीतने के साथ सनातनधर्मियों का आर्यसमाज के प्रति विरोध निरन्तर दुर्बल होता जा रहा है तथा शिक्षित हिन्दुओं के अधिकांश भाग में आए वैचारिक परिवर्तनों के कारण आर्यसमाज द्वारा किया गया प्रचार भी हिन्दू समाज द्वारा स्वीकृत कर लिया गया है। दूसरी ओर आर्यसमाज द्वारा की जानेवाली आलोचना की शैली में किंचित् नम्रता आई है तथा पौराणिक हिन्दुओं के कुछ रीति-रिवाजों के प्रति अधिक आदर दिखने लगा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि आज आर्यसमाज तथा पौराणिक समुदाय के बीच अधिक समन्वय दृष्टिगोचर हो रहा है। आज दोनों समाज—हिन्दू और आर्य—अनेक क्षेत्रों में मिलकर कार्य कर रहे हैं। उदाहरणार्थ, प्राचीन पर्वों को पुनरुज्जीवित करना, संस्कृत एवं हिन्दी के अध्ययन को प्रोत्साहित करना, नारी-शिक्षा का प्रचार करना तथा सामाजिक सुधारों को क्रियान्वित करना आदि।"[२]

aryasamajjammagar.org

इन पंक्तियों के लेखक की सम्मति में आर्यसमाज की इससे बढ़कर भव्य एवं ऊँची कामना अन्य कोई नहीं हो सकती कि उसकी सभी शिक्षाओं तथा उनमें निहित भावनाओं को हिन्दू धर्मानुयायी अपनी मानकर अपना लें।

पौराणिक हिन्दू धर्म के प्रति बढ़ती हुई उस मैत्री-भावना में आर्यसमाज की शक्ति निहित है, परन्तु साथ ही एक खतरा भी छिपा है कि कहीं सुधार के स्तर में गिरावट न आ जाए। हम यह कभी नहीं चाहेंगे कि हिन्दू धर्म के विशाल सागर में आर्यसमाज का अस्तित्व समाप्त हो जाय। हम चाहते हैं कि प्रथमतः हिन्दू धर्म के लिए, तत्पश्चात् अवशिष्ट संसार के लिए आर्यसमाज का अस्तित्व बना रहे, परन्तु उसका हिन्दू धर्म अथवा किसी अन्य धर्मवाद में

---

१. वही, पृष्ठ १४०

२. पंजाब की जनगणना रिपोर्ट—१९११, पृष्ठ १३४

विलीन हो जाना वस्तुतः पीड़ादायक होगा। उसकी स्वतंत्रता ही उसके अस्तित्व तथा उपयोगिता का घोषणा-पत्र है। आर्यसमाज के सदस्यों को हिन्दू समाज को सुरक्षा प्रदान करने के लिए अपना सर्वस्व होम देने में भी संकोच नहीं होगा। परन्तु जिस प्रकार एक अभिभाषक (वकील) की शक्ति उसके स्वतंत्र रहने में होती है, यद्यपि वह अपने मुवक्किल के कार्य की सिद्धि में अपने-आपको पूर्ण रूप से विलीन कर देता है, उसी प्रकार आर्यसमाज का स्वतंत्र व्यक्तित्व रखना नितान्त वांछनीय है। एक अन्य ख़तरे से भी हम आर्यसमाज को सावधान करना चाहते हैं। यह खतरा है अपने साधनों की सीमा को ध्यान में न रखकर संस्थाओं की अनाप-शनाप वृद्धि करते जाना। रेवरेंड सी०एफ०एण्ड्रूज की साक्षी के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्यसमाज के विस्तार की शक्तियाँ अपनी सीमा तक नहीं पहुँच सकी हैं, तथापि ठोस एवं सुरक्षित सरणि पर विकास तथा विस्तार के कदम बढ़ाते चलने के लिए यह आवश्यक है कि एक सीमा तक हम अपनी शक्तियों को केन्द्रित भी करें। अनेक आयोजनों को एक-साथ आरम्भ करना संकटकाल में दुर्बलता का प्रबल कारण बन सकता है। इससे उद्देश्य की एकता नष्ट होती है, प्रयोजन की समग्रता को क्षति पहुँचती है तथा सिद्धान्तों के जिस निष्ठाभाव के कारण आर्यसमाज अपनी शक्तिशाली प्रगति करता रहा है, उसे हानि पहुँचती है। प्राचीनकाल में जो बड़े-बड़े साम्राज्यों का विनाश हुआ है, उसके पीछे भी यही कहानी है। शक्ति का अनावश्यक विस्तार, अन्तरात्मा द्वारा निर्मुक्त भाव से मनुष्य की प्रवृत्तियों का संचालन, निर्बाध रूप से प्रसार पानेवाले परस्पर-विरोधी स्वार्थों को समन्वित करने की चेष्टा—यही वे बातें हैं जो साम्राज्यों को नष्ट करने में कारण बनी हैं। इसलिए यह सावधानी रखनी होगी कि उसी प्रकार का दोषपूर्ण संगठन, यदि उसे भली-भाँति सहेजा नहीं गया, तो वह आर्यसमाज के नन्हे-से जहाज को क्षति पहुँचा सकता है। अतः आर्यसमाज को पूर्ण शक्ति के साथ अपने घर को सुव्यवस्थित रखने का प्रयत्न करना चाहिए। आर्यसमाज के शत्रु बड़े चालाक तथा षड्यंत्रकारी हैं, इसलिये यह सम्भव है कि सामने की ओर से आक्रमण करने की अपेक्षा वे पार्श्ववर्ती आन्दोलन चलाकर आर्यसमाज को नष्ट करने अथवा दुर्बल बनाने की योजनाएँ बना सकते हैं।

aryasamajjamnagar.org

परस्पर का विश्वास, पारस्परिक सम्मान तथा आदर-भाव वह आधार है जिस पर आर्यसमाज के भवन का निर्माण हुआ है। सुनियंत्रित सामाजिक जीवन का प्रमुख सिद्धान्त कार्यप्रणाली, दृष्टिकोण तथा क्रियान्वयन पद्धति में समन्वय स्थापित करना है।

नियमित प्रगति के लिए एक सीमा तक कट्टरवादी दृष्टिकोण को अपनाने की भी आवश्यकता होती है। इस विश्वास को लेकर कि जीवन में हमारा एक निश्चित ध्येय है, यह मानकर कि हमारे समक्ष एक ऐसा कार्य है जो महान्, भव्य तथा ऊँचा है और हमें उसे पूरा करना है, इस विश्वास को लेकर चलना कि अपने लक्ष्य तक पहुँचने की इच्छा और क्षमता हममें है, विपत्तियों, बाधाओं तथा अवसर आने पर उत्पीड़ित होकर भी लक्ष्य तक पहुँचने का निश्चय, यह धारणा कि अतीत की भाँति भविष्य में भी हम कार्यपूर्ति हेतु तत्पर रहेंगे, अपने विश्वासों के लिए कष्ट झेलने की तत्परता और इन कष्टों को झेलकर अपने विश्वास की दृढ़ता को व्यक्त करने के लिए हमें सुदृढ़ कदमों से आगे बढ़ना होगा। व्यक्तिशः अपने सिद्धान्तों को त्यागे बिना हमें वे ख़तरे उठाने होंगे जिन पर काबू नहीं पाया जा सकता, परन्तु साथ ही हमें अपने संगठन के सामूहिक जीवन की भी सोत्साह रक्षा करनी होगी।

aryasamajjamnagar.org

आर्यसमाज का जीवन हमें किसी सदस्य तथा सदस्य-समूह के जीवन से भी अधिक प्रिय है, परन्तु इससे अधिक हमें प्रिय है आर्यसमाज का आदर्श— वह आदर्श, जो उसे प्रदान किया गया है, जो उसके संस्थापक के द्वारा उसे विरासत के रूप में प्राप्त हुआ है। आर्यसमाज के प्रवर्तक के जीवन में बहुत बड़ी सम्पत्ति अर्जित करने के अनेक अवसर आए थे, महान् तथा सम्पत्तिशाली धार्मिक संस्थानों के अध्यक्ष बनकर धनी बनने के अनेक मौके उन्हें मिले थे। वे यदि चाहते तो देश में विद्यमान विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के मुखिया भी बन सकते थे, परन्तु उन्होंने इन सभी प्रलोभनों को लात मार दी। यदि वे अपने साथ होनेवाले घृणा तथा द्वेष के व्यवहारों की उपेक्षा करते थे तो साथ ही वे प्रेम तथा सहानुभूति के भावों के वशीभूत नहीं होते थे। वे अपने शत्रुओं की संवेदना की ही सबसे कम परवाह करते थे। आर्यसमाज को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि संस्थाएँ तो लक्ष्यों की पूर्ति में साधन होती हैं। इन दोनों के विभेद को न समझना हिन्दू समाज की एक त्रुटि है। किसी सीमा

तक निश्चय ही, साधन भी साध्य रहते हैं, परन्तु न तो सदा ही ऐसा होता है और न पूर्णरूप में। आर्यसमाज को हिन्दुओं द्वारा की गई इस भूल की पुनरावृत्ति नहीं करनी है। उपर्युक्त क्षतिकारक भूल से बच निकलने की शक्ति हिन्दू धर्म में है। हिन्दू धर्म ने ही आर्यसमाज को उत्पन्न किया है। यदि आर्यसमाज उन लोगों के लिए एक शाश्वत लज्जा की वस्तु बन जाता है जिन पर दयानन्द के विचारों की छाप पड़ी थी, तो भी अन्य साधनों को अपनाकर अपने अस्तित्व की रक्षा करने की शक्ति हिन्दू धर्म में प्रचुर है। दयानन्द का सम्मान तो उनके शत्रु भी करते थे। इसीलिए उनके सम्बन्ध में एक उदार विचारोंवाले ईसाई प्रचारक ने लिखा है—

"दयानन्द के व्यक्तित्व और चरित्र के सम्बन्ध में प्रायः सर्वत्र निर्विशेष आदर की भावना पाई जाती है। वह अपनी मज्जा तक की आहुति देने को तत्पर रहा तथा अपने विश्वास के अनुसार ही उसने अपना जीवन जिया। वह एक योद्धा था— मजबूत, पौरुषवान्, स्वतंत्र तथा व्यवहार में पूर्ण स्वाभिमान का भाव लिये हुए। वर्षों तक अपने ही देशवासियों द्वारा नाना प्रकार से प्रपीड़ित होकर भी उसने इसका जिस साहस के साथ मुकाबला किया, वह उसे एक शूरवीर नायक की श्रेणी में बिठा देता है। वह सत्य का सुदृढ़ प्रेमी था।"[१] दयानन्द ने अपने चरित्र की छाप आर्यसमाज पर लगाई है। हमारी यह हार्दिक कामना है कि दयानन्द ऐंग्लो वैदिक कॉलेज के प्रशासकगण, जिनकी संस्था के साथ उस व्यक्ति का पवित्र नाम जुड़ा है, तथा गुरुकुल के संस्थापक तथा व्यवस्थापक लोग जिनका लक्ष्य स्वामी दयानन्द के चरण-चिह्नों पर अधिक सावधानी से चलना है, उपर्युक्त बातों को स्मरण रखें तथा स्वामीजी के आदर्शों के अनुरूप बनें। जब तक हम अपने भविष्य को गौरवशाली अतीत के अनुरूप नहीं बना लेते, तब तक विगत पर गर्व करना व्यर्थ है। भूतकाल की गरिमा हमें गर्व करना सिखा सकती है, किन्तु जीवित रहने के लिए वर्तमान में ही रहना होगा। ❑

aryasamajjamnagar.org

---

१. 'दी इण्डियन रेनासाँ', सी० एफ० एण्ड्रूज